विप्लव पुस्तक माला—१२

दिव्या

(बौद्धकालीन उपन्यास)

यशपाल

विप्लव-कार्यालय,
ल ख न ऊ.

[अगस्त १९४५]

[साढ़े तीन रुपये

प्रकाशक—
विप्लव कार्यालय,
लखनऊ.

प्रकाशक द्वारा सर्वाधिकार स्वरक्षित।

मुद्रक
बी० आर० भाटिया
मैक्सवैल प्रेस, लखनऊ

समर्पण-

तुमको.....

निरंतर पराभव और अभिशाप सहकर भी
जिसका जीवनदीप स्नेह से प्रज्वलित है—

यशपाल

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन	५
मधुपर्व	६
धर्मस्थ का प्रासाद	२२
प्रेस्थ	५८
आचार्य प्रवर्धन	७८
आत्मसमर्पण	८८
विकट वास्तव	१००
तात धर्मस्थ	१४०
दारा	१४५
अंशुमाला	१७१
सागल	२१८
पृथुसेन और रुद्रधीर	२३६
मल्लिका	२६१
दिव्या	२६७
शब्दार्थ	२७७

प्राक्कथन—

'दिव्या' इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। कला के प्रति अनुराग से लेखक ने काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थका रङ्ग देने का प्रयत्न किया है। चित्र में त्रुटि रह जाना सम्भव है। उस समय का हमारा इतिहास यथेष्ट प्राप्य नहीं। जो प्राप्य हैं, उस पर लेखक का अधिकार नहीं। अपनी यह न्यूनता जानकर भी लेखक ने कल्पना का आधार उसी समय को बनाया, कारण है :—उस समय के चित्रमय ऐतिहासिककाल के प्रति लेखक का मोह। सूक्ष्मदर्शी पाठक के प्रति इससे अन्याय हो सकता है, असंगति देख उन्हें विरक्ति हो सकती है।

अपने अतीत का मनन और मन्थन हम भविष्य के लिये संकेत पाने के प्रयोजन से ही करते हैं। वर्तमान में अपने आपको असमर्थ पाकर भी अपने अतीत में हम अपनी क्षमता का परिचय पाते हैं। इतिहास घटनाओं के रूप में अपनी पुनरावृत्ति नहीं करता। परिवर्तन का सत्य ही इतिहास का तत्व है परन्तु परिवर्तन की इस शृंखला में अपने अस्तित्व की रक्षा और विकास के लिये व्यक्ति और समाज का प्रयत्न निरंतर विद्यमान है। वही सब परिवर्तनों की मूल प्रेरक शक्ति है।

इतिहास का तत्व है, अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में व्यक्ति और समाज की रचनात्मक क्षमता का विश्लेषण। मनुष्य केवल परिस्थितियों को सुलझाता ही नहीं, वह परिस्थितियों का निर्माण भी

करता है। प्राकृतिक और भौतिक परिस्थितियों में वह परिवर्तन करता है, सामाजिक परिस्थितियों का वह स्रष्टा है।

इतिहास विश्वास की नहीं, विश्लेषण की वस्तु है। इतिहास मनुष्य का अपनी परम्परा में आत्मविश्लेषण है। जैसे नदी में प्रतिक्षण नवीन जल बहने पर भी नदी का अस्तित्व और उसका नाम नहीं बदलता, वैसे ही किसी जाति में जन्म-मरण की निरंतर क्रिया और परिवर्तन से वह जाति नहीं बदल जाती। अतीत में अपने रचनात्मक सामर्थ्य और परिस्थितियों के सुलझाव के अपने प्रयत्नों के परिचय से जाति वर्तमान और भविष्य के सुलझाव और रचना का निर्देशपाती है।

इतिहास के मन्थन से प्राप्त अनुभव के अनेक रत्नों में सबसे प्रकाशमान तथ्य है :—'मनुष्य भोक्ता नहीं, कर्ता है।' सम्पूर्ण माया मनुष्य की ही क्रीड़ा है। इसी सत्य को अनुभव कर हमारे विचारकों ने कहा था—'न मानुषात् श्रेष्ठतरंहि किंचित्!'

मनुष्य से बड़ा है—केवल उसका अपना विश्वास और स्वयम् उसकाही रचा हुआ विधान। अपने विश्वास और विधान के सम्मुख ही मनुष्य विवश अनुभव करता है और स्वयम् ही वह उसे बदल भी देता है। इसी सत्य को अपने चित्रमय अतीत की भूमि पर इस कल्पना में देखने का प्रयत्न है।

* * *

अपने ऐतिहासिक ज्ञान की न्यूनता को मैं स्वीकार करता हूँ। यदि लखनऊ, म्यूज़ियम के अध्यक्ष श्री वासुदेवशरण अग्रवाल Ph. D. और बम्बई-प्रिंस-ऑफ़-वेल्स म्यूज़ियम के पुरातत्व विभाग के

अध्यक्ष श्री मोतीचन्द Ph. D. का उदार सहयोग मुझे प्राप्त न होता, पुस्तक सम्भवतः असह्य रूप से त्रुटिपूर्ण होती। लखनऊ, बौद्धविहार के वयोवृद्धि, महास्थविर भदन्त बोधानन्द के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ। उनकी कृपा से बौद्ध-परिपाटि के विषय में जानने की सुविधा हुई।

बौद्ध-कालीन वेश-भूषा और वातावरण को हृदयंगम करने में विशेष सहायता अजन्ता और एलोरा की यात्रा से मिली। अजन्ता और एलोरा के कलाकारों के प्रति कलाप्रेमी संसार सदा आभारी रहेगा। परन्तु इस कला के दर्शन के लिये मैं अपने मित्र और चिकित्सक डा० प्रेमलाल साह का कृतज्ञ हूँ। बहुत समय से यह पुस्तक लिखने के लिये इस यात्रा का विचार था परन्तु कठिन समय में असुविधाओं के विचार से शैथिल्य और निरूत्साह रहा। डाक्टर ने घसीट कर कर्तव्य पूरा कराया। इसी से यह काल्पनिक चित्र पुस्तक का रूप ले पाया है।

सबसे अधिक-आभारी हूँ मैं अपनी प्रेरणा के स्रोत का जिसके बिना कला की साधना सम्भव नहीं।

विप्लव-लखनऊ
१६ मई १६४५,

यशपाल

अतीत के रूप-रंग की रक्षा के लिये कुछ असाधारण भाषा और शब्दों का प्रयोग आवश्यक हुआ है। इन शब्दों की अर्थसहित तालिका अन्त में देदी गई है। आवश्यकतानुसार उसका उपयोग किया जा सकता है।

प्रकाशक

मधुपर्व

कला की अधिष्ठातृ, राजनर्तकी देवी मल्लिका, अपनी युवा पुत्री रुचिरा के अकाल में काल कवलित हो जाने के कारण संतति वियोग में अधीर हो कला और समाज से विरक्त रहीं। उनके शोक से दो वर्ष तक शोकातुर और नीरस रह सम्पूर्ण सागल नगरी रात्रि में दीप हीन प्रदेश की भाँति निष्प्रभ बनी रही। देवी मल्लिका ने वीणापाणि देवी सरस्वती के सम्मुख कर्तव्य निष्ठा से अपना असह्य शोक सह मन को वश किया। उन्होंने चैत्र पूर्णिमा की संध्या मधुपर्व उत्सव के समय पुनः समाज में प्रवेश करने का निश्चय किया।

सागल के मनोहर और विशाल ताल 'पुष्करणी' में जल और तट पर जन लहरें ले रहा था। सूर्यास्त में अभी एक पहर शेष था परन्तु जहाँ तक दृष्टि जाती, जन समूह उमड़ता दिखाई देता। उस जन प्रवाह में उत्सव का मण्डप, वर्षाकाल की बाढ़ से दूर तक फैले नदी जल में शेष रह गये छोटे से द्वीप के समान जान पड़ता था। मण्डप कलशों, कदली स्तम्भों, तोरणों, वसंत आरम्भ में पल्लवित आम्र पत्र के बन्दनवारों और मंजरियों से सुसज्जित था। वातावरण अनेक प्रकार के पुष्पों, गन्धों और सुगन्धित धूम्रों से सुरभित था। सिर पर ऊँचे शिरस्त्राण

बाँधे, पीठ पर ढाल लटकाये, हाथ में भाला लिये राज पुरुष उत्सुकता से उमड़ते जन प्रवाह से मण्डप के मार्ग और मण्डप में गणपरिषद् के सदस्यों, सामन्तों, अभिजात वंशजों, अग्र श्रेष्ठियों, श्रेणि जेट्ठकों और कुलनारियों के स्थान की रक्षा कर रहे थे।

सूर्य के क्षितिज से उतर जाने पर सुश्री, सबल अश्वों से जुते भद्रगण के रथ और द्रुतगामी, सुन्दर वस्त्र धारण किये शिविका वाहकों के कंधों पर शिविकायें और अश्व जन प्रवाह के बीच सुरक्षित रखे गये मार्ग से मण्डप की ओर आने लगे। मण्डप के सोपान पर खड़े चारण तुरही बजाकर उनका स्वागत करते। गणपरिषद् के सदस्यों और विशिष्ट गण के मण्डप प्रवेश करने पर चारण उनके नाम, वंश और पद की घोषणा कर उनके लिये निर्दिष्ट आसन देने लगे। रथ, अश्व और शिविकायें आरोहियों को मण्डप द्वार पर छोड़, उनके चंवरधारी दासों और कंचुकियों सहित मण्डप के दक्षिण भाग की परिक्रमा कर पृष्ठ भाग में जा पंक्तिबद्ध खड़े होने लगे।

अभिजात पुरुष और कुल स्त्रियाँ पर्व के योग्य वस्त्राभूषण, अपने वर्ण और वंशस्थिति के अनुकूल धारण किये थे। ब्राह्मण स्वर्ण के तार से कढ़े लाल रेशम के उष्णीष से सिर के केशों को बांधे थे। उनके मस्तक और भुजा पर श्वेत चन्दन का खौर था। श्मश्रु मुण्डे हुये। उनके कण्ठ की मुक्ता मालाओं में कृष्ण रुद्राक्ष शोभित थे। कंधों से लहराते उत्तरीय के नीचे अस्पष्ट झलकती रेखा कटि से नीचे स्वच्छ अन्तरवासक पर पीत यज्ञोपवीत के रूप में प्रकट थी। कांछ लगे स्वच्छ अन्तरवासक पादत्राण को स्पर्श कर रहे थे। क्षत्रिय स्वर्णखचित शुभ्र वस्त्र धारण किये थे। ऊँची लम्बी नाक के नीचे मूँछें दो बिच्छुओं के डंकों की भाँति गालों की ओर चढ़ी हुयीं। उनके कानों, कण्ठ, भुजा और कलाइयों पर रत्न-जटित आभूषण थे। विस्तृत वक्षस्थल से सूक्ष्म कटि तक शरीर चुस्त अंगरखों में मढ़ा था। कटि से जानु तक

कांछ कसे अन्तरवासक और पाँव से जानु तक पिंडलियाँ पादत्राणों में कसी हुई। कटि से रत्नजटित मूठ के खड्ग झूल रहे थे। श्रेष्ठियों के वस्त्र बहु मूल्य परन्तु ढीले ढाले। गण परिषद के सदस्य कंधों पर आजानु केसरी कंचुक धारण किये थे। कुछ यवन सामन्तों के सिर पर चोटीदार टोपी, घुटनों तक ढीले ऊनी अंगरखे, पायजामे और पाँव में ढीले जूते थे। कुछ ने आर्य वेश अपना लिया था।

कुल स्त्रियों के प्रसाधन और वेश विन्यास में विशेष लालित्य था। मुक्ता लड़ियों द्वारा विविध प्रकार से गूँथे गये उनके केशों पर पुष्पों के अर्धचन्द्र किरीट शोभायमान थे। मस्तक, कान, कण्ठ, बाहुमूल, कलाई और अंगुलियाँ चन्द्रिका, तूलिका-लेखन, कुण्डल, हार, माला, अंगद, वलय और अंगूठियों से पूर्ण थे। उनके कंधों पर अनेक बल-खाये झीने उत्तरीय के नीचे, पीछे मेरुदण्ड पर कसे कंचुक-वस्त्र, सम्मुख वक्ष की ओर फैल, सुचिक्कण वर्तुलों में उभर आये थे। ऊपर पुष्ट वक्ष और नीचे नितम्ब। मध्य में डमरू-मध्य के समान कटि पर स्वर्ण की मेखलायें, रत्नजटित नीवीबंध से तीन लड़ियों में कटि, नितम्ब के मध्य और अधोभाग की परिक्रमा कर उनके वर्तुल आकार को स्पष्ट कर रही थीं। मेखला की लड़ियों में किंकणियां झूल रही थीं। मेखला-बंध से उनके शाटक मयूर पुच्छ के रूप में फैलकर आलक्ता-रंजित और आभूषणों से वेष्टित चरणों के नीचे बिछे आस्तरणों का स्पर्ष कर चरणों को प्रायः छिपाये थे। अनेक पुष्पों की सुगंध उनके आगे पीछे दूर तक फैल रही थी। प्रायः सभी यवन रमणियाँ आर्य स्त्रियों का वेश अपना चुकी थीं।

ऊपर आकाश में चैत्र की चाँदनी छिटक गई। वेदी के चारों ओर और मार्ग पर दीपदण्ड प्रज्वलित होगये। महाप्रतापी, धार्मिक, यवनराज मिलिन्द के राज्यकाल में मद्र साम्राज्य के महासेनापति वयोवृद्ध मिथोद्रस के गणपति का आसन ग्रहण करने पर मंगल वाद्य

और मगलाचरण आरम्भ हुआ। वेदी के सोपान पर खड़े चारण ने पुनः तूर्यनाद कर घोषणा की—"कलाकी अधिष्ठातृ नगरश्री, राजनर्तकी देवी मल्लिका सभास्थल में पधार रही हैं।"

जनसागर इस घोषणा के झंझावात से तरंगित हो उठा। जनसमूह की ग्रीवायें उठ गईं और दृष्टि मार्ग के पश्चिम छोर की ओर चली गयीं। दीपदण्डधारी अश्वारोहियों के पीछे रथ चले आरहे थे और रथों के पीछे फिर दीपदण्डधारी अश्वारोही। रथ शीघ्र ही मण्डप के समीप जन प्रवाह में आ पहुंचे। सब ओर से कला की देवी, नगरश्री देवी मल्लिका का जय घोष होने लगा। यत्न से रखे पुष्पों और मालाओं की वर्षा मल्लिका के रथ पर होने लगी। अधिकांश पुष्प और मालायें रथ का स्पर्ष कर मार्ग पर गिर जाते। कुछ पुष्प और मालायें रथ के भीतर पहुँच पुष्पों के अम्बार पर गिर फिसल कर नीचे आजाते। मल्लिका कृतज्ञता पूर्ण नेत्रों से कर जोड़े, स्मित वदन, मस्तक नवा, दृष्टि की पहुँच तक फैले उद्वेगित नरमुण्डों के सागर का अभिवादन स्वीकार कर रही थी। मण्डप में प्रवेश कर नर्तकी ने विशिष्ट पुरुषों का आदर ग्रहण किया और गणपति के समीप आसन पर बैठ गई। उसके रथ के पीछे छः रथों पर उसकी विशिष्ट शिष्यायें कला की प्रतियोगिता में भाग लेने आई थीं।

चारणने पुनः तूर्य बजाया। मंगल वाद्य रुक भेरी बजने लगी। नृत्य संगीत से पूर्व तक्षशिला और मगध से शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा पूर्ण कर आये युवकों के शस्त्र कौशल की प्रतियोगिता का कार्य-क्रम था। इस प्रतियोगिता के आधार पर ही अभिजात युवक मद्रगण की सेना में पदों के अधिकारी होते थे। चारण ने घोषणा की—"धर्मस्थ महापण्डित देवशर्मा के पौत्र आयुष्मान विनय शर्मा, महासामन्त सर्वार्थ के पुत्र आयुष्मान इन्द्रदीप, गण संवाहक आचार्य प्रवर्धन के पुत्र आयुष्मान वसुवीर, गण-पूरक सामन्त कार्त्तवीर के पुत्र आयुष्मान

सकृद, महाशाल समर्थक के पुत्र आयुष्मान वृष्णेश और महाश्रेष्ठि प्रेस्थ के पुत्र आयुष्मान पृथुसेन।"

छः युवक सैनिक वेश में शरीर पर वर्म और सिर पर शिरस्त्राण पहने, कंधे पर धनुष-तूणीर बांधे, कमर से खड्ग लटकाये, हाथ में भाला लिये वेदी पर आये। गणपति और मद्रगण राज्य के महासेनापति वयोवृद्ध मिथोद्रस के आसन के सम्मुख उपस्थित हो नासिका के सम्मुख अपनी खड्ग कर, मस्तक झुका उन्होंने निवेदन किया—"मद्र के गण राज्य की सागल नगरी का निवासी मैं अमुक नाम, अमुक पुत्र, शस्त्र-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर मद्रगण राज्य की सेवा के लिये प्रस्तुत हूँ। गण मेरी योग्यता की परीक्षा कर, मुझे सैनिक-सेवा कार्य में मेरे योग्य पद प्रदान करे।"

गणपति ने युवकों को लक्ष-बेध की परीक्षा के लिये सावधान होने का आदेश दे, सेवा में उपस्थित सैनिक को संकेत किया। युवकों के धनुषों पर बाण खिंचे हुये थे। सैनिक ने मण्डप के वितान की ओर अनेक रंग के कंदुक उछालने आरम्भ किये। जन समूह कठिन लक्ष-बेध के प्रति कौतुक से और लक्षभ्रष्ट बाण की आशंका से सिहिर उठा। युवकों ने अनेक कंदुकों को अधर में ही बेंध दिया। सेनापति ध्यान से देख रहे थे—कौन युवक कितने बाणों से कितने कंदुकों को बेंधता है। महासेनापति ने हाथ उठा लक्षबेध परीक्षा समाप्त होने का संकेत किया।

महासेनापति ने युवकों को कवच उतार अपने विशेष भरोसे का एक शस्त्र चुन लेने की आज्ञा दी। आयुष्मान इन्द्रदीप और विनय शर्मा ने भाले लिये और शेष युवकों ने खड्ग। महासेनापति ने निर्देश किया—"प्रत्येक आयुष्मान शेष युवकों को आक्रमणकारी मान अपनी रक्षा करता हुआ आक्रमणकारियों को घायल करे।" उन्होंने चेतावनी दी—"घायल करने का अर्थ गहरा आघात करना नहीं। कोई युवक किसी

प्रकार की अभिसन्धि या पक्षपात का व्यवहार न करे। यह दोनों कार्य गणराज्य के धर्मास्थान द्वारा अपराध रूप में दण्डनीय होंगे।"

उत्तरीय वायु में हिला कर महासेनापति ने युद्धारम्भ का संकेत किया। मण्डप में अनेक विद्युत शिखायें चमक गयीं। और फिर छः युवक छः स्थानों पर आक्रमण के लिये पीठ को धनुषाकार किये, नख और दाँत निकाले व्याघ्रों की भाँति काँप रहे थे। प्रत्येक की दृष्टि सब ओर थी। उनके हाथ के शस्त्र क्षणभर के लिये वितान के नीचे प्रकाश की रेखायें सी कौंधा कर पुनः कम्पित दीप शिखा की भाँति उनके हाथों में स्थिर हो जाते। विशाल जन समूह स्तब्धश्वास, आँखें फैलाये योद्धाओं की सूक्ष्मतम गति और इंगित के प्रति सतर्क था। रह रहकर वे झपटते। दर्शकों के शरीर कण्टकित हो उठते। योद्धाओं के स्थान बदल जाते और वे मन्द वायु से स्फुरित दूर्वा तृणों की भाँति कांपते रह जाते। कुछ ही क्षण में उनकी तनी हुई ग्रीवा, वस्त्र रहित भुजदण्ड, लोमपूर्ण वक्षस्थल और गहरी पीठ पर स्वेद बिन्दु छलक कर धारायें बह निकलीं। उनके शरीर पर कई स्थानों में लाल रेखायें फूट कर रक्त बह गया। स्वेद में मिले रक्त के फैल जाने से उनके शरीर गेरू से पुते जान पड़ने लगे।

महासेनापति के संकेत से चारण ने तूर्य बजा युद्ध कौशल समाप्त होने का संकेत किया। युवक परीक्षा के लिये महासेनापति के आसन के सम्मुख उपस्थित हुये। आयुष्मान सकृद और पृथुसेन के शरीर पर केवल दो रक्तचिह्न थे। आयुष्मान वृष्णेष के शरीर पर तीन और शेष युवकों के शरीर पर चार-चार।

गण परिषद के सदस्यों से परामर्श कर महासेनानी बोले—"गण परिषद और जन सुनें। आयुष्मान सकृद और पृथुसेन ने शस्त्र संचालन में विशेष कौशल प्रकट किया। सदस्यों के विचार में पृथुसेन का ही स्थान प्रथम होता परन्तु आयुष्मान ने अपने वाम पक्ष में अनेक व्यर्थ प्रहार कर अपनी शक्ति का अपव्यय किया। आयुष्मान पृथुसेन में सतर्कता की इस

न्यूनता के कारण गण सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी का सम्मान आयुष्मान सकुद को देता है।" श्वेत पुष्पों और हरित किसलय से बने मुकुट की ओर संकेत कर उन्होंने कहा—"नगरश्री, देवी मल्लिका की शिष्याओं में जो युवती कला की प्रतियोगिता में 'सरस्वती-पुत्री' का सम्मान प्राप्त करेगी वही अपने हाँथों यह मुकुट सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी को प्रदान करेगी।"

चारण के शंखनाद करने पर जन समूह में आनन्दोल्लास से जय का कोलाहल उठ खड़ा हुआ। युवक अभिवादन कर वेदी के नीचे आ गये। परन्तु आयुष्मान पृथुसेन महासेनापति के आसन के सम्मुख खड़ा रहा। खड्ग नासिका के सम्मुख रख, मस्तक झुका पृथुसेन ने प्रार्थना की—"मैं महाश्रेष्ठि प्रेस्थ का पुत्र पृथुसेन परम भट्टारक गणपति के सम्मुख निवेदन की आज्ञा चाहता हूँ।"

महासेनानी की जिज्ञासापूर्ण दृष्टि के उत्तर में उसने निवेदन किया—"मैं पृथुसेन परम भट्टारक गणपति की आज्ञा से गण के विचारार्थ निवेदन करता हूँ। अपने वामपक्ष में व्यर्थ प्रहार कर मैंने अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं किया। गणपति और सदस्य देखें, मैंने केवल पाँच शत्रुओं का नहीं अपितु कदली स्तम्भ के रूप में, छठे शत्रु का भी सामना किया है। महासेनापति की अनुमति से मैं दिखाना चाहता हूँ।" मण्डप की वाम दिशा में, स्तम्भ के समीप जा, उसके आश्रय खड़े कदली वृक्ष को पृथुसेन ने हिला दिया। कदली स्तम्भ खण्ड-खण्ड हो गिर पड़ा। इस अपूर्व खड्ग-कौशल और हस्त-लाघव की प्रशंसा में जन समूह से साधुवाद के उल्लास का रव उठ खड़ा हुआ। विनय से मस्तक झुका पृथुसेन ने महासेनानी को सम्बोधन किया—"देव, इस शत्रु का भी मैंने पराभव किया है। मैं देव का निर्णय चाहता हूँ।"

विस्मय के उच्छ्वास में अपने आसन से उठ, पृथुसेन के कंधे पर हाथ रख महासेनापति बोले—"मेरे निर्णय में भूल थी। आयुष्मान

पृथुसेन सागल का सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी है ' जन समुदाय उल्लास से पुनः हिलोर उठा।

गण-परिषद की पंक्ति में से गण-संवाहक आचार्य प्रवर्धन ने उठकर आपत्ति की—"परिषद के सदस्य विचार करें, क्या गणपति को एक बेर दिया निर्णय परिवर्तित हो सकता है ?'

गण-परिषद के सदस्य, विशिष्ट समाज और जन समूह विस्मय और आशंका से मौन आचार्य की ओर देखने लगे। अपना आसन ग्रहण करने से पूर्व वयोवृद्ध महासेनापति ने ऊर्ध्वबाहु हो विशिष्ट गण और जन को सम्बोधन किया—"गणपरिषद, सामन्तगण, अभिजात कुल और सागल का जन समाज महापण्डित गण-संवाहक आचार्य प्रवर्धन की आपत्ति सुनें और विचार करें। मेरी परख में जो भूल हुई उसे मैं स्वीकार करता हूँ। वृद्धावस्था के कारण मेरे नेत्रों की ज्योति मन्द हो चुकी है। यदि गण को मुझ पर विश्वास है तो भ्रान्ति मार्जन का अवसर मुझे दें।"

गण-परिषद के सदस्य और विशिष्ट जन अवाक परस्पर प्रश्नात्मक दृष्टि से देखने लगे और जन समूह उत्सुकता से विशिष्ट समाज की ओर। महासेनापति अपने आसन के समीप वेदी पर खड़े रहे। उन्होंने पुनः सम्बोधन किया—"गण-परिषद निर्णय करे, उन्हें मेरे भ्रान्ति मार्जन करने में आपत्ति है ?"

सभी ओर अस्वीकृति के संकेत में सिर हिलते देख महा सेनापति ने पुनः घोषणा की—"मैं मद्रगण की परिषद का गणपति मिथोद्रस, महा-सेनापति की स्थिति में दिये गये अपने निर्णय में महासेनापति की स्थिति से किये गये मार्जन को स्वीकार करता हूँ। जिस आयुष्मान को आपत्ति हो, प्रकट करें !" सब ओर मौन देख उन्होंने पुनः आसन ग्रहण किया। जन समूह ने एक अस्पष्टगुंजन द्वारा अपना संतोष और अनुमति प्रकट की।

पुनः चारण का तूर्य बजा और वेदी से अनेक प्रकार की वीणाओं, वंशियों, मुरजों, कांस्यतालों और मृदंगों की ध्वनि उठने लगी। यह

नृत्य संगीत आरम्भ होने की सूचना थी। वाद्यों के स्वर मिल जाने पर शिष्यारूपी उडुगण के मध्य चन्द्र के समान सुशोभित हो मल्लिका ने कोकिल विनिन्दित स्वर में श्यामकल्याण का आलाप उठाया। आलाप के पूर्ण हो जाने पर स्थायी और अंतरा में उसकी शिष्याओं ने सहयोग दे सभा स्थल को गुंजा दिया। देवी मल्लिका मूर्तिमान राग के रूप में अपनी किसलय-कोमल अंगुलियों और मृणाल-बाहुओं से संगीत के आरोहावरोह को इङ्गित कर रही थीं। शिष्याओं के कण्ठ और वादकों के यंत्र से निकली ध्वनि और जन समूह का श्वास उस इङ्गित का अनुसरण कर रहे थे। सभास्थल घनीभूत संगीत की लहरों से भर गया। राग समाप्त हो जाने पर भी जन समूह मंत्र मुग्ध; सहस्र शीर्ष शेषनाग की भाँति स्तब्ध और एक प्राण बना रहा।

वाद्य अब षाट्जी के स्वर बजा रहे थे। मल्लिका के संकेत से मादुलिका ने आलाप आरम्भ किया। मादुलिका के पश्चात् कुसुमसेना और उसके पश्चात् दिव्या ने। इसके पश्चात् नर्तकी वसुमित्रा ने अपने समाज सहित गायन किया। आत्मविस्मृत जन स्वर द्वारा उत्पन्न भाव की लहरों में बहा जा रहा था।

देवी मल्लिका ने आसन से उठ, जनका अभिवादन कर कृतज्ञता से मृदु स्वर में सूचना दी—"कलाविद समाज अनुमति दे तो संगीत समारोह समाप्त कर नृत्य आरम्भ किया जाय!"

मंत्र के सम्मोहन से मुक्त हो सभा ने अपने श्वास की अवरुद्ध गति को स्वतंत्रता दी। दीप-दण्डधारियों ने अपने दीपों में यथेष्ट तेल देने का अवसर पाया। तेल के अभाव से दीप मन्द हो गये थे परन्तु संगीत की मधुर मूर्छा में विस्मृत जन प्रकाश की न्यूनता अनुभव न कर पाया।

वेदी उज्ज्वल प्रकाश से दीप्त हो गई। वाद्यों के स्वर बदल गये। मल्लिका शिष्याओं के मध्य में वेदिका पर आई। जन के अपलक नेत्र उस ओर केन्द्रित हो गये। रास नृत्य आरम्भ हुआ। आकाश-गंगा में

भंवर आ गया। इसके पश्चात् का नृत्य एक रूपक था। मल्लिका मेघराज मघवा की भूमिका में थी और उसकी शिष्यायें वर्षा के लिये आकुल पृथ्वी, मर्त्यलोक के प्राणि मनुष्य, जीव-जन्तु और वनस्पति की भूमिका में।

शिष्याओं ने आराध्य देव इन्द्र को केन्द्र बना, भाव-भंगी द्वारा वर्षा के लिये प्रार्थना की। मेघराज रौद्र मुद्रा में अद्रवित रहे। याचकों ने लावण्य के संयोग से करुणा का अदमनीय उद्रेक कर अपने अनुनय को अनुपेक्षणीय बना दिया। इन्द्र द्रवित हो बरस पड़े। धरती माता अपनी संतति सहित विभोर हो उठीं। जन समूह अपनी सम्पूर्ण चेतना कला की ग्राहकता में अर्पण कर अपलक, अवाक और मुक्त श्रोष्ठ रह गया।

दर्शकों को क्षण भर के लिये प्रकृतिस्थ होने का अवसर दे, मादुलिका ने इस पर्व के लिये तैयार किया विशेष नृत्य 'अभिसारिका की यात्रा' प्रस्तुत किया। कुसुमसेना ने 'उर्वशी का प्रणय निवेदन' और अन्त में दिव्या ने 'मराली का आत्म समर्पण' नृत्य किया। मल्लिका उत्सव के एक पक्ष पूर्व से ही दिव्या को नृत्य की मुद्राओं और वादकों को संगीत की मूर्छनाओं का अभ्यास करवा रही थी।

दिव्या हिम श्वेत वस्त्रों में वेदी पर आई। उसकी कोमल, सुगोल बाहुओं से झीने, श्वेत उत्तरीय के छोर मराली के पंखों के रूप में लटक रहे थे। मराली खोज की मुद्रा में उद्विग्न और चिन्ता-शील थी। नेपथ्य से राजहंस का ऋतुकालीन आह्वान सुनाई दिया। टोह पाकर मराली उत्साहित हो उठी। उत्साह और उमंग से पर फड़फड़ा कर वह आह्वान की दिशा और स्थान खोजने के लिये चली और वधिक के जाल में फँस गयी।

राजहंस का प्रत्येक आह्वान उसकी व्याकुलता उग्र कर रहा था। क्लान्त हो, उसकी मुद्रा में नैराश्य और अवसाद प्रकट होने लगा। वह निराशा के विरुद्ध मुक्ति के लिये संघर्ष करने लगी। उसका संघर्ष असफल रहा। राजहंस का स्फूर्तिदायक आह्वान मर्मान्तक वेदना का

कारण बन गया। उसकी ग्रीवा निराशा भरे प्रयत्नों में उठ-उठ कर रह जाती। उसके पंख फड़फड़ा कर रह जाते।

राजहंस की भूमिका में स्वयम् मल्लिका प्रकट हुई। मराली को बाँधे जाल की उपेक्षा कर राजहंस मराली के समीप कूद गया। मराली विभोर हो उठी। राजहंस भी बंध गया। परन्तु किल्लोल उन्मत्त हो उन्होंने बंधन की चिंता न की। वे मधुर शैथिल्य में आत्मविस्मृत हो बन्धन से निरपेक्ष थे। अनेक-हंस शावक उस मराल-मिथुन से उड़-उड़ कर चारों दिशाओं में फैलने लगे।

उत्साहित जन समूह के उत्साह भरे साधुवाद से आकाश गूंज उठा। असंख्य मुखों के उन्मुक्त उच्छ्वास के वायु से मण्डप का वितान हिलोरने और दीप-दण्डों की ज्वालायें काँपने लगी।

मण्डप के समीप ही साधारण जन के समूह से कषाय चीवरधारी एक भिक्षु ने ऊर्ध्व बाहु खड़े हो, गम्भीर स्वर में जन को उद्बोधन किया—"बुद्धिमान जन देखें और जानें। माया के बंधन में जीव को इसी प्रकार सुख की मिथ्यानुभूति का भ्रम होता है।"

आदर और साधुवाद ग्रहण करने के लिये अपने आसन पर खड़ी मल्लिका ने निरुत्साह से भिक्षुक की ओर देखा। गण-परिषद, विशिष्ट अतिथि और जन विस्मय से भिक्षु की ओर देख रहे थे। उस स्तब्धता में ऊँचा स्वर सुनाई दिया—"भन्ते, दुख की भ्रांति में भी जीवन का शाश्वत क्रम इसी प्रकार चलता है। वैराग्य भीरु की आत्म-प्रवंचना मात्र है। जीवन की प्रवृत्ति प्रबल, और असंदिग्ध सत्य है!"

सभास्थल अट्टाहास्य से गूंज उठा। मल्लिका और समाज ने देखा, उत्तर देने वाला सागल का सर्वश्रेष्ठ मूर्तिकार, नास्तिकता और अनैतिकता के प्रतिपादन का अपवाद पानेवाला, श्रेष्ठि उपासक पुष्यकान्त का पुत्र युवक मारिश था।

कला की अधिष्ठातृ देवी मल्लिका के निर्णय और परिषद की अनु-

मति से 'सरस्वती-पुत्री' का पुष्प-किरीट वयोवृद्ध गणपति ने धर्मस्थ महा-पण्डित देवशर्मा की प्रपौत्री, आयुष्मती कुमारी दिव्या को भेंट किया और कुमारी दिव्या ने सर्व श्रेष्ठ खड्गधारी का पुष्प-मुकुट कुमार पृथुसेन को। दोनों ही पुरस्कार विजेता अपनी कला के वेश में साधारण नागरिकों से भिन्न, अपनी कला के प्रतिरूप मात्र जान पड़ रहे थे। कुमारी दिव्या शुभ्र वायवीय, श्वेत उत्तरीयों में मराली का प्रतिरूप और कुमार पृथुसेन, नासिकाग्र और कंधों तक छाये शिरस्त्राण और वर्म में शस्त्र, शक्ति की मूर्ति की भाँति।

चारण ने उत्सव विसर्जन का तूर्य बजा दिया। रात्रि के दो पहर बीत जानेपर भी जनता श्रांति अनुभव न कर विश्राम के लिये व्याकुल न थी। पूर्ण चन्द्र चैत्र के स्वच्छ, ताराकीर्ण आकाश में अपनी दिशा में चला जा रहा था। विराट जन समूह दीपदण्डों के प्रकाश की उपेक्षा कर, मल्लिका और योद्धाओं के मार्ग के दोनों ओर टूट पड़ा। राज-पुरुष कठिनता से मार्ग की रक्षा कर रहे थे।

सागल की प्रथानुसार 'सरस्वती-पुत्री' का सम्मान पानेवाली युवती को पुष्पों से आच्छादित शिविका अभिजात वंश के युवक अपने कंधों पर युवती के गृहद्वार तक ले जाते थे। कुमारी दिव्या अपने प्रपितामह, पितृव्यों, भाइयों और सम्बन्धियों से आशीर्वाद और स्नेह पा, संकोच से शिविका पर बैठ गई। अभिजात वंश के युवक उसकी शिविका के दण्डों की ओर बढ़े। चार दण्डों में सोलह से अधिक कंधों के लिये स्थान न था।

शिविका के पिछले दण्ड में पहिले से कंधा दिये पृथुसेन को धकेल, कुमार वसुधीर ने स्थान लेना चाहा। पृथुसेनने अपना स्थान न छोड़ने का आग्रह किया।

गण-परिषद के संवाहक आचार्य प्रवर्धन के पुत्र वसुधीर के ज्येष्ठ,

आयुष्मान रुद्रधीर ने ललकारा—"दास पुत्र को अभिजात वंश के युवकों के साथ शिविका में कंधा देने का अधिकार नहीं।"

शिविका के चारों ओर अनेक खड्ग कोषों से निकल आये। पृथुसेन ने भी कटि से खड्ग खींच, पैंतरे से खड़े हो उत्तर दिया—"मेरे अधिकार का निश्चय मेरा खड्ग करेगा।"

अनेक वयोवृद्ध गुरुजनों के बीच में आ वारणा और भर्त्सना करने से अधिक विशृंखला और रक्तपात न हो पाया। 'सरस्वती-पुत्री' की शिविका देवी मल्लिका के रथ के सम्मुख, जनता के जयजयकार के कोलाहल के बीच, अभिजात वंशीय युवकों के कंधों पर, मुण्ड-प्रवाह के ऊपर, क्षुब्ध प्रवाह में दोलायमान नौका की भाँति, डगमगाती नगर की ओर चली गई।

कुमार पृथुसेन घायल व्याघ्र के समान क्रोध से कांपता, कुछ समय तक चन्द्र के उग्र प्रकाश में अपने अश्व रत्नक के समीप खड़ा रहा। हृदय में प्रज्ज्वलित क्रोध की अग्नि का धुआं मस्तिष्क में घुट जाने के कारण वह क्षुब्ध और विह्वल हो उठा :—जन्म का अपराध ? यदि वह अपराध है, तो उसका मार्जन किस प्रकार सम्भव है ? शस्त्र की शक्ति, धन की शक्ति, विद्या की शक्ति कोई शक्ति जन्म को परिवर्तित नहीं कर सकती। कोई शक्ति जन्म के अपराध का मार्जन नहीं कर सकती। जन्म के अन्याय का प्रतिकार क्या मनुष्य दैव से ले ?·····या उससे ले जिसने अपने स्वार्थ के लिये जन्म के असत्य अधिकार की व्यवस्था निर्धारित की है ?·····हीन कहे जाने वाले कुल में मेरा जन्म अपराध है ? अथवा द्विज कुल में जन्मे अपदार्थ लोगों का अहंकार ?

मन में उछलती घृणा और प्रतिहिंसा के लिये मार्ग न पा, क्रोध में दाँतों से होठ दबाये, समूह से बचता वह अपने प्रासाद की ओर चला गया।

धर्मस्थ का प्रासाद

मनुष्य समाज समय की नदी के तट पर स्थित वन के समान है। समय की नदी में आने वाले प्लावन इस वन की भूमि को उर्वरा करते रहते हैं। इसी प्रकार सागल के नगर समाज में परिवर्तन के अनेक प्लावन आये और भावनाओं और अनुभूतियों के उर्वरा स्तर समाज की भूमिपर छोड़ गये। सागल के उस समाजरूपी वन में वयोवृद्ध, महापण्डित, धर्मस्थ देवशर्मा कालांतर से उपस्थित महान वट वृक्ष के समान थे। उनके केश, श्मश्रु और भृकुटी ही नहीं, शरीर के लोम भी श्वेत हो गये। बीतते समय ने उनके शरीर का सत्व शोषण कर उसे जर्जर कर दिया। परन्तु अनुभूति के मूल तंतुओं द्वारा सौ वर्ष से अधिक समय तक, समाज की भूमि से अनुभव का रस ग्रहण कर, उनकी भावना सजग और प्रबल रही।

महापण्डित के यौवन काल में महाप्रतापी यवनराज मिलिन्द ने दुर्धर्ष यवन सेना ले मद्र से पौरववंश के राज्य का उच्छेदन कर, अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। पण्डित देवशर्मा की विद्वत्ता और बुद्धि के आदर में महाराज मिलिन्द ने, उनके पिता पौरव राज्य के धर्मस्थ, महापण्डित वागीश शर्मा का स्वर्गवास होने पर, उन्हें धर्मस्थ का पद

सौंग। वर्णाश्रम धर्म की नीति, प्रथा और व्यवस्था में यवन पद्धति का संपुट दे, उन्होंने अनेक वर्ष तक न्यायकी व्यवस्था की। प्रचण्ड प्रतापी मिलिन्द की तथागत के धर्म-चक्र में आस्था होजाने पर उन्होंने न्याय को सर्वभूत दया और मानवता की भावना से अनुप्राणित होते देखा। उनके ही जीवन काल में महाराज धार्मिक मिलिन्द राजपाट त्याग, प्रव्रज्या ग्रहण कर, निर्वाण पथ के पथिक हुये। महाराज मिलिन्द के उत्तराधिकारीहीन होने से मद्र में कुलों के गण-राज्य की व्यवस्था हुई और महापण्डित देवशर्मा नयी परिस्थिति में, धर्मास्थान के आसन से न्याय की व्यवस्था करते रहे।

महापण्डित की तीन स्त्रियों से तीन पुत्र उत्पन्न हो, दो जीवित रहे। इन दोनों पुत्रों से चार पौत्र हुये और तब सबसे ज्येष्ठ पुत्र से प्राप्त, ज्येष्ठ पौत्र की स्त्री ने एक प्रपौत्री को जन्म दिया। जैसे शुक्लपक्ष की प्रतिपदा की संध्या में, सूर्य का प्रकाश रहते भी नव चन्द्र की रेखा का उदय म्लान नहीं होता, प्रकाश का वह अंकुर क्षीण होकर भी दिव्य चन्द्रिका का आश्वासन लिये रहता है, उसी प्रकार धर्मस्थ के पुत्र-पौत्र से समृद्ध और सम्पन्न कुल में कन्या का जन्म उल्लास का कारण हुआ। उसके उज्ज्वल भविष्य के विश्वास से उसे दिव्या पुकारा गया। चन्द्र की कलाओं की भाँति दिव्या दिन-दिन देदीप्यमान होती गई। दुर्भाग्य से दिव्या के पितामह और पिता-माता, तीनों ही किसी दैवी प्रकोप से व्याधि द्वारा अकाल में कालकवलित होगये। उन तीनों के ही भाग का स्नेह ले, दिव्या प्रपितामह के समीप अत्यन्त वत्सल होगई।

बहुदृष्टा, उदार, महापण्डित धर्मस्थ का प्राचीर और उद्यानों से वेष्टित, दास-दासियों से सेवित, सम्पन्न प्रासाद विद्या और संस्कृति का केन्द्र था। श्रुति-स्मृति, दर्शन, न्याय और तर्क का मन्थन वहाँ वर्णाश्रम नीति के पण्डितों, यवन दार्शनिकों और बौद्ध भिक्षुओं द्वारा मत् निर्णय और गोष्ठी-सुख के लिये निरंतर होता रहता।

उस प्रासाद में सुरा और सुन्दरी के व्यसन की अपेक्षा ज्ञान और तर्क का अनुराग अधिक प्रबल था। युक्ति और तर्क की लहरों में अतिथि, रजत आधारों पर स्फटिक के चषकों में कापिशायिनी सुरा लिये सम्मुख खड़ी श्याम और पिंगल दासियों को भूल जाते। उस ज्ञानमय वातावरण में अन्तःपुर, आस्थानागार और चतुश्शाल के तोरणों से ताम्र और रजत के पिंजरों में लटके शुक-सारिका भी परस्पर होड़ में अनेक सूत्रों और परिभाषाओं का उच्चारण करते रहते अथवा तंद्रा दूर करने के लिये पुकार उठते—'आपस्तम्भ सूत्र, काकतालीय न्यायेण, पतंजली, कौटिल्य, संक्रमणादसंक्रमणाद्वा, नोसदासीत नासदासीत्·····।'

महापण्डित के आस्थान में ज्ञान और कर्मकाण्ड के प्रसंग, श्रुति-स्मृति के शब्द प्रमाण और न्याय के तर्क प्रमाण, वेदों के एकमेवाद्वितीयं और नासदीयवाद के लिये स्थान था। वहाँ यवन ऋषि प्लातो के प्रतीयमान जगत से परे तर्क प्राप्य ध्रुव सत्य के विमर्ष और तथागत के अनात्म-कर्मवाद के लिये भी स्थान था। उनकी उदारता में ब्रह्मलोक और निर्वाण दोनों की ही अवज्ञा करनेवाले, सागल के धर्मज्ञ-विप्र समाज द्वारा लाँछित और तथागत के अभिधर्म द्वारा अभिशप्त, लोकायत के समर्थक, केवल स्थूल प्रत्यक्ष इहलोक को सत्य और जन्मान्तर में कर्मफल को असत्य बताने वाले, चारवाक मारिश के लिये भी स्थान था। धर्मस्थ के न्याय द्वारा दो बेर दण्डित होकर भी वह महापण्डित का कृपापात्र था।

प्रथमवार, तक्षशिला से मूर्तिकला का ज्ञान प्राप्त कर, मारिश सागल में मिलिन्द विहार के सिंहद्वार के तोरण पर भगवान तथागत के जीवन चरित्र अंकित कर रहा था। तथागत के पूर्व अवतारों को मिथ्या विश्वास बता, उसने संघस्थविर की आज्ञा से जातक कथा उत्कीर्ण करना अस्वीकार कर दिया। संघस्थविर ने भोग-लिप्सा को सुख की मिथ्या

भ्रांति के रूप में दिखाने की आज्ञा दी। मारिश ने वह भी स्वीकार न किया। संघस्थविर द्वारा धर्मास्थान में उपस्थित किये गये प्रतिज्ञा भंग के अभियोग के न्याय में धर्मस्थ ने मारिश को अर्थ दण्ड दिया। परन्तु संध्या समय अपने प्रासाद के आस्थान में उसे निमंत्रित कर, उन्होंने समाज में उसे अपने उपधान के आश्रय स्थान दे उसका आदर किया।

विचारक होने के नाते महापण्डित के आस्थान में मारिश का भी निरादर न था। महापण्डित को किसी भी वाद के प्रति पूर्ण सत्य का आग्रह न था और न किसी वाद को वे सर्वांश में मिथ्या कह पाते। वेद वचन—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' ही उनका उदार मत था।

इस वातावरण में पोषित होकर दिव्या ज्ञान, कला और संस्कृति से उसी प्रकार भिजी हुई थी जैसे कमल जल से भीगा न रहने पर भी जलसे रचा रहता है। उसकी विशेष रुचि संगीत और नृत्य में थी परन्तु वृद्ध प्रपितामह के निरंतर सामीप्य से वह ज्ञान के प्रसंग से भी अबोध न थी। शब्दों की अपेक्षा ज्ञान को उसने भावना में पाया था।

* * *

गत रात्रि मधुपर्व उत्सव में विलम्ब होजाने के कारण प्रातः दिव्या शयन कक्ष से भी विलम्ब से निकली। सुखद आलस्य में सभी काम विलम्बित गति से हो रहे थे। मध्यान्ह ही से उसे ध्यान था, गत रात्रि कला प्रदर्शन में सम्मान पाने के कारण संध्या समय साधुवाद देने आने वाले अतिथियों की संख्या अधिक होगी। संध्या की बात सोच उसका मन और शरीर पुलक से भर जाता।

दिव्या को स्मरण हुआ, उसकी शिविका में कंधा देने के गौरव के लिये आचार्यपुत्र आर्य रुद्रधीर ने खड्ग खींच ली थी। रुद्रधीर प्रायः आस्थानागर अथवा संध्या के समाज में उपस्थित होते थे। इन्हें आर्य मारिश की उपस्थिति असह्य होती। मारिश से उनके तर्क में

कटुता आजाती। तात प्रायः उपेक्षा प्रकट कर देते। महा पितृव्य विष्णुशर्मा मारिश की उच्छृंखलता से विरक्ति अनुभव कर मौन हो जाते और पितृव्य प्रद्युम्न शर्मा विनोद से मुस्करा देते। मारिश उपेक्षापूर्ण अहंकार से अट्टहास्य कर देता। दिव्या रुद्रधीर और मारिश के द्वन्द से विरक्ति भी अनुभव करती और कौतुहल भी।

आर्य रुद्रधीर का एक विवाह दो वर्ष पूर्व हो चुका था। परंतु वे कुमारी दिव्या के प्रति भी अनुरक्त थे। आचार्य कुलके प्रति आदर का भाव होने पर भी रुद्रधीर की द्वितीया पत्नि बनने की कल्पना दिव्या को रुचिकर न हुई। इसी प्रकार की स्मृतियों में वह संध्या की कल्पना कर रही थी। एक दासी ने संदेश निवेदन किया—"तात धर्मस्थ कुमारी का स्मरण कर रहे हैं।"

धर्मस्थ ने स्नेह से दिव्या के केशों पर हाथ रख आदेश दिया—"वत्स, दास श्रम्बक ने निवेदन किया है, कोई रथारूढ़ भद्र अभ्यागत द्वार पर उपस्थित है। गतरात्रि के श्रम से मैं क्लान्ति अनुभव कर रहा हूँ। पुत्री, अभ्यागत की अभ्यर्थना कर, कुशल क्षेम और आने का कारण पूछो।"

दासी के हाथों रजत आधार पर ताम्बूल और अर्घ्य ले दिव्या आस्थानागार में पहुँची। सम्मुख मुखद्वार से यवन सामन्त के समान गौर वर्ण परन्तु द्विज के समान कृष्ण नेत्र, ऊँचे और बलिष्ठ शरीर क्षत्रिय वंशी युवक ने अत्यन्त गम्भीर मुद्रा में प्रवेश किया। वह मूल्यवान कौशेय वस्त्रों को उपेक्षा से धारण किये था। दिव्या ने पहचाना, गत रात्रि का सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी आयुष्मान पृथुसेन!

अभ्यागत के सम्मुख बध कर नासिका तक उठा उसने नमस्कार से स्वागत किया—"आर्य, आस्यताम!" और दासी के हाथ से अर्घ्य आधार ले अतिथि के सम्मुख उपस्थित कर प्रार्थना की—"आर्य, अर्घ्य ग्रहण करें!"

नमस्कार का उत्तर गम्भीरता से दे, क्षुब्ध अभ्यागत अर्घ्य ग्रहण करने से पूर्व ही बोला—"भद्रे, महाश्रेष्ठी प्रेस्थ का पुत्र मैं पृथुसेन धर्मस्थ के द्वार पर न्याय की भिक्षा के लिये प्रस्तुत हुआ हूँ।"

आस्थानागार के मुख द्वार के तोरण से पिंजरे में लटकी वाचाल सारिका बोल उठी—"न्यायात् पथः पदं न प्रवचलन्ति धीरा।" *

दिव्या के ओठों पर, अभ्यागत के स्वागत में शिष्टाचार की ईषत् मुस्कान हास्य में परिणत हो गई। कुमारी ने आश्वासन दिया—"आर्य, अर्घ्य ग्रहण करें। न्याय द्वार से न्याय के लिये निराश न होना पड़ेगा। अबोध सारिका भी इस सत्य की साक्षी है।"

"मैं कुमारी के आश्वासन पर विश्वास करता हूँ।"—विनय से उत्तर दे पृथुसेन ने कुमारी द्वारा निर्दिष्ट आसन ग्रहण कर अर्घ्य पात्र से ताम्बूल लिया। समीप बैठ दिव्या बोली—"तात धर्मस्थ इस समय अस्वास्थ्य के कारण यदि आर्य से साक्षात्कार का लाभ न पा सकें, आर्य उन्हें क्षमा करेंगे?"

वृद्ध धर्मस्थ के कुशल क्षेम के प्रति मंगल कामना कर पृथुसेन सम्भ्रम से आसन छोड़ खड़ा हो गया। उसने धर्मस्थ की प्रपौत्री के न्याय आश्वासन के प्रति संतोष प्रकट किया। पुनः दर्शन की आशा ले वह लौटना ही चाहता था कि धर्मस्थ के पुत्र, दिव्या के महा पितृव्य पण्डित विष्णु शर्मा और पितृव्य प्रबुद्ध शर्मा चिंताशील मुद्रा में वार्तालाप करते हुये आस्थानागार में प्रविष्ट हुये।

प्रबुद्ध शर्मा ने अतिथि को सम्बोधन किया—"आयुष्मान, प्रबुद्ध शर्मा नमस्कार करता है।" विष्णु शर्मा ने प्रबुद्ध शर्मा की ओर दृष्टि डाल अभिवादन का संकेत मात्र कर कहा—'अभ्यागत की अभ्यर्थना करता हूँ।'

---

* 'धीर जन न्याय के मार्ग से विचलित नहीं होते।'

पृथुसेन विदा की आज्ञा ले चुका था। नवागन्तुक पितृव्यों का व्यस्तभाव देख, उनके वार्तालाप में बाधा न बनने के विचार से, सत्कार का उत्तर दे, वह विदा हो गया।

दिव्या को सम्बोधन कर विष्णु शर्मा बोले—"दास सारथी पुत्र का तुमने अर्घ्य से उचित सत्कार किया। तुम अपने पितृव्य प्रबुद्ध शर्मा की भाँति समदर्शी तथागत की शिष्या होने योग्य हो।"

महापितृव्य के उपालम्भ से दिव्या मौन रह गई। परन्तु प्रबुद्ध शर्मा ने अपने और भ्रातृजा के प्रति व्यंग का उत्तर परिहास से दिया—"तात, पृथुसेन का पिता किसी समय दास था। आज वह अनेक दासों का स्वामी, सागल का प्रमुख श्रेष्ठि और गणपति का प्रमुख मंत्रणा दाता है। सागल में उसकी अवज्ञा कौन करता है? तात, पृथुसेन दासों की भाँति हाथ में चँवर लेकर नहीं, खड्ग लेकर चलता है·····क्यों दिव्या, वत्स, वह सम्मान का अधिकारी है।"

विष्णु शर्मा उद्विग्न हो उठे—"धन संचय से सम्मान का अधिकारी? प्रबुद्ध, श्रमणों और यवनों की संगति और व्यापारिक वैश्य वृत्ति की ओर प्रवृत्ति होने से तुम्हारी ऐसी मति है। धन की महिमा तुम्हारी दृष्टि में इतनी अधिक है। धन भोग की वस्तु है! वह मनुष्य का मूल्य निश्चित नहीं कर सकता। धन के इसी गर्व के कारण"—विष्णु शर्मा का स्वर तीव्र हो गया—"गत रात्रि इस दास पुत्र ने द्विज सामन्त पुत्रों से स्पर्धा कर 'सरस्वती-पुत्री' की शिविका में कंधा लगाने का साहस किया। रुद्रधीर के वर्जने पर वह खड्ग खींच युद्ध के लिये तैयार हो गया। एक दास ब्राह्मण के सम्मुख खड्ग खींचे! इस प्रकार के अनाचार से मद्र में कुल गण के शासन में वर्णाश्रम का क्या अधिकार और सम्मान रह गया?"

प्रबुद्ध शर्मा ने पुनः मुस्करा कर उत्तर दिया—'परन्तु तात, मनुष्य और उसके वंश की स्थिति में परिवर्तन आता है। छत्रपति मौर्य वंश

भी एक समय नापितों का कुल था। दूसरे समय सम्पूर्ण जम्बू द्वीप ने उनकी बन्दना की। विप्र श्रेष्ठ चाणक्य ने उनका मंत्रित्व किया।"

"भूमि अब उस अनाचार से मुक्त हो चुकी।" विष्णु शर्मा बोले—अपनी हेय स्थिति को सम्मानित बनाने के लिये ही, वर्णाश्रम का पद न्यून करने के लिये ही अशोक ने मुण्डियों की शरण ली। यदि देवता मनुष्य से अधिक समर्थ हैं तो देवता का अंश, अग्नि को धारण करनेवाला ब्राह्मण भी शूद्र के समान नहीं। अग्निमुख ब्राह्मण के श्राप से पातक ध्वंस हो पृथ्वी पाप मुक्त हुई है। कल अभिजात कुल की स्वर्वा में इस दास पुत्र ने खड्ग खींचा था। यदि वह पीछे न हट जाता, उसके रक्त से उसके सर्व श्रेष्ठ खड्गधारी होने के अहंकार का प्रायश्चित हो जाता। यवन गणपति के अविचार से ही यह समस्या उत्पन्न हुई। यह मद्र के कुल गण का राज्य है। यवन मिलिन्द का धर्म-चक्र नहीं। नीचों को यह कहने का अहंकार—'कम्मणाभवती बम्मणो'? ब्राह्मण को जिसने देवत्व दिया है, वही उसे अपदस्थ भी कर सकता है। मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। क्या यह मुण्डी समय पर वृष्टि न करने के दुष्कर्म से मेघराज इन्द्र को भी अपदस्थ करेंगे? कहेंगे—कम्मणा भवती देवो? इस नास्तिकता का दण्ड अब सागल में पापी की जिह्वा खींच कर दिया जायगा·····। वह सम्भवतः तात के न्याय की शरण मांगने आया था·····?"

"परन्तु तात"—प्रबुद्ध शर्मा ने पितृव्य के प्रति आदर के विचार से, विनीत परिहास में उत्तर दिया—'देवता का विधान केवल अनुमान की वस्तु है; जैसे देवता के अस्तित्व का प्रमाण केवल अनुमान है। देवता और उसका विधान अनुभव और प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ग्राह्य नहीं। अनुमान अनुभव के आधार पर ही हो सकता है। यदि अनुमान अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं, तो सन्दिग्ध है।"

उत्तेजित हो विष्णु शर्मा ने प्रत्युत्तर दिया—'यह मुण्डियों का कुतर्क

से स्वयम अपना सम्बंध। गत संध्या आये अभ्यागतों के समाज में आपानक के समय उसने इस विषय का प्रसंग सुना था। वह जानती थी, समाचार तात तक पहुँच चुका था। समाचार कहने की अपेक्षा वास्तव में वह तात का मत ही जानना चाहती थी।

प्रसंग के प्रति उसकी अपनी चिन्ता ही दुविधा का कारण बन गई। यदि विशेष विचार से पूर्व ही समाचार तातके सम्मुख कह दिया होता, कोई बाधा न होती। निरंतर मनन करते रहने से ही उसका बोझ बढ़गया और बाधा अनुभव होने लगी। न कहना भी उचित न था। उसने न्याय का आश्वासन दिया था तो उपेक्षा कैसे करे? एक प्रकार से वचन देना ही हुआ?·····अन्याय क्यों हो? न्याय-अन्याय के प्रसंग से नित्य ही उसके कान भरे रहते थे। कभी उस ओर उसने ध्यान न दिया था। परन्तु इस प्रसंग में वह उपेक्षा न थी।

प्रायः प्रति संध्या ही प्रासाद के उद्यान में प्रपितामह, पितृव्यों और महिलाओं की गोष्ठियों में वह उपस्थित रहती। वृद्ध जन और स्त्रियाँ कला में उसकी अद्वितीय क्षमता के लिये साधुवाद दे आशीर्वाद देते। अभिजात युवक और कुल स्त्रियाँ उसकी स्तुति करतीं। उस प्रशंसा से उसे उत्साह और संतोष होता।

आर्य रुद्रधीर ने उस विषय में कुछ न कहा। इससे दिव्या को संतोष ही हुआ। उनसे साधुवाद पाने अथवा उन्हें उत्तर देने में उसे असुविधा जनक संकोच अनुभव होता। वही बात आर्य मारिश के सम्बंध में हुई। उन्होंने नई ही बात कही—"भद्रे, तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण शक्ति का निखार मात्र है, जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।" अनैतिकता और अनाचार के समर्थन का अपवाद पाये मारिश के इन शब्दों, उसके स्वर और नेत्रों के भाव से दिव्या को आशंकामय रोमांच हो आया।

मारिश की बात दिव्या को प्रायः स्मरण हो आती। वे शब्द अर्थ-

गर्भित थे। मन ही मन दिव्या उनके अर्थ, उनकी गूढ़ता और व्यापकता का मनन करती रहती। उन शब्दों में माधुर्य, गर्व, आशा और स्फूर्ति थी। परन्तु उस अव्यवस्थित, अपवाद के पात्र, स्थान भ्रष्ट युवक के सामीप्य से संकोच और आशंका अनुभव होती। वह सोचने लगती—सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी आर्य पृथुसेन ने मेरी कला के विषय में मत प्रकट नहीं किया·····शिविका के प्रसंग में उनका खड्ग खींच लेना·····वही उनका मत था।

दुविधा और संकोच के कारण दिव्या ने तात धर्मस्थ के मध्यान्ह विश्राम के समय, एकान्त देख उनके कक्ष में प्रवेश किया। प्रपितामह के पिंगल केशों को सहलाते हुये पृथुसेन के आने का समाचार कहा और प्रवाह में महा पितृव्य विष्णु शर्मा के व्यवहार की भी बात कह गई।

धर्मस्थ माथे पर हाथ रखे सब सुनते रहे। दिव्या के मौन में उत्तर की प्रतीक्षा अनुभव कर वे बोले—"बाले, अब तो देवी मल्लिका अपने अवसाद से मुक्ति लाभ कर कला की आराधना में रत होगई है न?"

"हाँ तात"—दिव्या ने उनके केशों में दृष्टि गड़ाये उत्तर दिया—'अब उनके प्रासाद में नित्य नियम से समाज होता है। नवीन शिष्यायें भी उन्होंने स्वीकार की हैं।"

"सन्तति का शोक मनुष्य को निसत्व कर देता है।"—धर्मस्थ ने दीर्घ निश्वास लिया—"हाँ अब मल्लिका किस शिष्या को अपने आसन का उत्तराधिकारी बनाने की आशा कर रही है? क्या रुचिरा की प्रतिभा उनकी किसी अन्य शिष्या में है? तुम्हें और अपनी पुत्री को मल्लिका अपने दो नेत्रों के समान ही समझती रहीं।"

"सम्भवतः मादुलिका को·····परन्तु उससे वे पूर्ण सन्तुष्ट नहीं। तात, मादुलिका में गति का लास्य और लाघवता नहीं है न?"

"सत्य है बाली·····मल्लिका की उत्तराधिकारिणी का उसके समान ही प्रतिभाशाली होना सुगम नहीं।···प्रकृति में क्रम सम रूप में

नहीं चलते। मल्लिका अपनी गुरु देवी इन्द्रा से कहीं आगे बढ़ गई। जन इन्द्रा को ही भूल गया·····।"

दिव्या का मन विकल हो रहा था। महत्व के जिस प्रश्न को उसने कठिनाई से तात के सम्मुख निवेदन किया था, उस ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। उसने प्रश्न किया--"हाँ तात, धर्मास्थान के सम्मुख सभी नागारिक समान हैं ?"

अपने माथे पर रखा हाथ प्रपौत्री के सिर पर बढ़ा, विनोद के स्वर में उन्होंने उत्तर दिया-"बाली, मालागुन्थन, तूलिका-लेखन और वीणा छोड़ तुम किन नयी ग्रन्थियों में उलझ रही हो वत्स !" विनोद का उनका स्वर स्वयं ही बदल गया--"दिव्वो, एक महाराज पौरव का धर्मास्थान था, एक विजयी मिलिन्दका, एम धार्मिक मिलिन्दका ! और एक कुलगण के राज्य का धर्मास्थान है।·····धर्मास्थान कोई स्वयम्भू और स्वतंत्र वस्तु नहीं। वह केवल समाज की भावना और व्यवस्था की जिह्वा है। इतने समय पर्यंत न्याय की व्यवस्था दे, मैं यही समझ पाया हूँ; न्याय व्यवस्थापक के आधीन है। पुण्य-स्मृति तात के समय पौरव वंश और उनके सामन्तगण के अधिकार और शक्ति की रक्षा का विधान ही न्याय था। विजयी मिलिन्द के समय इन सब का अधिकार च्युत हो जाना न्याय था और महाराज मिलिन्द और उनके समर्थक सामन्त वर्ग और उनके अधिकार की रक्षा न्याय था। फिर महाराज में, तथागत के धर्म की भावना ही न्याय हो गयी और यज्ञ में पशु-बलि का पुण्य कार्य अपराध हो गया। भद्र के वर्तमान कुल गण के राज्य में कुलों की सत्ता व्यवस्था का आधार है।"

अपने प्रश्न का उत्तर न पाकर दिव्या ने पुनः प्रश्न किया—"परन्तु तात, आर्य प्रेत्थ का कुल दासत्व से मुक्त हो चुका है। आयुष्मान पृथुसेन को गण ने सम्मानित किया है।"

सम्मुख अलिन्द के तोरण से लटके पिंजरे में सारिका की ओर दृष्टि

किये वयोवृद्ध चिंतित स्वर में बोले—'ठीक कहती हो वत्से, यही तो जटिलता है। प्रेस्थ दासत्व मुक्त हो चुका है। पृथुसेन गण द्वारा सम्मानित हो चुका है, अन्यथा वह न्याय का प्रश्न लेकर न आता। प्रेस्थ द्वारा अपनी माता की गोद से छीन कर बेच दिये जानेवाले अश्व-शावक या दास तो न्याय की समस्या नहीं उठाते। वत्स, एक व्यक्ति द्वारा न्याय की पुकार का प्रश्न जटिल नहीं होता। युवक पृथुसेन खड्ग-बल से अपने अधिकार की रक्षा का प्रयत्न कर सकता है। प्रश्न केवल उसके सम्मान और अधिकार का नहीं।·····समस्या गूढ़ है। उसने परिषद् के सम्मुख सेना में पद के लिये आवेदन किया है। वह उसके योग्य है। उसका पिता महत्वाकांक्षी है, वह दश सहस्र स्वर्ण मुद्रा व्यय कर सकता है। यदि धर्मास्थान पृथुसेन को वर्ण, कुल और अभिजात वंश के सम्मान का अधिकार देता है तो वह सेना में पद का अधिकारी हो जाता है। यदि परिषद् उसे सेना में पद का अधिकार देता है तो वह अभिजात वंश और कुल के सम्मान का अधिकारी हो जाता है।

"पृथुसेन का सेना में पद पाना सामन्त के आसन की पहली सीढ़ी पर पांव जामाना है। यदि प्रत्येक कुल सामन्त कुल का पद और अधिकार पा सके तो अभिजात कुल का अधिकार क्या रहेगा? यदि गण केवल द्विज कुलों का होता, स्थिति दूसरी होती। परन्तु गण मिश्रित है। उसमें यवन सामन्त हैं, तथागत के अभिधर्म से प्रभावित अनेक क्षत्रिय और वैश्य हैं। उनके लिये वर्ण की शुद्धता और अधिकार का महत्व नहीं। प्रत्युत उन्हें वर्ण-वर्ग की शक्ति से स्पर्धा है। इसीलिये गण-संवाहक परिषद् में इस विषय को स्थगित किये हैं।····· धर्मास्थान में इस प्रश्न का निर्णय समाज की व्यवस्था का प्रश्न है।"

तात के उत्तर से अनुत्साहित हो दिव्या ने पूछा—"परन्तु तात मद्रगण के धर्मास्थान में सिंह और मृग के एक साथ जल पीने का जो सिद्धान्त है·····?"

अत्यन्त शुभ्र श्मश्रु से आच्छादित तात के मुख पर मुस्कान झलक आई—"सिंह और मृग के एक साथ जल पीने का रूपक न्याय-व्यवस्था के प्रति आदर के लिये आवश्यक है। परन्तु सिंह और मृग का एक साथ जल पीना दोनों की ही परवशता से सम्भव है। स्वतंत्र केवल उन्हें एक साथ जल पीने के लिये विवश करने करनेवाला है। और उसकी यह इच्छा ही न्याय का आधार है। नास्तिक मरिश ने धर्मास्थान से, तथागत की जातक कथा उत्कीर्ण न करने के प्रतिज्ञा भङ्ग के अभियोग में अर्थदण्ड पाया। व्यवस्था की रक्षा के लिये वह आवश्यक था परन्तु यदि मारिश दण्ड भय और अर्थ लोभ से अपने मत के विरुद्ध आचरण करता तो क्या उचित होता !·····पुत्री न्याय के अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं।"

तात स्नेह से प्रपौत्री के केशों पर हाथ रखे रहे परन्तु मन के क्षोभ के कारण दिव्या के लिये वह स्नेह व्यवहार उस समय अर्थहीन, बल्कि मानसिक यंत्रणा बन गया।

* * *

दिव्या के जन्म से पूर्व ही माता का स्वास्थ्य क्षीण था। उसके जन्म के दिन ही दासी धाता, अपने पीन स्तनों पर अपनी नवजात बालिका को ले उपस्थित हुई। धाता का पहिला नाम भूल, वत्सल कन्या की धातृ को सभी धाता पुकारने लगे। दासी ने भी उस नाम को, स्वामी की कन्या के माता के स्थानापन्न जान, गर्व से धारण किया। दिव्या की माता ने अपनी सन्तान की धाता की कन्या को, अपनी सन्तान की छाया मान, छाया ही पुकारा और उसका नाम भी छाया ही होगया।

वयोवृद्ध धर्मस्थ के स्वर्गीय ज्येष्ठ पुत्र के, एक मात्र पुत्र की, एक मात्र कन्या सभी की दुलारी थी। शैशव में ही उसकी माता और फिर पिता का भी देहान्त हो जाने से, परिवार का अनुराग उसके प्रति और भी

उमड़ पड़ा। वह धर्मस्थ के अग्रज पुत्र, अग्रज पौत्र और अग्रज प्रपौत्री सभी की प्रतिनिधि बन, विशेष आदर की पात्र थी। वह अपनी मातामही और धातृ सहित, प्रासाद के उसी भाग में रहती जिस में स्वयं धर्मस्थ रहते। परन्तु दूसरे पितृव्यों के प्रासाद-कक्ष भी उसके लिये पराये न थे। वह तितली की भाँति सभी कुञ्जों पर उड़ती फिरती। और उसकी धातृ और छाया उसके साथ-साथ। दस वर्ष की आयु तक छाया केवल दिव्या के लिये क्रीड़ा सखी रही। इसके पश्चात् प्रासाद की छोटी मोटी, सरल सेवा के लिये उसे कभी इस कक्ष और कभी दूसरे कक्ष में नियत कर दिया जाता।

जैसे आकाश में चन्द्र की कलाओं की पूर्ति होने से पृथ्वी पर पड़े थिथले जल में पड़नेवाले उसके प्रतिबिम्ब में भी कलाओं की पूर्ति होती है, वैसे ही दिव्या की छाया, उसकी वयस्का छाया ने भी यौवन पाया। परन्तु आकाश का चन्द्रमा स्थिर-गम्भीर गति से अपनी यात्रा पूर्ण किये जाता है और थिथले जल में उसका प्रतिबिम्ब साधारण कारण से भी क्षुब्ध हो उठता है। छाया अन्तःपुर में युवा पुरुषों और उनकी युवा पत्नियों की सेवा और अत्यन्त सामीप्य से अपने शरीर के विकास और उपयोग से शीघ्र ही परिचित हो गई।

एक दिन विनय शर्मा की माता ने छाया को असमय अपने पुत्र के कक्ष में पा, क्रुद्ध हो सरल सेवा से वंचित कर, बावड़ी से स्नान का जल भरने का कठिन कार्य सौंप दिया। भाग्य ने रक्षा की। शरीर पर यौवन उन्मुक्त हो निखरा था; मुख पर उसकी द्युति थी। दास-नायक बाहुल की दया से उसने आस्थानागार में अतिथियों के सम्मुख मद्य आधार उपस्थित करने की सेवा पाई। वामनों, कंचुकियों, जर्जर वृद्धों और ईर्षालु दासियों से भरे अन्तःपुर के जीवन से आस्थानागार की सेवा कहीं अधिक रुचिकर थी। वहाँ वैचित्र्य और स्वच्छन्दता थी। दासों का नायक बाहुल उसके प्रति सहृदय था।

रसिक विनय शर्मा ने माता की इच्छा की उपेक्षा कर छाया को पुनः अपने कक्ष में नियत करने का आग्रह किया। वह स्नान के समय विनय शर्मा के शरीर पर उबटन मलती। शेष समय प्रासाद की देवियों के लिये पुष्प मालायें गूंथती। वह पुनः अन्तःपुर की ड्योढ़ी के भीतर बन्दी हो गई। आस्थानागार तक जा पाने के लिये उसका मन अधीर हो उठता परन्तु ड्योढ़ी पर खड़ी, खड्गधारी यवनी की मूर्ति स्मरण करने से शरीर का रक्त जम जाता। उसका मन चाहता दास बाहुल के विरह की पीड़ा से व्यथित अपने शरीर को अन्तःपुर की विशाल, पाषाण भित्तियों से टकरा कर छिन्न-भिन्न कर दे, शूलों से भरी झाड़ी में अपने शरीर को डाल दे। कई मास तक वह मलिन रही और फिर देवता की इच्छा मान सह गई।

* * *

दिव्या ने सुना, पृथुसेन तात के सम्मुख आवेदन के लिये प्रस्तुत हुआ है। शील के विचार से उस समय जाकर वह समीप न बैठ सकी, परन्तु मन उत्सुकता और दुविधा से व्याकुल होता रहा। तात पृथुसेन से विमुख न थे परन्तु उसका अपना मन पृथुसेन से कुछ कहना चाहता था। क्या? सो वह स्वयम भी ठीक न जानती थी, ऐसा ही कुछ, सहानुभूति और सान्त्वना के रूप में। पृथुसेन कुछ भटका सा, आश्रय की खोज में खिन्न सा जान पड़ता था। स्वयम भी वह कभी उसी प्रकार अनुभव करती। तब भरे-पूरे प्रासाद में भी सूनापन लगता। उस समय महापितृव्यों, पितृव्यों, मातामहि और पितृव्याओं, भाइयों और बहिनों का स्नेह बोझ सा जान पड़ने लगता।

तात धर्मस्थ के प्रासाद में, अन्य परिचित परिवारों में, मल्लिका और वसुमित्रा के यहाँ समाज में, आपानकों और समाह्वय में सब कहीं दिव्या के सतर्क कान पृथुसेन का नाम, मधुपर्व उत्सव की घटना और परिषद के सम्मुख पृथुसेन के आवेदन को ले मतामत का प्रसंग

सुन पाते। उसके मन में एक कांटा सा बैठ गया। परिषद् और धर्मस्थान दोनों ही स्थानों पर पृथुसेन के सम्बन्ध में विचार स्थगित था।

मन में दुविधा रहने के कारण दिव्या संकुचित और शिथिल रहती। वह कहीं भी संतोष न पाती। मातामही जीवन की यात्रा पूर्ण कर, अपने विश्वास में परलोक के समीप पहुँच रही थीं और अत्यन्त परलोकाभिमुख हो रही थीं। वे निश्चय न कर पाई थीं—ब्रह्मलोक अधिक श्रेयस्कर होगा या निर्वाण? इसलिये अंत समय जान, अत्यंत व्याग्रता से दोनों की ही प्राप्ति के लिये यज्ञिक पुरोहित और अर्हत भिक्षु की सहायता से यत्नवान थीं। विशाल और विस्तृत परिवार की चिन्ता उनके लिये केवल क्षोभका कारण थी।

दासी धाता ने महादेवी का ध्यान दिव्या के शैथिल्य और अन्यमनस्कता की ओर दिलाया। महादेवी ने कुमारी की विवाह योग्य आयु के प्रति तात धर्मस्थ और दूसरे पितृव्यों की उपेक्षा के प्रति असंतोष प्रकट कर, दिव्या को व्यस्त रखने के लिये अनेक कार्य निर्दिष्ट कर दिये। उन्होंने आज्ञा दी, वह पाकशाला में विशेष पकवानों का आयोजन करे, अतिथियों के लिये विशेष पुष्प-मालायें गूँथे, तूलिखा-लेखन करे। छाया को उसकी सहचरी के रूप में नियत कर दिया गया।

दिव्या और छाया अन्तःपुर के उद्यान में एक कुंज में बैठी माला गूँथ रहीं थीं। सम्मुख अनेक प्रकार के पुष्पों का ढेर लगा था। छाया की उँगलियाँ द्रुतगति से चल रही थीं और उसकी दृष्टि कभी अपनी अँगुलियों की ओर कभी दिव्या के झुके हुए मुख की ओर जाती। पीठिका पर बैठी दिव्या की अंगुलियाँ शिथिल थीं और दृष्टि निरंतर झुकी हुई। हाथ की अधगुँथी माला छाया पर फेंक दिव्या ने मनका अवरुद्ध क्षोभ प्रकट किया—"यह झमेला मेरे सामर्थ्य का नहीं।" और उत्तरीय से मुख ढंक लिया।

कुछ क्षण दृष्टि दिव्या के मुख की ओर लगाये मौन रह छाया

बोली—"भद्रे, महादेवी अम्मा से कह रही थीं, तात और पितृव्य कुमारी को आयु का विचार क्यों नहीं करते !·····वह यौवन के उद्वेग के कारण ही अन्यमनस्क है जैसे ऋतुकाल में पशु-पक्षी·····"

आवेश में मुख से उत्तरीय हटा दिव्या ने क्षुब्ध स्वर में भर्त्सना की—"निर्लज्ज !·····मर जा !·····तुझ में तनिक शील नहीं !····· इसी प्रकार की धृष्टता के कारण आर्य अमिता ने तुझे अपने कक्ष से निकाला होगा।"

"नहीं भद्रे !" निसंकोच दिव्या के नेत्रों में देख और उँगलियों से माला गूँथते हुये छाया ने उत्तर दिया—"भद्रे नहीं जानतीं स्वामिनी अमिता ने किस अपराध में मुझे कक्ष से बहिष्कृत किया ?"—दिव्या के उत्तर की प्रतीक्षा न कर उसने कहा—"उस संध्या आर्य विनय अपने कक्ष में ही थे। कादम्बिनी का पात्र उपस्थित करने की आज्ञा उन्होंने दी। पात्र प्रस्तुत करने पर आर्य ने कौतुक से हाथ मेरे अङ्ग पर दबा दिया। मेरे लजा कर सकुचाने से आर्य कुपित हो गई, बोलीं—"तू छली और कुलटा है। दासी हो कर कुल ललनाओं की भाँति लजाती है। आर्य को वश करना चाहती है।"

"अलम"—प्रसंग से खिन्न हो दिव्या ने मुख फिरा लिया। परन्तु छाया वयस्का होने और शैशव में स्वामिनी की क्रीड़ा सखि रहने के अधिकार से कहती गई—"महादेवी ने अम्मा को आदेश दिया है, संध्या समय आचार्य प्रवर्धन के पुत्र आयुष्मान रुद्रधीर के आने पर कुमारी उनकी अभ्यर्थना करें।·····स्वामिनी अमिता महादेवी से कह रही थीं, आयुष्मान रुद्रधीर कुमारी के प्रति अनुरक्त हैं।"

भृकुटि में बल डाल दिव्या ने धमकाया—"वाचाल !·····चुप रह !" और पीठिका से उठ अपने कक्ष की ओर चली गई। छाया से अपने सम्बन्ध में लज्जाजनक प्रसङ्ग सुन कुण्ठा अनुभव, कर वह पर्यङ्क पर जा लेटी। लज्जा से अपने में सिमिट जाने के लिये उसने दुकूल

ओढ़ लिया। आँखें मूँद, सिर दुकूल में लपेट लेने पर भी छाया की बात कानों में गूँजती रही—"महादेवी ने अम्मा को आदेश दिया है, कुमारी आयुष्मान रुद्रधीर की अभ्यर्थना करें……।"

दिव्या अनेक द्विजवंशी और यवन सामन्त युवकों की अभ्यर्थना प्रायः करती थी। रुद्रधीर की अभ्यर्थना भी वह कई बेर कर चुकी थी। इस समय अभ्यर्थना के आदेश का प्रयोजन जान उसका मन विरक्त हो गया। स्वर्ण खचित रक्त कौशेय से अपने गुम्फित केश बाँधे, माथे पर श्वेत चंदन के खौर में रक्त तिलक लगाये, रुद्रधीर उसकी कल्पना में दीखने लगा। उसके उत्तरीय के नीचे यज्ञोपवीत लटक रहा था। परन्तु हाथ में खड्ग था। खड्ग खींच वह पृथुसेन को दिव्या की शिविका में कंधा लगाने से वर्ज रहा था। नेत्र मूँदे दिव्या की कल्पना में रुद्रधीर के प्रति भय और विरक्ति का भाव बैठ गया।

मुख से दुकूल झटक दिव्या उठ बैठी—"दासी,……छाया"! उसने पुकारा—"क्या काल होगा?"

छाया दिव्या के पर्यंक के स्थूण का आश्रय लिये, उंगलियों से माला गूँथती उसी ओर दृष्टि लगाये, अपनी कल्पना में खोई, स्वामिनी की अन्यमनस्कता दूर करने का कर्तव्य भूल गई थी। सहसा पुकार सुन, सतर्क हो उसने द्वार से याम की ओर देख, उत्तर दिया—"भद्रे, संध्या में विलम्ब नहीं। भद्रे के संध्या प्रसाधन की आज्ञा हो!"

"नहीं……हाँ……हाँ!"—चिबुक हथेली पर रखे, विचार में अधमुंदी आँखों से दिव्या ने उत्तर दिया।

नेत्रों में अनुनय भर छाया ने प्रार्थना की—"भद्रे, अर्घ्यआधार ले सेवा में आस्थानागार साथ चलने की आज्ञा दासी को देने की कृपा करेंगी?"—अर्घ्य उपस्थित करने के प्रसंग की स्मृति से विरक्ति अनुभव कर, दीर्घ निश्वास ले दिव्या ने उत्तर दिया—"वाचाल,तू बड़ी निर्लज

है……" पर्यंक छोड़ उसने छाया को आज्ञा दी–"जा कुंचकी को सारथी से रथ प्रस्तुत कराने के लिये आदेश दे।"

रथ प्रस्तुत हो जाने के संदेश की प्रतीक्षा किये बिना, दिव्या अन्तःपुर से आस्थानागार होती हुई, प्रासाद के सिंहद्वार की ओर चली जा रही थी। दुकूल और पुष्प मालायें बाहु पर लिये पीछे चली आती छाया को उसने आज्ञा दी–"महादेवी से निवेदन कर, कुमारी देवी मल्लिका के समाज में जा रही है।"

दिव्या उद्यान मार्ग से सिंहद्वार की ओर जा रही थी। मार्ग में खड़े, अत्यन्त वृद्ध, निर्बल दृष्टि दास तारुक को अपनी ओर जिज्ञासा पूर्ण दृष्टि गड़ाये देख दिव्या ने मुस्करा कर पूछा—"मातुल तारुक, शरीर स्वस्थ है?" दिव्या को पहचान, तारुक ने स्नेह और आदर से विभोर, थुथले स्वर में आशिष दी—"दीर्घायु हो, श्वसुर प्रासाद की एक छात्र स्वामिनी हो! अनेक दिन पश्चात् कुमारी के दर्शन हुये। भद्रे, किस दिशा में प्रस्थान की इच्छा है?"

'देवी मल्लिका के दर्शन के लिये, मातुल तारुक।"–दिव्या ने उत्तर दिया। आयु से निर्बल नेत्र कुमारी के मुख के अत्यन्त समीप ला, तारुक ने प्रश्न किया—"क्या अनेक दिन कला और विनोद से दूर रहने के कारण ही कुमारी शिथिल और म्लान जान पड़ती हैं?"

कुछ उत्तर न पा दिव्या ने आस्थानागार की ओर देख प्रश्न किया—"मातुल छाया को विलम्ब क्यों हो रहा है?"

छाया एक द्राक्षा वितान की ओट में दिखाई दी। उसके समीप दास बाहुल था। उस ओर से दृष्टि हटा दिव्या ने तारुक से पुनः प्रश्न किया—"मातुल, रथ में क्यों बिलम्ब हो रहा है?"

उत्तर मिला—'रथ प्रतीक्षा में प्रस्तुत है कुमारी।"

दिव्या पीछे न देख, द्वार की ओर बढ़ गई। छाया द्रुत पदों से प्रस्तुत हो, स्वामिनी को रथ पर चढ़ाने के लिये उसके लहराते हुये

उत्तरीय और अंतरवासक को समेटने लगी।

पथ असम और अश्व वेगवान होने के कारण रथ हिलोरें ले रहा था। दिव्या की दृष्टि कभी इधर-उधर और कभी रथ के अधो-भाग में बैठी छाया पर पड़ जाती। स्वामिनी से दृष्टि मिलने पर उसकी शैथिल्य पूर्ण गम्भीरता भङ्ग करने के लिये छाया बोली—"भद्रे, अनेक दिन पश्चात् देवी मल्लिका के प्रासाद में जा रही हैं। आज·····देवी को सन्तोष होगा।"

अपनी कल्पना में गहरी डूबी दिव्या ने छाया की बात को भी अपने ही विचारों के प्रसङ्ग का अङ्ग समझ, स्वयम् अपने को ही उत्तर दिया—"हाँ, परन्तु जाने आर्य आवें अथवा नहीं·····।"

"कौन आर्य्य ?"—उत्सुकता से ग्रीवा उठा छाया ने रहस्य के स्वर में प्रश्न किया।

छाया की आंतरिकता से उत्साह पा कर दिव्या ने उत्तर दिया—"आर्य पृथुसेन"—उसी समय रथ के पिछले भाग में बैठे कञ्चुकी पर उसकी दृष्टि पड़ी। सम्भ्रम से उसने अपनी बात पूरी की—"आर्य पृथुसेन ने तात के धर्मास्थान में मेरे द्वारा आवेदन किया था····· उसी सम्बन्ध में।"·····वह पुनः अपनी कल्पना में खो गई।

* * *

मल्लिका संध्या समय समाज के प्रयोजन से प्रसाधन में व्यस्त थी। दासी ने सिंहद्वार पर धर्मस्थ की प्रपौत्री दिव्या का रथ पहुँचने का समाचार कहा। व्यग्रता में सब छोड़ मल्लिका नंगे पाँव, बछड़े के लिये अधीर गाय की भांति, सिंहद्वार की ओर चल पड़ी। दिव्या को आधे मार्ग में पा, अंक में ले, उसका सिर सूँघ, स्नेह से चिबुक उठा उसने उपालम्भ दिया—"वत्स, इतने दिन तुम क्या मुझे भूल गई थी ? रुचिरा मुझे वियोग दे गई तो क्या तुम भी भूल जाओगी ?"···अपने सजल नेत्र पोंछ, दिव्या का मुख ध्यान से देख प्रश्न किया—"हाय,

तुम यों निस्तेज क्यों हो रही हो ?·····स्वस्थ हो ? अश्विनीकुमार तुम्हारी रक्षा करें।·····कुछ चिन्तित हो ?·····मधुपर्व से चौथा पक्ष बीत गया, तुमने अपनी बूढ़ी होती माँ की सुध न ली।"

एक ही श्वास में मल्लिका सब कुछ कह गई। स्नेह के इस अतिरेक से विभोर हो दिव्या कुछ उत्तर न दे पायी। अपना सिर उसने मल्लिका के उमगते हृदय पर दबा दिया। उसके नेत्र सन्तोष में मुँद गये। परन्तु नेत्र खुलते ही उसकी दृष्टि भटकने लगी·····क्या आर्य अभी तक नहीं आये ?·····अभी समय नहीं हुआ ?

दिव्या को अंक में लिये अपने कक्ष की ओर लौटती हुई मल्लिका अब भी अपना उपालम्भ कहे जा रही थी—"पुत्री, तुम्हीं मेरी आशा हो। मेरी आत्मा की सन्तति ! दैव ने मेरी रुचिरा को छीन लिया। तुम्हें देख मैं उसे भूल रही थी। और तुम इतनी निठुर हो। वत्स-मेरा न सही, वीणापाणि देवी सरस्वती के कोप का भय करो ! पुत्री, कितने जन्म की तपस्या से देवी अलौकिक प्रतिभा का वरदान देती हैं। उसकी उपेक्षा और निरादर से देवी के अभिशाप का पात्र बनना पड़ता है ! देवी ने तुम्हें अपना अंश अर्पित किया है·····।"

विशेष उत्साह से मल्लिका ने अपना शृंगार किया, विशेष उत्साह से उसने अभ्यागतों के लिये कापिशायिनी और कादम्बिनी सुरा के कुतुप प्रस्तुत करने की आज्ञा दी। वृद्ध वादक वभ्रु को दिव्या के आने का समाचार दे, वादन में विशेष सतर्कता का आदेश दिया। अभ्यागतों के उपधान के आश्रय विष्टरों पर स्थान ग्रहण करने पर, मल्लिका दिव्या को साथ ले, समाज में उपस्थित हुई। वादकों को गांधारी के स्वर उठाने का संकेत कर उसने स्वयम् आलाप आरम्भ किया। संगीत के पश्चात उसने छलिक नृत्य के लिये आदेश दिया। दिव्या से सहयोग देने का अनुरोध कर उसने स्वयम् नृत्य आरम्भ किया।

देवी मल्लिका के अनुरोध की उपेक्षा दिव्या के लिये सम्भव न

थी। परन्तु वह नृत्य में तन्मय न हो सकी। उसके नेत्र निरंतर दुविधा में पथ और द्वार की ओर लगे रहे। उपस्थित समाज ने 'सरस्वती-पुत्री', सागल की सर्व श्रेष्ठ कलाविद युवती को साधुवाद दिया। स्तुति और संतोष प्रकट करने के लिये मल्लिका के आसन के सम्मुख भेंट उपस्थित की। परन्तु मल्लिका मौन थी। नृत्य समाप्त हो जाने पर दिव्या को सम्बोधन कर उसने कहा—"पुत्री, अनभ्यास विद्या का शत्रु है।..... क्या तुम्हारा चित्त अस्थिर है?"

मल्लिका के सम्मुख अपराध स्वीकार कर दिव्या ने क्षमा याचना की—"माता मैं अस्वस्थ हूँ।.....केवल दर्शनार्थ चली आई।" मल्लिका शिष्या की पीठपर स्नेह से हाथ रखे बैठी रही। दिव्या की दृष्टि प्रति कुछ क्षण में सिंहद्वार और पथ की ओर भटक जाती।

समाज लगभग समाप्त होने को था। पृथुसेन द्वार से आता दिखाई दिया। दिव्या ने संतोष का श्वास लिया परन्तु फिर उस ओर देख न सकी। न देख सकने पर भी उसने जाना, पृथुसेन अभ्यागतों के लिये लगे उपधानों में चुपचाप पीछे की ओर जाकर बैठ गया है। वह चिन्ता-ग्रस्त और शिथिल जान पड़ा। दिव्या ने हृदय में अन्याय की वेदना अनुभव की।

मल्लिका के संकेत से दासियों ने अभ्यागतों के सम्मुख सुरा पात्र और ताम्बूल उपस्थित किये। आलाप और परिहास से चतुश्शाल गूँज रहा था। परन्तु दिव्या उस आनन्दोल्लास में सहयोग न दे पाने से असुविधा अनुभव कर रही थी। वह देख रही थी, पृथुसेन भी एक ओर निरुत्साह बैठा था। मल्लिका के सस्मित अभिवादन का उत्तर एक क्षीण मुस्कान से दे, वह मौन और गम्भीर था।

समाज विसर्जन से पूर्व मल्लिका ने रास-नृत्य का प्रस्ताव किया। दिव्या के शैथिल्य के कारण उससे मल्लिका ने सहयोग के लिये न कहा परन्तु पृथुसेन से सम्मिलित होने का अनुरोध किया। वह पृथुसेन

के पदलाघव की प्रशंसक थी। पृथुसेन क्षमा मांग अपने आसन पर ही बैठा रहा।

रास नृत्य आरम्भ होने पर आसनों की व्यवस्था बदल गई। दिव्या शीतलता और वायु के लिये चतुश्शाल से बाहर जा रही थी। पृथुसेन के समीप पहुँच उसने कुशल क्षेम के विषय में प्रश्न किया। कुमारी के आदर में आसन छोड़, वह उत्तर देता हुआ दिव्या के साथ ही उद्यान में आ गया।

"आर्य के न्याय आवेदन के प्रति तात विशेष रूप से चिंतित है"—दिव्या ने पृथुसेन के प्रति समवेदना से कहा—"वे सम्भवतः गणपरिषद के निर्णय की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

मुस्कराने का व्यर्थ यत्न कर पृथुसेन ने कहा—"तात धर्मस्थ से मैंने परिषद् का निर्णय जानने के लिये प्रार्थना नहीं उनके न्याय आसन के निर्णय के लिये आवेदन किया था।"

"आर्य का कथन सत्य है।"—समवेदना के स्वर में दिव्या ने स्वीकार किया।

गम्भीर हो पृथुसेन बोला—"भद्रे ने सारिका की साक्षी कर जिस न्याय का आश्वासन दिया था, वह न्याय गणपरिषद् का नहीं धर्मस्थान का था। भद्रे, मैं वर्ण का न्याय नहीं, धर्म का न्याय चाहता हूँ। गण-परिषद् स्वार्थों का संघर्ष है। धर्मास्थान न्याय का आसन है।"

दिव्या ने अपनी उँगलियों के नखों पर दृष्टि लगाये उत्तर दिया—"आर्य का कथन सत्य है।"

"और भद्रे," पृथुसेन फिर बोला—"गणपरिषद् से सहायता पाकर जो न्याय मुझे धर्मास्थान से मिलेगा, उसके लिये मैं धर्मास्थान के सम्मुख आभारी न होऊँगा।·····वह न्याय नहीं, सबल का सम्मान मात्र होगा।"

पृथुसेन के स्वर और शब्दों से दिव्या ने हृदय पर आघात अनुभव किया। सिर झुका उसने स्वीकार किया—"आर्य सत्य कहते हैं।"

"धर्मस्थ का कार्य गणपरिषद् की आज्ञा का पालन नहीं, परिषद् को न्याय का मार्ग दिखाना है।"—दिव्या को सिर झुकाये मौन देख पृथुसेन ने करुणा की मुस्कान से प्रश्न किया—"कुमारी की शिविका में कँधा देने की मेरी महत्वाकांक्षा क्या कुमारी की दृष्टि में भी अपराध है?"

"नहीं आर्य"—दिव्या ने दृष्टि उठा उत्तर देने का यत्न किया परन्तु नेत्रों में आर्द्रता अनुभव होने से वे स्वयम् झुक गये। उसने कहा—"मैं आदर के लिये कृतज्ञ हूँ।" उसकी ग्रीवा और भी झुक गई।

कुछ क्षण दोनों चुप रहे। मौन भंग करने के लिये पृथुसेन बोला—"भद्रे, शीतल वायु के लिये समीप कुंज में ताल के शिला तट पर विश्राम करें।"

दिव्या निरुत्तर सिर झुकाये पृथुसेन के संकेत से चल पड़ी।

प्रेस्थ

मद्राधिपति, परम धार्मिक, यवनराज मिलिन्द ने धर्म-चक्र में दीक्षित हो जब राजप्रासाद और राजसिंहासन त्याग प्रव्रज्या ग्रहण की, उन्होंने अपने सहस्रों राजकीय दास-दासियों को दासता के बन्धन से मुक्ति देदी। दासों को स्वतंत्रता का दान देते समय महाराज ने दक्षिणा स्वरूप उनके भरण-पोषण के लिये यथेष्ट द्रव्य भी उन्हें दिया। सागल-नगरी के पथों, वीथियों और पण्यों में इन मुक्त दासों की उच्छृङ्खलता से कुछ दिन तक विशेष अव्यवस्था रही। द्रव्य के संचय और उपयोग से अनभ्यस्त दास अकस्मात पाये द्रव्य से अत्यधिक मदपान कर, उन्मत्त हो, विशेष तड़क-भड़क से वस्त्र धारण कर, उपद्रव करते फिरते। दान में पाया द्रव्य समाप्त कर उन्होंने ऋण लिया। ऋण शोध में असमर्थ हो, वे पुनः द्विजवर्ग और सम्पन्न श्रेणी के हाथ दास रूप में बिकगये। अनेक ने दासता और स्वतंत्र जीवन के संघर्ष दोनो को ही कठिन जान, तथागत के धर्मचक्र में शरण ले कषाय चीवर और भिक्षा पात्र से शान्ति प्राप्त की।

शालीहोत्री दास प्रेस्थ महाराज मिलिन्द के साथ ही यवन देश से आया था। विशेष चतुर, विनीत और अश्वों की वंशवृद्धि और

चिकित्सा में विशेष दक्ष होने के कारण, वह महाराज का विशेष कृपा-पात्र था। राजकीय दास होने से उसकी स्थिति अच्छी थी। संसार माया त्याग के समय महाराज ने प्रेस्थ को दासत्व से मुक्ति के अतिरिक्त कपिशा, कम्बोज, वाल्हीक और सुराष्ट्र देश के अनेक बहुमूल्य अश्व दान दिये। इन बहुमूल्य अश्वों को ले प्रेस्थ ने पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण जाने वाले सार्थों के साथ यात्राकर अश्वों का व्यापार किया। अनेक स्थानों के अश्व और रथ दूसरे प्रदेशों में बेच, व्यापार से सहस्त्रों स्वर्ण मुद्रा उपार्जन कर, वह स्वयम् सागल में समृद्ध श्रेष्ठियों की भाँति निवास करने लगा और उसके कार्यवाहक उसका विस्तृत व्यापार चलाने लगे। एक दरिद्र परन्तु रूपवती द्विज कन्या क्रय कर, उसने विवाह कर लिया। उसने अभिजातवर्ग के समान प्रासाद और उद्यान बनवाये, दास-दासियां क्रय कीं और सामन्त वर्ग के समान रहने लगा।

महाराज मिलिन्द ने पौरव राज-वंश को पराजित कर मद्र देश पर अपना साम्राज्य स्थापित किया था। उन्होंने अपने दीर्घ राज्यकाल में राज्य अधिकारच्युत पौरव वंश के अनेक कुलों तथा अन्य अभिजात द्विज कुलों को सामन्तों का सम्मान दे, शासन कार्य में अपना सहायक बना लिया। अपने अनेक यवन सेनापतियों को भी अग्रहार रूप ग्राम दान दे अपना सामन्त बना लिया। महाराज मिलिन्द के राजसिंहासन त्यागने पर, उत्तराधिकारी के अभाव में मद्र के सम्मानित, सम्पन्न और सशक्त कुलों ने गण रूप में मद्र देश का शासन सम्भाला। यवन-राज के वृद्ध, अनुभवी, नीतिज्ञ महा सेनापति मिथोद्रस सैनिक शक्ति के सूत्रधार होने के कारण इस गण के गणपति और महासेनापति नियत हुये। महाराज के मंत्री महामति देवमित्र के पुत्र आचार्य प्रवर्धन गणपरिषद के संवाहक बने।

श्रेष्ठि प्रेस्थ विशेष धन संचय कर, जन से यथेष्ट सम्मान पाकर भी कुलीन न होने के कारण गणपरिषद का सदस्य न बन सका। परन्तु

अपने द्रव्य-बल, चातुर्य और विनय से गणपति मिथोद्रस का विशेष विश्वासपात्र बन, वह अत्यन्त प्रभावशाली हो गया। अपने एक मात्र युवा पुत्र के कालकवलित हो जाने से शोक विह्वल गणपति महासेनापति मिथोद्रस के लिये चतुर, साहसी और विनीत प्रेस्थ दक्षिण भुजा के समान था।

प्रेस्थ ने अपने पुत्र पृथुसेन का पालन अभिजात वंश के कुमारों की भांति कर, उसे शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा दी। किशोरावस्था समाप्त होने पर पृथुसेन महापण्डित, धर्मस्थ देवशर्मा के पुत्र विनयशर्मा, सामन्त कार्त्तवीर के पुत्र सकृद, महाशाल समर्थक के पुत्र इन्द्रदीप और मद्र की गणपरिषद् के संवाहक आचार्य प्रवर्धन के कनिष्ठ पुत्र वसुधीर के साथ विद्योपार्जन के लिये तक्षशिला भी गया। शैशव से ही सम्मान पाने के कारण पृथुसेन में आत्म-गौरव का भाव पिता से अधिक और विनय का चातुर्य कम था। उसकी प्रवृत्ति मार्ग रोकने वाली अर्गला के नीचे से सिर झुकाकर निकल जानेकी अपेक्षा अड़चन से भिड़जाने की ओर थी। धन और प्रतिभा में अपने समवयस्कों से बढ़ कर होने पर भी उनकी तुलना में सम्मान की न्यूनता उसके लिये असह्य होजाती।

ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र द्वारा मौर्य कुल के अन्तिम राजा बृहद्रथ के वध और मगध की राज्य क्रान्ति के समाचार सुदूर मद्र में अतिरंजित होकर पहुँचे। मद्र के वर्णाश्रम धर्मावलम्बी कुलों और जन का विश्वास था, देवताओं के अजेय सेनापति कार्तिकेय ने जम्बूद्वीप को मौर्यवंशी शूद्र राजाओं के कलंक और नास्तिक मुण्डी-धर्म के अभिशाप से मुक्त करने के लिये ही सेनापति पुष्यमित्र के रूप में जन्म लिया है। अग्निमुख, विप्रश्रेष्ठ, ब्रह्मर्षि पतंजली ने इसी देव कार्य के लिये, राजसूय यज्ञ के पुण्य से अभिशिक्त कर, सेनापति को अजेय कर दिया है।

मद्र के महाराज धार्मिक मिलिन्द की आज्ञा से यज्ञ में पशु बलि

का निरोध हो जाने के कारण यज्ञों की महिमा और शक्ति क्षीण हो गई थी। मगध में वर्णाश्रम का पुनरुत्थान होने के उत्साह से मद्र में भी चिर उपेक्षित यज्ञ, बलि सहित समारोह से आरम्भ हो गये। यजन-याजन से विरक्त याज्ञिकों और पुरोहितों ने पुनः अपने वर्ण चिह्न शिखा-सूत्र और तिलक धारण किये। सागल का वातावरण महा यज्ञों के हविष, यव, तिल, धान्य, घृत और मंत्र-पूत पशुओं के मांस के भस्म होने की गंध से घना हो गया। देवार्चन के उपकरण शंख, घण्टा, घड़ियाल, कांस्यताल और भेरी के नाद से वायु कम्पित रहने लगा।

वर्णाश्रम धर्म के उत्थान की प्रतिक्रिया में, धर्मराज मिलिन्द की श्रद्धा से भिक्षा में पाये ग्रामों के अग्रहार से और नगर प्रदेश के निर्वाण कामी उपासकों द्वारा पोषित तथागत के सहस्त्रों भिक्षुओं से पूर्ण विहार भी विक्षिप्त मधुछत्रों की भांति गुञ्जार उठे। चैत्यों में तथागत के बिम्ब के सम्मुख घण्टों का नाद, अधिक काल तक और अधिक ऊँचे स्वर से होने लगा। शतशः भिक्षु हिंसा के पाप में लिप्त होते नगर समाज के उद्बोधन के लिये पथों और वीथियों में सूत्र पाठ करते फिरते—"चरथ चरैति भिक्खवे बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकानु कम्पाय.....!"

श्रावण में सागल पर पावस के काले मेघ उमड़ आये। भारी वर्षा से नगर के पथों और वीथियों पर कीच और जल फैल, नगर विवश स्थिरता से शिथिल हो जाता। वर्षा थमने पर चटकीले घाम से नगर के प्रस्तर निर्मित भवन और पथ तपने लगते। वातासहीन ताप से व्याकुल और सामाजिकता के अभाव से निरुत्साहित प्रासादों और साधारण भवनों के निवासी उपवनों और उद्यानों में समाज का आयोजन करते। सहसा उमड़ आये मेघों की बौछारें उन्हें अपने भवनों का आश्रय लेने के लिये विवश कर देतीं।

सागल के नगर समाज की मानसिक अवस्था भी ऐसी ही थी।

यज्ञ की शक्ति द्वारा वर्णाश्रम के पुनरुद्धार के लिये व्यग्र वर्णाश्रमी समाज और धर्मचक्र की नित्य की प्रतिद्वन्दिता से जन श्रान्त और विरक्त था। अभिजात समाज देवताओं और कर्मफल के भय से उन्मुक्त मारिश के उच्छृंखल लोकायत सिद्धान्तों के प्रचार के कारण जन के अनाचार की आशंका से त्रस्त थे। मारिश के यज्ञ-बलि-कर का विरोध करने और संघस्थविर के आदेशानुसार मूर्ति उत्कीर्ण न करने के अपराध में धर्मास्थान से दण्डित होने के कारण जन मौन रह कर भी क्षुब्ध था। मधुपर्व के अवसर पर हुये आर्य रुद्रधीर और पृथुसेन के विवाद का निर्णय, परिणाम की आशंका के कारण धर्मास्थान में स्थगित ही रहा। मद्र के गण राज्य की सेना में नवीन पदाधिकारियों की नियुक्ति की समस्या अनेक कुलों की प्रतिद्वन्दिता के कारण परिषद में स्थगित रही। सब से अधिक विक्षिप्ति का कारण थे, मद्र की उत्तर-पूर्व सीमा से आने वाले दार्वराज यवन केन्द्रस के आक्रमण के समाचार।

महाराज मिलिन्द के दीर्घ राज्यकाल में और तदुपरान्त कुलगण राज्य के समय, आधी शताब्दी से अधिक समय तक आक्रमण और युद्ध के संकट से मुक्त मद्रजन और सागल का समाज युद्ध की अनुभूति और भावना भूल चुका था। उनकी कल्पना यज्ञों के अनुष्ठान के लिये बलि धन संग्रह, चैत्यों की स्थापना, भिन्न प्रदेशों के व्यापार द्वारा समृद्धि, कुलों के अग्रहार में बस कृषक प्रजा से स्वामी भाग ग्रहण करने, दूसरे प्रदेशों से सबल, भृत्ति-योग्य दासों और लोल-अंगी दासियों को लाने और गणपरिषद की सदस्यता के अधिकार और सम्मान के लिये अनेक कुलों की स्पर्धा से ही पूर्ण थी।

प्रतापी यवनराज मिलिन्द की शासन व्यवस्था कुल-गणराज्य के हाथों में जाने पर मद्र की सैनिक व्यवस्था भी बदल गई। मद्र का राज्य कोष बौद्ध विहारों की सेवा में रिक्त हो चुका था। महाराज

मिलिन्द की विजय लिप्सा के समय की सदा सन्नद्ध बीस सहस्त्र सेना के पोषण के लिये अब उपाय न था। मिलिन्द राज्य के आयुध-जीवी सैनिक महाराज के युद्ध नीति से उदासीन हो जाने के कारण दूसरे प्रदेशों की सेना अथवा अन्य व्यवसायों में लगगये। अनेक ने धनुष और खड्ग के स्थान कषाय चीवर और भिक्षा पात्र ग्रहण कर लिया। गण के कोष में द्रव्य का अभाव देख, महासेनापति-गणपति मिश्रोद्रत ने सेना का आयोजन कुलों को सौंप दिया। मद्र के कुल-गण-राज्य की परिषद के प्रत्येक सामन्त सदस्य को कुलगण की सेना के लिये पाँच सौ से एक हज़ार तक सैनिक और प्रत्येक साधारण सदस्य को दो सौ सैनिक प्रस्तुत करने का भार सौंपा। कुलों के सम्मान और शक्ति के अनुकूल उन्हें गणराज्य से सैनिक सेवा के मूल्य में, पाँच ग्राम से लेकर पच्चीस ग्राम तक के अग्रहार अर्पण किये गये।

केन्द्रस के आक्रमण के समय कुलों द्वारा आयोजित यह सेना केवल गणपरिषद के लेखकों के ताड़ पत्रों और सदस्यों की कल्पना में ही विद्यमान थी। अग्रहार के ग्रामों की प्रजा से प्राप्त कर-बलि सैनिकों के पोषण के लिये नहीं, सामन्तों के विलास में व्यय हो रही थी।

युवा पुत्र के शोक से जर्जर वृद्ध महासेनापति अर्हत धर्मरक्षित के अनासक्ति उपदेश से सांत्वना प्राप्त करने का यत्न कर रहे थे। परन्तु आक्रमण से गणराज्य की रक्षा करने के लिये कर्तव्य के विचार से उन्होंने परिषद के संवाहक, आचार्य प्रवर्धन को मंत्रणा के लिये परिषद निमंत्रित करने का आदेश दिया। परिषद के संवाहक आचार्य ने परिषद के गणपूरक सामन्त कार्त्तवीर को आदेश दिया। अनेक दिन के विलम्ब से परिषद सम्मिलित हुई।

महासेनापति ने चेतावनी दी—"गण की सेना केवल सेना का परिहास मात्र है। आत्मरक्षा के लिये गण उचित सेना-संधान की व्यवस्था करे।" संवाहक आचार्य प्रवर्धन ने संग्राम यज्ञ के अनुष्ठान

और सेना-संधान के लिये धन की आवश्यकता दिखा, गण कोष में विशेष बलि एकत्र करने के लिये राज्य-बलि में वृद्धि की विज्ञप्ति की।

सागल का समाज वर्षाकाल के कर्दम से श्लथ, पावस के घाम से कुम्हलाया, वातासहीन उत्ताप से व्याकुल और केन्द्रस के दस्युदलों के प्रतिदिन समीप आते जाने के समाचारों संत्रस्त और निस्तेज हो रहा था। पथ वीथियाँ और पण्य विरूप और शोभाहीन हो रहे थे। आक्रमण का त्रास, युद्ध के लिये बलात कर उगाहते फिरते राजपुरुषों के आतंक से और अधिक असह्य हो रहा था। जन समाज के हृदय में, युद्ध में विजय पाने का उत्साह नहीं, उस भय से त्रास पाने की विभीषिका फैल रही थी। सब ओर त्रासमय प्रतीक्षा थी; केन्द्रस के आपहुंचने पर क्या होगा? कुल गणराज्य में कुलीन वंशों के आतंक और युद्ध के लिये नित्य बढ़ती राजस्व बलि और सामन्तों के सैनिकों द्वारा नागरिकों, शिल्पियों और कृषकों के सैन्यसेवा के लिये बलात धर लिये जाने से मुक्ति होगी या केन्द्रस के सैन्य-दल द्वारा और अधिक अपहरण? केन्द्रस के निरंकुश, रौद्र-प्रताप और उसकी करुण प्रजावत्सलता की अनेक कल्पित, अतिरंजित कथायें आपानकों और पण्यों में फैल रही थीं। सब ओर दैव के सम्मुख असामर्थ्य का भाव था।

श्रेष्ठि, सार्थवाह और व्यापारी आशंका से अपना द्रव्य समीपवर्ती मालव, कठ आदि गणों के प्रदेशों तथा शूरसेन और मगध की ओर भेज रहे थे। सामन्त सर्वार्थ, कार्त्तवीर, और आचार्य प्रवर्धन के प्रासादों में अनेक प्रहर रात्रि बीते तक मंत्रणा होती रहती। आचार्य प्रवर्धन अनेक गुप्त संदेश शूरसेन और मगध भेज चुके थे। वे आशा कर रहे थे, वर्णाश्रम का पुनरुद्धारक, ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र केन्द्रस से मद्र की रक्षा के लिये सेना भेज, मद्र में मगध की भाँति मुण्डी-धर्म का नाश कर, वर्णाश्रम की स्थापना करने से न चूकेगा। इस प्रयोजन की विज्ञप्ति वे परिषद में उपस्थित करना चाहते थे परन्तु यवन सामन्तों,

तथागत के धर्मचक्र के प्रति अनुरक्त गणपति, सामन्त इन्द्रसेन और धर्मस्थ देवशर्मा से आशंकित हो वे ऐसा न कर सके। सामन्त सर्वार्थ और कार्त्तवीर इस समय सेना सन्धान कर, केन्द्रस से आत्मरक्षा के फलस्वरूप पौरव वंश के उत्तराधिकारियों के हाथ में शक्ति ले, पुनः पौरव-वंश का राज्य स्थापित करना चाहते थे। गण के महाशाल, श्रेष्ठि और व्यापारी गण के सेना संयोजन के लिये अन्न, वस्त्र, रथ, अश्व और अन्य सामिग्री मन चाहे मूल्य पर प्रस्तुत कर, दोनों हाथ से द्रव्य संचय कर उसे तक्षशिला, पुष्पपुर और मथुरापुरी के अन्तरायण पथों में भेज रहे थे।

सागल नगरी के अनेक पीढ़ियों की पौध से भरे समाज में महा-पण्डित, महावृद्ध धर्मस्थ देवशर्मा और वयोवृद्ध गणपति मिथोद्रस ही दो ऐसे व्यक्ति थे जिनकी स्मृति में युद्ध की अनुभूति शेष थी। गण-पति की स्मृति में आक्रमणकारी विजेता के रूप में और महापण्डित देवशर्मा की स्मृति में पराभूत, विजित के रूप में। केन्द्रस के सागल की ओर बढ़ते आने के समाचार से महावृद्ध की स्मृति के नेत्रों के सम्मुख अग्नि के विभ्राट में प्रशस्त अट्टालिकाओं का अंगारों का रूप धारण कर गिरना, नगर पर छाये धूयें के मेघों से श्वासावरोध, पथों और वीथियों में रक्त की धारायें और कीचड़, स्त्रियों का आर्तनाद, और पराजित अभिजात समाज का बन्दी के रूप में अपमान प्रत्यक्ष होने लगा। पुत्र शोक से विह्वल, अनासक्ति की साधना में आत्मविस्मृत गणपति का अनेक बार उद्बोधन कर, वे गण की आत्मरक्षार्थ विचार के लिये परिषद का निमंत्रण कराते परन्तु परिषद का समय अप्रासंगिक विवाद में समाप्त होजाता।

महाश्रेष्ठि प्रेस्थ ने भी परिस्थिति की उपेक्षा न की। उन्होंने गण के सैन्य आयोजन कार्य में सैकड़ों अश्व और रथ समीपवर्ती देशों से मंगवाकर बेचे और सहस्त्रों स्वर्ण मुद्रा लाभ उठाया। महापण्डित

धर्मस्थ और गणपति की युद्ध विषयक आशंका जान, उन्होंने एक सहस्र स्वर्णमुद्रा स्वेच्छा से युद्ध कोष में बलि अर्पण कर दोनों का ही आदर और विश्वास प्राप्त किया और अत्यन्त गुप्त मंत्रणाओं में योग देने के अधिकारी बन गये। उन्होंने सेना का नियंत्रण विशेष जाने परखे सेनानियों और नवीन विश्वासपात्र बलाधिकृतों के हाथ में रखने का परामर्ष दिया। प्रेत्थ के परामर्ष की अवज्ञा करना किसी के लिये भी सम्भव न था। सेना-सन्धान के विषय में विशेष परामर्ष करने के लिये पुनः परिषद सम्मिलित हुई। परन्तु आचार्य प्रवर्धन के कौशल से सेनापतियों के पद परिवर्तन और निर्वाचन का कार्य ठीक से न हो पाया। सामन्त कार्तवीर के समर्थन से आर्य इन्द्रदीप और आर्य वृष्णेश अश्वसेना के और आर्य विनय शर्मा रथ-सेना के नवीन बलाधिकृत नियत हो गये।

गणपरिषद के सम्मुख गण की सेना में पद के लिये और धर्मास्थान में न्याय के लिये पृथुसेन का आवेदन उपेक्षित और स्थगित ही रहा। उसे जन और समाज में सद्य और अव्यवस्था, शैथिल्य, आशंका और सन्देह ही दिखाई देता। स्वयम भी वह उत्साहहीन और आशंकित था। उसके पिता उसे उत्साहित कर सांत्वना देते पुत्र, अवसर शीघ्रगति से चला आ रहा है। उसे पकड़ने के लिये उत्साहित और सतर्क रहो। जानते हो, यवन देश के विद्वानों की उक्ति है—अवसर का मुख उसके मस्तक से लटके केशों में छिपा रहता है। उसे पहचानना कठिन अवश्य है परन्तु उसे वश किया जा सकता है तो केवल अग्रवेशों से। अवसर के सिर का पिछला भाग केश हीन है। सामने से निकल जाने पर उसे सभी पहचान लेते हैं परन्तु गंजे सिर पर हाथ मारने से कुछ हाथ नहीं आता। इसलिये अवसर की प्रतीक्षा में सतर्कता और तत्परता आवश्यक है। पुत्र, यदि तुममें साहस, शौर्य और प्रतिभा है, तुम्हारे हाथ में धन है तो इसी संकट के समय तुम्हारा मूल्य आंका

जायगा। पुत्र, साहस करो! समर्थ लोगों का विश्वास प्राप्त करो! वृद्ध धर्मस्थ और गणपति की सेवा में आओ! सामन्त ओक्सि और सामन्त इन्द्रसेन से आत्मीयता स्थापित करो!"

पिता के आदेश से भी विश्वास और कृपा की भिक्षा मांगने जाना पृथुसेन के लिये सह्य न था। वह उत्साहित न हुआ। अभिजात समाज में अपने प्रति उसे सब ओर मौन और कायरतापूर्ण तिरस्कार दिखाई देता। कहीं भी जाना उसे अच्छा न लगता। समाज, आपानक, समाह्वय कहीं उसे उत्साह न होता। पान और नृत्य में उसे रुचि न रही। समय बोझल जान पड़ने पर वह अपने प्रासाद के उद्यान में वृक्ष के नीचे बैठ वायु से हिलते पत्तों को लक्ष बना कर बाण से बेंधता रहता अथवा अपने परिपार्श्वक दास श्वंग से चतुरंग का खेल खेलता रहता।

संध्या समय यदि कभी वह मल्लिका अथवा वसुमित्रा के यहाँ जाता भी तो केवल दिव्या से मिलने की आशा में। उसके दुख से दुखी दिव्या के सामीप्य से उसे सांत्वना मिलती। जीवन का उसे एकही मार्ग दिखाई देता—संसार में उसे मनुष्य जान जिसने अपनाया, अनेक बाधाओं की उपेक्षा कर अपना हृदय अर्पित किया, वही दिव्या उसका एक मात्र अवलम्ब थी; अपनी थी। उसी दिव्या को ले वह किसी अज्ञात दिशा और देश में जा अपने लिये नया स्थान, नया समाज, नया संसार बसा ले। ऐसे देश में जहाँ वह अपने जन्म के लिये दण्डित न हो! जहाँ वह अज्ञात कर्मों के फल से विवश न हो! जहाँ उसे कर्म करने का स्वतंत्र अवसर हो! जहाँ उसका पुरुषार्थ और प्रतिभा अकुलीन पिता की सन्तान होने के कारण व्यर्थ न होजाय!

मद्र की सीमा पर केन्द्रस के दल द्वारा मद्र की सेना के पराजित हो जाने के समाचार से युद्ध का त्रास सागल के नगर-समाज के सभी स्तरों में गहरा समा गया। किसी भी स्थान और समय, कहने वाले एक

मुख और सुननेवाले दो कानों का संयोग होजाने से युद्ध का प्रसंग आरम्भ हो जाता। देवी मल्लिका ने भी संग्राम-यज्ञ में धन की बलि दे सहयोग दिया था। उसके चतुश्शाल में भी संगीत और नृत्य के मध्य में, सैनिक कार्य और शासन से सम्बंध रखने वाले राजपुरुषों में, युद्ध का प्रकरण आरम्भ हो जाता। हाथ में चषक थामे वक्ता और श्रोता ललित कला का लास्य भूल युद्ध की विभीषिका के विवेचन में आत्मविस्मृत होजाते। जीवन के आनन्द से जीवन की रक्षा की चिन्ता अधिक प्रबल हो जाती। सुरा का प्रभाव बढ़ने पर विवेचना प्रायः प्रलाप का रूप ले लेती। पृथुसेन सुनता और मूर्खता और कायरता से उद्विग्न हो मौन रह जाता।

पर्याप्त सुरा पी इन्द्रदीप वक्षस्थल फुला कर कह रहा था—"····· युद्ध द्विजों के भुजबल से जीता जाता है। उसके लिये हृदय में तेज और सामर्थ्य की आवश्यकता है। जैसे सेनापति पुष्यमित्र! हमारे वृद्ध सेनापति, विचारों की विशृंखलता से जिनका सिर हिलता रहता है, क्या युद्ध करेंगे?·····इन साधारण जयों पराजयों से क्या होता है? इन धमनियों में पौरव वंश का रक्त है। जिसके शौर्य के भय से यवन-राज मिलिन्द विजयी होकर भी राज्य न कर सके। प्रव्रज्या ग्रहण कर, भिक्षा पात्र की शरण ली। अभी जिस दिन महा बलाधिकृत इन्द्रदीप सैन्य संचालन करेंगे, उस दिन देखना-केन्द्रस की क्या अवस्था होगी?" मद्यका आधार लिये सम्मुख खड़ी दासी की बाहु पकड़ इन्द्रदीप ने अपने अंक में खींच लिया—"उस दिन केन्द्रस की पत्नियाँ सामन्त इन्द्रदीप के अंक में इसी प्रकार शोभित होंगी हा-हा····· !"

दासी मग्गा इन्द्रदीप के उन्मत्त व्यवहार से भयभीत हो सिहर उठी। मल्लिका ने उंगली होठों पर रख इन्द्रदीप को संकेत किया—"न आर्य, दीन अबला को त्रस्त न करें!"

इन्द्रदीप के समीप बैठा श्रीमुख शर्मा का पुत्र केदार शर्मा मल्लिका

की वर्जना पर खिन्न हो बोला–"इसी परवशता के लिये हम केन्द्रस के खड्ग के आघात अपने शरीर पर सहेंगे ?" दोनो हाथ फैला समर्थन के विश्वास में उसने सब ओर देखा–"हाँ, कहो ? एक दासी के सम्मुख भी सामन्तकुमार विवश है ? वह दासी से भी स्वच्छन्द व्यवहार नहीं कर सकता ? उसे दासी की भी स्वीकृति का दास होना पड़े ? धृष्टजन सागल के पथों और वीथियों पर द्विजवर्ग से स्पर्धा और अवज्ञा करें ? तन्तुवाय और कम्मकार हमारे समान आसनों पर बैठें ? मद्रगण के ऐसे शासन में हमारा क्या है ? उसी के लिये हम अपना रक्त बहायेंगे ? क्यों श्रेष्ठी उदयभानु ?"—केदार शर्मा ने उपधान के आश्रय शिथिल उदयभानु को समर्थन के लिये सम्बोधन किया।

अलस उपेक्षा से उदयभानु ने उत्तर दिया—"मेरे लिये सब समान है। जिस प्रकार मद्रगण राजस्व के रूप में मेरे व्यापार का श्रेष्ठांश ले लेता है उसी प्रकार केन्द्रस मेरा शोषण करेगा। गण ने मुझसे एक सौ स्वर्णमुद्रा संग्राम-यज्ञ-बलि में लिया है। क्या गण मेरी रक्षा सौ गुणा अधिक करेगा ?···क्या मेरा शरीर दूसरे नागरिकों से सौ गुणा अधिक बड़ा है ?"—अपने स्थूल उदर पर हाथ फेरते हुये उदयभानु ने कहा—"भाई, मैं किसी को कुपित क्यों करूँ ? मेरे लिये सब समान है। मैं, मैं, मैं तो दीन वैश्य हूँ। राज्यसिंहासन का अधिकारी जो हो; वैश्य तो दीन सेवक है।"

इन्द्रदीप ने मल्लिका को सम्बोधन किया—"देवी, तुम जानती हो। तुम्हारी कला की क्षमता की शपथ ! देवी सरस्वती की शपथ ! मुण्डियों ने मद्र को भीतर से खा कर उसी प्रकार खोखला कर दिया जैसे दीमक काष्ठ स्तूप को खा लेता है। राज्य का त्रितियांश निष्क्रय मुण्डियों से भरे विहारों की सेवा में व्यय होजाने से शेष क्या रहेगा ? केन्द्रस का विरोध मद्र शस्त्रधारी सैनिकों से नहीं, चीवर और भिक्षा पात्र धारी भिक्षुओं से करेगा। तथागत के मृगशावक मद्र की रक्षा करेंगे ? आखेट

के श्वान को भूखा रख, मृगशावकों को पालने का परिणाम यही होता है। केन्द्रस के खड्ग का प्रहार सहने के लिये अर्हत धर्म रक्षित को भेजो, स्थविर चीवुक को भेजो!" वह अट्टाहास कर उठा।

मल्लिका हास्य में योग न दे सकी। इन्द्रदीप को सम्बोधन कर उसने उत्तर दिया—"आर्य, क्या पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता का परिणाम शत्रु के हाथ आत्म समर्पण होगा?·····जब मद्र और सागल नहीं रहेंगे, किसका उपालम्भ कौन सुनेगा·····?"

पृथुसेन के लिये अधिक सहना सम्भव न रहा। दिव्या को चतुश्शाल से उठ आने का संकेत कर वह कुछ निभृत ताल की ओर चला गया। कुछ ही क्षण में दिव्या संकेत का अनुवर्तन कर पीछे चली आई।

दिव्या का हाथ अपने हाथ में ले पृथुसेन ने क्षोभ से कहा—"प्रिये, देख लिया तुमने? यह है युद्ध के लिये आयोजन? दुर्दान्त केन्द्रस मद्र की ग्रीवा पर अपना निर्मम पादत्राण रखे हैं और मद्र के नायकों में यह षड्यंत्र चल रहे हैं।

दिव्या ने अधीर हो उत्तरीय से नेत्र ढंक लिये। उसकी पीठ पर बाहु रख पृथुसेन बोला—"इन लोगों की दृष्टि में यह आक्रमण केवल मुण्डी-धर्म के पाप का प्रायश्चित है। आचार्य प्रवर्धन संग्राम यज्ञ की ओट में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना का षड्यंत्र चला रहे हैं। कोई नहीं सोचता—पुष्यमित्र हो या केन्द्रस, मद्र में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना के लिये अपना रक्त बहाने नहीं आयगा। उन्हें प्रयोजन है, अपने साम्राज्य विस्तार से, मद्र की भूमि के धन-द्रव्य से। इनका विचार है, केन्द्रस मद्र विजय कर इनके ब्राह्मणत्व के जन्म अधिकार से इन्हें पूज्यदेव मान, इनकी पूजा करेगा। पराजित होनेवाले कभी पूज्य नहीं होते। केन्द्रस स्वयम् अपने आपको देवता समझता है। उसकी अपनी तुष्टि के लिये ही यह यज्ञ है। सम्पूर्ण सागल यज्ञ कुण्ड होगा। उसमें इन भूदेवों और सामन्तों के शरीर और उनकी सम्पत्ति यज्ञ की बलि

बनेंगे। बचेंगे केवल वे लोग जो अपना मनुष्यत्व खो, केन्द्रस के पादत्राण की ठोकर को सम्मान समझेंगे। क्या यह बचना है? इनके अन्तःपुरों का चरण से भूमि स्पर्ष न करने वाला कुल-नारी समूह केन्द्रस के विजयोन्मत्त भूखे, कामुक, सैनिकों के लिये द्राक्षा के गुच्छों की भाँति मोहक होगा। अभिजात और कुलीन होने का अभिमान करने वाले शृंखलाबद्ध दासों की भाँति फिरेंगे।·····भय से चीत्कार करती सागल की कुल नारियाँ और द्विज कुमारियाँ विजय की लूट में समेटी जायगी··· सर्वनाश की उस अग्नि में हमारे जीवन की सब आशा समाप्त हो जायगी·····।"

अपने विचारों की विभीषिका में आत्मविस्मृत पृथुसेन की दृष्टि जल कुण्ड में दोलायमान तारों के प्रतिबिम्ब की ओर लगी हुई थी। दिव्या का हाथ उसके हाथों से छूट, कटिबंध में लगी कटार उसके हाथों में जा पहुँची। अपने मुख पर लगी दिव्या की दृष्टि का ध्यान उसे न रहा। आत्मसात वह कहने लगा—"मैं जब कल्पना करता हूँ, हमारे प्रज्वलित प्रासादों की ज्वालाओं के प्रकाश में विजय और मद से मत्त दार्व सैनिक तुम्हारे शरीर पर हाथ डालेंगे और मैं शृंखलाबद्ध खड़ा होऊँगा···उससे पूर्व या तो मैं शत्रु के खड्ग से जीवन मुक्त हो चुका होऊँगा या स्वयम् अपनी कटार से·····। परन्तु अपनी मृत्यु के पश्चात् भी तुम्हारे लिये उस दारुण विभीषिका की कल्पना असह्य है·····।"

दिव्या के सिसकने के शब्द से विचारतंद्रा से जाग पृथुसेन ने उसे कटि से अपने बाहु पाश में समेट, आलिङ्गन में हृदय पर ले लिया। दिव्या के माथे, कपोल और मुख के अनेक चुम्बन ले, अपने मुख के सम्मुख उसका मुख हाथों में थाम, पृथुसेन ने सान्त्वना दी—"दिव्वो, भय और त्रास से क्या लाभ? जीवन के दो क्षण पूर्णता से जी कर साहस से जीवन समाप्त कर दें।" दिव्या को सान्त्वना देने के प्रयत्न में वह स्वयम् दिव्या के शरीर की सजीवता में आश्रय ढूंढ़ने लगा। अपने

गूढ़ आलिंगन में शिथिल दिव्या के मेरुदण्ड और कटि को उसने और अधिक समेट लिया। शेष शरीर से ऊपर उभरे, कंचुक में बंधे दिव्या के उरोज उसके हृदय की धड़कन को आश्रय देने के लिये ही आगे बढ़ आये थे। उसकी ठोड़ी दिव्या के केशों पर आश्रय पाये थी। उसका मस्तिष्क उन केशों की गंध की मधुर मूर्छा में विस्मृत हो रहा था। युद्ध की भीषण, रुद्र कल्पना का अग्नि विभ्राट दीप शिखा की भांति क्षीण हो, दूर-सुदूर हटता जा रहा था। परम कमनीय तुष्टि के लिये व्यग्र पृथुसेन के प्राण ओठों पर आ, दिव्या के प्राणों के लिये विकल हो उठे। दिव्या के ओठों पर उन्हें पा वे उनसे पृथक न होना चाहते थे। उसके अवश हाथ दिव्या के उरोजों के नीचे स्पन्दित प्राणों की खोज में उसके कंचुक पर चंचल हो उठे।

दिव्या सिहिर कर सिमिट गई। आत्म-समर्पण की तुष्टि और आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति की दुविधा में उसके हाथों ने पृथुसेन के हाथों को थाम लिया। एक दीर्घ निश्वास से संयत हो पृथुसेन ने अपने ओंठ दाँत से दबा लिये। क्षण भर के लिये उसकी दृष्टि से लुप्त युद्ध की विभीषिका फिर उसके सामने आ गई। शिथिल हाथ दिव्या के कंधे और कटि पर रखे और दृष्टि जल कुण्ड में दोलायमान तारों के प्रतिबिम्ब पर लगाये, उत्तेजिना की व्यर्थता से मुख में भर गई कटुता को निगल वह फिर बोला—"दिव्वी मैं मृत्यु से भय नहीं मानता····· मृत्यु क्या है? अस्तित्व का अन्त! जिसका अस्तित्व नहीं, जिसे अनुभूति नहीं, वह भय भी अनुभव नहीं कर सकता। भय है जीवित रह कर पीड़ा और पराभव पाने में·····जीवन भर के पीड़ा और पराभव से। तुम्हें अंक में ले समाप्त हो जाने से कौन इच्छा अपूर्ण रह जायगी? फिर उसमें भय क्या? वह सुखद अस्तित्व का सुखद अन्त है। परन्तु युद्ध में पराक्रान्त हो, पराभूत हो, जीवन भर तिल-तिल कर मरने की कल्पना मैं सहन नहीं कर सकता। जीवन की

सार्थकता अधिकार और सामर्थ्य में ही है।·····इन लोगों के लिये युद्ध षड्यंत्र की अभिसन्धि पूर्ण करने का अवसर मात्र है। वे परस्पर एक दूसरे को शत्रु समझते हैं परन्तु जो वास्तव में सबका शत्रु है, उस से सभी मित्रता और सहायता की कल्पना कर रहे हैं। पुत्र शोक में संसार से विरक्त महासेनापति के सम्मुख महाराज मिलिन्द का आदर्श है। वे पहरों अर्हत धर्मरक्षित से निर्वाण-मार्ग के सुख की कल्पना सुन, शान्ति पाते हैं। आचार्य संवाहक अपने पूर्वजों की भाँति केद्रस के मंत्री पद की आशा में मद्र को भस्मीभूत देखने के लिये तैयार हैं·····नगर और गण की सम्पूर्ण प्रजा का जीवन इन लोगों के स्वार्थपूर्ण कुचक्रों पर निर्भर है। जिनके लिये स्वार्थ लाखों जनके प्राणों से अधिक प्रिय है·····" पृथुसेन जल कुण्ड के तारा-बिम्बित स्तर की ओर दृष्टि लगाये रहा।

पृथुसेन का हाथ अपने चिबुक पर रख दिव्या ने अनुरोध किया—"प्रिय, तात के समीप जाओ! वे भी तुम्हारी ही भाँति युद्ध के परिणाम की विभीषिका से चिन्तित हैं। उन्हों ने मिलिन्द द्वारा मद्र का पराभव अपनी आँखों देखा था। उनकी प्रतिज्ञा है, उस नारकीय दृश्य को देखने लिये उनका शरीर शेष न रहेगा। तात बहुत कुछ करने में समर्थ होंगे। महासेनापति उनकी अवज्ञा न कर सकेंगे·····। आचार्य भी न कर सकेंगे।"

अन्धकार में दिव्या के नेत्रों में दृष्टि गड़ा पृथुसेन बोला—"दिव्या, अब भी यदि अवसर मिले तो मैं बर्बर के केन्द्रस का अवरोध कर सकता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है। परन्तु अवसर न होने से क्या कर सकता हूँ·····।"

पृथुसेन का हाथ अपने हाथों में दबा, दिव्या ने पुनः आग्रह किया—"प्रिय, तात के समीप अवश्य जाओ!·····एक बेर जाकर देखो·····

मैं स्वयम उनसे निवेदन करूँगी !·····विलम्ब हो रहा है प्रिय, कंचुकी प्रतीक्षा कर रहा है।·····चलूँगी।"

* * *

मल्लिका-प्रासाद के सिंहद्वार पर प्रतीक्षा में खड़े अश्व रक्षक की उपेक्षा कर पृथुसेन पैदल ही चला। राजपथ छोड़ वह तन्तुवायों की वीथी से जा रहा था। वीथी प्रायः निर्जन और जहाँ-तहाँ साधारण स्थिति के भवनों से पड़ने वाले प्रकाश के अतिरिक्त अंधियारी थी। शिला मण्डित पथ पर उसके पीछे चले आते घोड़े के सबल सुमों की आहट से वीथी प्रतिध्वनित हो रही थी। पृथुसेन विचारमग्न चला जा रहा था।

संकीर्ण वीथी से निकल वह अपेक्षाकृत विस्तृत लोहकारों के मार्ग पर आया। पण्य उठकर मार्ग प्रायः निर्जन हो चुका था। केवल कुछ पण्यों पर क्षीण प्रकाश था जहाँ से मद्य की तीखी गंध आ रही थी। कहीं-कहीं आग पर मांस और दूसरे खाद्य पदार्थ भूने जा रहे थे। एक स्थान पर प्रकाश अधिक था और जनरव का कोलाहल सुनाई दिया। घोड़े के सुमों की आहट सुन एकत्र समुदाय ने पृथुसेन की ओर ध्यान दिया। उसका वेश देख, कोलाहल सम्भ्रम से रुक गया। अपनी ओर समुदाय का ध्यान आकर्षित होने से पृथुसेन की विचार तंद्रा टूटी। उसे जान पड़ा, उस कोलाहल में युद्ध का ही प्रसंग चल रहा था।

कुछ आगे बढ़ पृथुसेन ने अपना बहुमूल्य उष्णीष उतार अश्व-रक्षक को सौंप, अश्वसहित प्रासाद लौट जाने का आदेश दिया। उत्तरीय से शरीर ढंक वह अकेला चला। अब ध्यान से देखने पर उसकी ग्रीवा पर कुंचित केशों के बीच से दिखाई देने वाले बहुमूल्य कुण्डल ही उसके असाधारण व्यक्ति होने का परिचय देते थे।

आगे वेश्याओं का चतुर्मार्ग था। भवनों के ऊपर के खण्ड के अलिन्दों से नीचे मार्ग में एकत्र समुदाय पर प्रकाश पड़ रहा था। अनेक बालक

बालिका ऊँचे स्वर में पुकार कर 'प्रेमियों के योग्य सुगन्धित पुष्प-मालायें' बेच रहे थे। एक बालक ऊँचे तीखे स्वर में भुने कोमल मांस का स्वाद चखने का निमंत्रण दे रहा था। मद्य के पण्य के सम्मुख खड़ी एक वृद्धा एक मद्यप के अंगरखे का छोर थामे, मूल्य के लिये विवाद कर रही थी। उन्हें चारों ओर से घेर कर दूसरे लोग हँस रहे थे।

वृद्धा ऊँचे और खिन्न स्वर में चिल्ला रही थी—"···नहीं, मूल्य पाये बिना मैं तुम्हें पण्य से न जाने दूँगी। तुम सैनिक बन गये हो तो इससे क्या? कल तुम दार्व चले जाओगे तो मैं मूल्य किस से पाऊँगी। क्या मद्य बिना मूल्य के बनता है? वाह जी, तुम बड़े छलिया हो। बिना मूल्य साथ लिये मद्य पीने आते हो। सैनिक बन तुम युद्ध में जा रहे हो तो मुझे क्या? जिस सामन्त के सैनिक बने हो, जिस की रक्षा करोगे उसी से मद्य भी लो। मुझ दीन बुढ़िया को क्यों छलते हो? दो स्वर्ण मुद्रा तो राजपुरुष मुझसे संग्राम-यज्ञ की विशेष बलि ले चुके।

बुढ़िया की बात काट कोई बोल उठा—"संग्राम-यज्ञ की विशेष बलि एकत्र करने से राजपुरुषों का धन खूब बढ़ेगा। बुढ़िया तेरे दो स्वर्ण मुद्रा में से एक गण कोष में जायगा और एक राजपुरुषों के घर में। केन्द्रस हमें क्या लूटेगा? उससे पूर्व मद्र के राजपुरुष ही हमें लूट लेंगे। अरी बुढ़िया, बलात बलि लेने आने वाले राजपुरुषों को तू बिना मूल्य मद्य पिला अनुगृहीत होती है और अपने समान दीन ग्राहकों से जल मिले घूंट-घूंट मद्य का दूना मूल्य मांगती है।"

बोलने वाले की पीठ पर हाथ मार उसके समीप बैठे मद्यप ने कहा—"मित्र यही तो अनोखी चाल है। कुत्ता कुत्ते को काटता है और मालिक के अन्न की रक्षा करता है। जैसे हम-तुम राजपुरुषों की प्रसन्नता के लिये एक दूसरे का हनन करते हैं। मित्र, तुम्हारी कटि में भी राजपुरुष की मुद्रा सहित पट्टा बंध जाय तो जानते हो क्या होगा? तुम ड्योढ़ी पर बँधे कूकर की भाँति पथ पर चलने वाले कूकर पर गुर्राओगे

देखो, स्वयम् खाने से उतना पुण्य नहीं जितना ब्राह्मण को खिलाने से है, जानते हो क्यों ? ब्राह्मण देवता का कूकर है !"

अन्धकार में एक ओर खड़े पृथुसेन ने बोलने वाले का स्वर विस्मय से पहचाना—मूर्तिकार, दार्शनिक आर्य मारिश ! मारिश के केश और वस्त्र इतने अव्यवस्थित थे कि पहचानना कठिन था। पृथुसेन सोच रहा था—अपदस्थ और सम्पत्तिहीन हो जाने से मारिश की क्या अवस्था हो गई ? उसी समय मूल्य देने में असमर्थ ग्राहक का अंगरखा खींच बुढ़िया के झुंझलाने से पृथुसेन का ध्यान पुनः उस ओर गया। कोई बुढ़िया से कह रहा था—"कृपण, दीन नागरिक के प्रति इतनी निष्ठुर न हो। सैनिक सेवा के लिये सामन्त के सैनिकों द्वारा बलात धर लिये जाने पर यदि दुख में उसने एक चषक मद्य पी ही लिया तो क्या हुआ ?

एक अन्य वृद्ध मद्यप एक हाथ में मिट्टी का पानपात्र और दूसरे में खाद्य लिये अपने स्थान से उठकर बोला—"सखा शाण्डेय, तेरे पान का मूल्य मैं दूँगा। तू पी, और पी। अपना पात्र उसने शाण्डेय के मुख से लगा दिया। रिक्त पात्र पथ पर पटक वह बोला—"क्या उपयोग है इस धनका ? जो खा लिया, जो पी लिया वही मेरा है। मैं दिन भर उग्र ताप में बैठकर तलवारें गढ़ता हूँ। वही तलवार हाथ में ले राजपुरुष मेरे पुत्र को बलात सैन्यदल में हाँक ले गये। मेरा पुत्र केन्द्रस के खड्ग का प्रहार सहने दार्व जायगा और याजक, पुरोहित मेरे दिये राजबलि के द्रव्य से मंत्रपूत सुरा पान कर, बलि के मांस का भोजन कर, मंत्र पाठ द्वारा रक्षक देवता का आह्वान करेगा। महायोद्धा सामन्त गौर और कृष्ण वर्ण दासियों को अंक में ले शैयारूढ़ होने का पराक्रम करेगा और खड्ग के अघात से कांपता हुआ मेरा पुत्र कायर होगा। हाय इससे तो वह श्रमण बन कर दीर्घजीवी होता तो अच्छा था.....।" मद्यप दोनो हाथ से सिर थाम भूमि पर बैठ गया।

शाण्डेय बुढ़िया के हाथ से अपने अंगरखे का छोर छुड़ा, वृद्ध के समीप बैठ सान्त्वना देने लगा—"तात, रोने से क्या ? दैव बलि है। दैव का बचाया बचता है। दैव का मारा मरता है। मनुष्य के किये क्या होता है। मैं स्वयम् सामन्त का भृत्ति सैनिक हूँ। तुम्हारा पुत्र मेरी रक्षा में रहेगा। भृत्ति सैनिक की शूरता जानते हो क्या है ?····· मारतों के पीछे, भागतों के आगे·····बस !"

शाण्डेय की बात न सुन एक और मद्यप बोलता गया—"अरे, कोई आर्य मुझे एक पान का मूल्य दे ! मेरा बाबा महाराज पौरव के लिये तलवार गढ़ता था। मेरा पिता यवनराज मिलिन्द के लिये तलवार गढ़ता था। मैं मद्र के दो सौ राजाओं के लिये तलवार गढ़ता हूँ। मेरे गढ़े खड्ग से साम्राज्य जीते जाते हैं। मेरे गढ़े खड्ग से राज्य शासन होता है परन्तु मुझे पर्याप्त पान के लिये भी मूल्य नहीं मिलता। मुझे कोई सखा एक पानपात्र दे।"

अनेक मद्यप किसी की न सुन अपनी ही कह रहे थे। जो सबसे ऊँचा बोल पाता उसी की बात पृथुसेन के कानों तक पहुँच पाती ! एक प्रौढ़ अपना पानपात्र आकाश की ओर उठाकर बोला—"राज-पुरुषों ने मेरे तीनों अश्व आज संग्राम के लिमे राज्याधिकृत कर लिये। अश्वराज श्रेष्ठी प्रेस्थ कोष से प्रत्येक अश्व के लिये पाँच स्वर्ण मुद्रा पाता है और मेरे तीनों अश्वों के लिये केवल चार मुद्रा। गण को संग्राम के लिये मेरे अश्वों की आवश्यकता है। सामन्त सर्वार्थ चार-चार कम्बोजी अश्वों से जुते रथों पर मार्ग घेर कर चलते हैं। मेरे अश्वों की गण को आवश्यकता है।·····वह अट्टाहास से हँस पड़ा।

पान की भिक्षा चाहने वाले खड्गकार ने उसके कान के समीप मुख कर खूब ऊँचे स्वर में परामर्ष दिया—"मित्र, चार स्वर्ण मुद्रा का मद्य पियो, मित्रों को पिलाओ। अलोमा के साथ शयन करो और

फिर कषाय चीवर धारण कर, भिक्षा-पात्र ग्रहण कर, आशीर्वाद दे उसके मूल्य में पेट भर अन्न ग्रहण करो। संसार माया है। तृष्णा में क्या रखा है मित्र ? आओ मित्र पियें—!"

एक युवा मूल्य के लिये खिन्न वृद्धा को सान्त्वना दे रहा था—"कृपणे आर्य नागरिक को मद्य के लिये तृषित न कर। आये दिन केन्द्रस के दस्यु तेरे मद के मटों को चूर्ण कर, तेरा मद पी, तुझ पर ही अत्याचार करेंगे·····" उसे बाधित कर दूसरा बोला—"तू कल का बालक क्या जानता है ? केन्द्रस से क्या भय ? गण के दो सौ राजुल्लों से एक राजा का शासन कहीं भला। सागल में धर्मराज मिलिन्द के समय की शान्ति हो जायगी !·····उससे भी ऊँचे स्वर में मार्ग पर लेटा एक युवक दुहाई दे उठा—"मित्रो, मुझे पिलाओ ! मेरे जीवन की आज अन्तिम रात्रि है। सामन्त के राज-पुरुष आज मुझे धरने आये थे। मेरी चतुरा पत्नि ने कहा—"मेरा पति कार्यवश तन्तुवाय के यहाँ गया है। कल आना। कल मैं धरा जाऊँगा। मित्रो, मेरे जीवन की अन्तिम रात्रि·····मुझे पिलाओ !"

उसके समीप बैठा व्यक्ति उसकी जांघ पर हाथ मार कर बोला—"मूर्ख, भृत्ति-सैनिक बन कर प्राण देगा ? पलायन कर जा। सैकड़ों बच गये ! कठों के गण में पलायन कर जा। वहां सामन्तों का राज नहीं। वहां सब मनुष्य समान और स्वतंत्र हैं।

"कैसे पलायन कर जाऊँ !"—विवश स्वर में युवक ने उत्तर दिया—"मेरी पतिव्रता स्त्री, मेरा सुकुमार बालक !·····पुरोहित कहता है, जो स्वामी, सामन्त की आज्ञा से विमुख है, वह परलोक से हीन हो श्वान का जन्म पा दण्ड स्वरूप स्वामी की सेवा करेगा। इस जन्म में दुख पाया, परलोक भी बिगाड़ूँ ?"

तीखे मेरय का स्वाद ओंठों पर चाट कर समुदाय में से मारिश बोला—"मूर्ख, तूने और तेरे स्वामी ने परलोक देखा है ? यह विश्वास ही तेरी

दासता है। तू स्वामी के भोग के अधिकार को स्वीकार करता है, यही तेरी दासता का बन्धन है। तू संकट से पलायन कर रक्षा चाहता है, यही तेरी निर्बलता है। संकट सब स्थान और समय में तेरे साथ रहेगा। संकट का पराभव कर। पराभूत होना ही पाप है। उसका फल तू तत-काल भोगेगा। तू स्वतंत्र 'कर्ता' है। स्वतंत्रता अनुभव करना ही जीवन है। पराभूत सजीव होकर भी मृत है। निर्भय हो! जीवन के लिये युद्ध कर! मृत्यु भय का अंत है। जीवन में उत्तेजित हो! कायर मत बन!' मारिश ने अपना पान-पात्र पुनः होठों से लगा, घूँट भर कातर युवक के हाथ में दे दिया।

रोते हुये वृद्ध का बाहु अपनी ग्रीवा से हटा, शाण्डेय ने मारिश को सम्बोधन किया—"किसके लिये युद्ध करें? किसके लिये प्राण दे दें? सामन्त सर्वार्थ के प्रताप के लिये? आचार्य प्रवर्धन के यज्ञ के लिये? मुण्डी धर्मरक्षित के लिये? हमारा क्या जाता है? किसका सागल? किसका मद्र? जिसे कर्म के भोग से सेवा ही करना है, वह सभी की सेवा कर सकता है?

मेरय से भीगे होंठ चाट कर मारिश ने उत्तर दिया—"तुम भी मूर्ख हो। तुम समझते हो, सेवा करने के लिये ही तुम्हारा जन्म हुआ है, वही तुम्हारा भाग्य है। दूसरे के स्वार्थ साधन के लिये तुम मनुष्य नहीं बने हो। उस कार्य के लिये पशु हैं। अपने लिये लड़ो। सामन्त और आचार्य अपने लिये लड़ते हैं। तुम अपने लिये लड़ो! अपने अन्न के लिये, अपने वस्त्र के लिये, अपने मेरय के लिये। उस स्त्री के लिये जिसे अंक में ले सुख पाते हो। उस सन्तान के लिये जिसमें अपने आपको जीवित पाते हो। मरना तो है ही अपने मनुष्यत्व और अधिकार के लिये मरो। जो बिना विरोध किये दूसरे के उपयोग में आता है, वह जड़ और निर्जीव है, पशु से भी हीन। तुम सामन्तों के राज्य में आधे मनुष्य हो, पूर्ण मनुष्य बनने का यत्न करो। निराशा में

शैथिल्य से पशुत्व मत स्वीकार करो! केन्द्रस बर्बर है। वह उस धन का प्यासा है जो धन तुम्हारे जीवन का आश्रय है। जो मारता है, वह सबल है। जो भय करता है, निर्बल है।" मारिश उठा और एक ओर चल दिया।

एक मद्यप का ध्यान पृथुसेन की ओर आकर्षित हुआ। मद्यप ने सम्बोधन किया—"तुम शिथिल और मौन क्यों हो? तुम भयभीत हो? मारिश कहता है, भय मिथ्या है। किससे त्रस्त हो? युद्ध से भयभीत हो, जाओ किसी द्विज-कुलपति के दास बन जाओ! किसी सामन्त के दास बन जाओ! राजपुरुष तुम्हारा स्पर्श न कर पायेंगे। अपनी पत्नी से खिन्न हो? जाओ वेश्या अलोमा के समीप जाओ! वह नागदंत की भाँति सुचिक्कण है। अलोमा लोभी नहीं है। आओ सखा, पान की गोष्ठी में परिचय मित्रता का सूत्र है।" अपना जूठा कुल्हड़ उसने पृथुसेन के मुख से लगा दिया। पृथुसेन पात्र मुख से हटा अन्धेरे मार्ग पर आगे बढ़ गया। वृद्ध खड्गकार के रोने का शब्द उसे दूर तक सुनाई देता रहा।

* * *

प्रतीक्षा में खड़े दास ने पृथुसेन को शयन-कक्ष का मार्ग दिखाया। अन्यमनस्क अवस्था में वह पर्यंक पर बैठ गया। दीप-शिखा पर मण्डराने वाले शलभों की भाँति कितनी ही चिन्तायें अनेक दिशाओं से आ उसके मस्तिष्क में घूम जातीं—सागल पर बढ़ा आता दुर्धर्ष शत्रु, उस संकट के कारण छाया आतंक, अभिजात समाज का षड्यंत्र, जनका असंतोष और उपेक्षा, भिक्षु समाज की उपेक्षा इन सबका क्या परिणाम होगा? दिव्या का शिथिल हो उसके अंक में आत्म-समर्पण, फिर उसका सिहर कर वरज देना। इतना स्नेह और वरज देना····· क्यों? परन्तु उनका विवाह क्या सम्भव होगा? कब सम्भव होगा? उससे पूर्व केन्द्रस के आक्रमण से क्या हो जायगा? वह सागल को

छोड़ जाय ? मारिश का कहना ठीक ही था !···केन्द्रस का अवरोध कौन करेगा ? जन की सहायता बिना कैसे सम्भव होगा ? कोमल उपधानों की उपेक्षा कर वह हथेली पर ठोड़ी टिकाये, चिन्ता मग्न बैठा रहा। उसकी पीठ पीछे खड़ी दासी उसके आजाने में ही व्यजन से मन्द वातास कर कक्ष की ऊष्मा और पावस में उत्पन्न मच्छरों को दूर किये थी।

"आर्य" पृथुसेन ने माथा उठाकर देखा, "दासी बापा सम्मुख खड़ी थी। पृथुसेन के मौन प्रश्न के उत्तर में दासी ने निवेदन किया "स्वामी ने आयुष्मान के मंगल के प्रति जिज्ञासा की है। आयुष्मान का स्वास्थ्य ठीक है ;·····चित्त प्रसन्न है ?"

दीर्घ निश्वास से पृथुसेन ने उत्तर दिया—"तात से मेरा प्रणाम निवेदन करो। मैं स्वस्थ हूँ।" शैया पर लेट उसने कहा—"प्रकाश नहीं चाहिये।" कक्ष में भिन्न-भिन्न स्थानों पर जल रहे सुगन्धित तैल के पाँच दीपों में से दासी ने चार बुझा दिये। केवल एक दीप शेष रह गया, जिसका प्रकाश पर्यंक के नीचे बिछे आस्तरणों पर पड़ रहा था। पृथुसेन को निश्चल देख बापा चली गई। व्यजनधारी दासी आहट किये बिना पृथुसेन की दृष्टि की ओट हो हवा करने लगी।

पृथुसेन करवटें ले, सिर के नीचे बाहु रख, अनेक प्रकार से लेटा परन्तु निद्रा न आई। एक घड़ी बीत गई। द्वारों और गवाक्षों से कक्ष में झंझावात आने लगा और फिर वर्षा का शब्द और शीतलता। स्वयम शीतल वायु आने से व्यजनधारी दासी व्यजन एक ओर रख निश्चल खड़ी थी। कुछ समय पश्चात दासी ने पर्यंक के समीप उपस्थित आधार से दुकूल ले पृथुसेन का शरीर ढंक दिया। वर्षा और वायु की शीतलता पृथुसेन के विचार विक्षोभ से उत्तप्त मस्तक को शान्ति दे रही थी। शरीर से दुकूल हटा उसने करवट ले ली। कुछ और क्षण पश्चात् उसने दुकूल शरीर पर खींच लिया। पर्यंक ग्रहण करने के पश्चात् आर्य को इतने समय तक निद्रा न आते देख दासी ने अलिन्द में जा,

प्रतिहारी दासी को निद्रोपचार के योग्य दासी प्रस्तुत करने का आदेश दिया।

छिले हुये कदली के समान स्निग्धवर्ण दासी ने निःशब्द पदों से कक्ष में प्रवेश किया। उसका वेश और रूप रुचिर था। ग्रीवा से एक मुक्तावली और नये स्फुटित मालती कुसुमों की मालायें गुलाबी कौशेय पट से पीठ पीछे बंधे सुगोल उरोजों पर झूल रही थीं। निरावरण क्षीणोदर की त्रिवली से कटि की ओर उठता हुआ वर्तुल उभार। कटि पर पीत कौशेय शाटक मुक्तावली की मेखला से सम्भला हुआ। उसके कोमल बाहुओं पर मुक्तावली के अंगद और वलय थे। उन्मुक्त सुगन्धित केश मुक्तावलियों से गुंथे हुये थे। शरीर पर कठोर-स्पर्श स्वर्ण आदि धातु नहीं, केवल शीतल, सुखद-स्पर्श मुक्ता थे।

एक और करवट लेने पर पृथुसेन की दृष्टि दासी पर पड़ी। दासी उसके चरण सहलाने के लिये झुक रही थी। पृथुसेन को करवट लेते देख दासी ने उसकी ओर देखा। दासी के ओठों और दीर्घ नेत्रों में दुविधा का भाव था—स्वामी के संतोष के लिये वह मुस्कराये; अथवा समवेदना में गम्भीर बनी रहे? दासी के उस दुविधा-भाव से पृथुसेन को उलझन सी अनुभव हुई। उसने दासी की ओर से दृष्टि हटा ली। दासी उसके चरण दबाने लगी। उस समय उस स्पर्श से सुख अनुभव न कर पृथुसेन ने पाँव खींच लिये। दासी ने अनुमान किया, आर्य शीत अनुभव कर रहे हैं। एक ओर दुकूल आधार से ले, उसने स्वामी के शरीर पर फैला दिया।

पृथुसेन, शरीर एक दुकूल से ढंका रहने के कारण शीत अनुभव न कर रहा था। दूसरा दुकूल शरीर पर आजाने से उसने दासी की ओर देखा। द्वार से फर-फर कर भीतर आती शीतल वायु में उसके निरावरण शरीर पर रोम खड़े थे। स्वामी के विनोद के लिये उसका शरीर निरावरण था। सहसा पृथुसेन की कल्पना में दिखाई दिया जैसे

सामन्त सर्वार्थ और आचार्य प्रवर्धन के संतोष के लिये सागल विनाश के कुण्ड में धकेला जा रहा है ? सागल का अभिजात समाज, सागल का जन समाज, उसके महामति पिता का कठिन प्रयत्न से समृद्धि प्राप्त परिवार, स्वयम् वह, उसकी दिव्या !·····वह किसके प्रति उपालम्भ से निरपेक्ष है ?·····तातका कहना ठीक है—आत्म विनाश में लगे प्रतिस्पर्धियों को हटाने का यही उचित समय है। दिव्या का अनुरोध है—तात धर्मस्थ के समीप जाऊँ ? महासेनापति का विश्वास प्राप्त करूँ·····। उसने पर्यंक पर करवट ली। उसकी दृष्टि पुनः दुविधा और प्रतीक्षा में खड़ी, शीत से रोमांचित शरीर दासी की ओर गई। संकेत से दासी को विश्राम के लिये चले जाने का आदेश दे, वह फिर विचार में डूबा करवटें लेने लगा। एक और घड़ी व्यतीत हो जाने पर निद्रा ने उसे विश्राम दिया।

निद्रा समाप्त होने पर पर्यंक के समीप जल, प्रक्षालन-पात्र और पोंछन-वस्त्र लिये दासी उपस्थित थी। पृथुसेन ने द्वार से झांका, आकाश घने मेघों से आच्छादित था। अब भी धीमी वर्षा हो रही थी। सूर्योदय हुये बिलम्ब जान पडता था। उसने दासी से प्रश्न किया—"क्या काल होगा दासी?"

"सूर्योदय के पश्चात् डेढ़ घड़ी, आर्य !"

पृथुसेन के कुल्ला कर मुख धो लेने पर, पोंछने के लिये वस्त्र उसकी ओर बढ़ाते हुये दासी ने निवेदन किया—"स्वामी प्रातः से आर्य को दो बेर स्मरण कर चुके हैं। आर्य के विलम्ब से निद्रागत होने का संवाद पा, आर्य की निद्रा समाप्त होने की प्रतीक्षा में स्वामी अंतरंग-आस्थान में उपस्थित हैं।"

पृथुसेन संवाद पा, वस्त्र परिवर्तन कर, पिता की सेवा में उपस्थित हुआ। श्रेष्ठि प्रेस्थ गम्भीर थे परन्तु उन्होंने मुस्करा कर पुत्र के प्रणाम का उत्तर मंगल-कामना से दिया। पुत्र के कंधे पर हाथ रख, रहस्य के

अत्यन्त मंद स्वर में वे बोले—"पुत्र, मद्र की सेना और सागल की स्थिति से तुम परिचित हो। गत संध्या मद्र सेना के केन्द्रस द्वारा पुनः पराजित होने का समाचार आया है। वे सम्वाद गणपति से गोप्य रखे जा रहे हैं। आचार्य की शूरसेन और मगध से गुप्त अभिसंधि के अकाट्य प्रमाण, धन व्यय कर मैंने प्राप्त किये हैं। पुत्र, यह सब प्रमाण और संवाद ले तुम गणपति और धर्मस्थ के समीप जाओ! इस समय तुम उनका विश्वास और आदर प्राप्त कर सकोगे। पुत्र, यह स्वर्ण अवसर है और मद्र के प्रति कर्तव्य भी।"

कुछ क्षण विचार कर पृथुसेन ने उसी प्रकार रहस्यपूर्ण स्वर में परन्तु निराशा से उत्तर दिया—"तात का कथन सत्य है। परन्तु आत्म-रक्षा का अवसर प्रायः बीत चुका है। प्रासादों में स्थित अभिजात समाज के दो-तीन सौ परिवार क्या कर पायेंगे? मद्र का विशाल जन अत्यन्त निरूत्साहित और असंतुष्ट है। वे केवल केन्द्रस की प्रतीक्षा कर रहें हैं। गत संध्या अकुलीन और हीन जन समाज के विचार मैंने स्वयम् सुने हैं। वे क्षुब्ध, त्रस्त, निराश और असंतुष्ट है। तात, सेनापति के निर्देश का विशेष महत्व है परन्तु युद्ध तो जन ही कर सकेगा? जन अत्यन्त असंतुष्ट है, निराश है। वे केन्द्रस का स्वागत करने की प्रतीक्षा में हैं। हमारे लिये सम्भवतः समय रहते सागल छोड़ दूसरे देश में शरण ग्रहण करने अथवा सम्मान सहित युद्ध में प्राण देने के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं।"

पृथुसेन को पहले की भाँति स्थिति से निरपेक्ष न देख, श्रेष्ठि उत्साहित हुये। पुत्र को समीप आसन पर बैठा, वे समझाते रहे—"जन यदि असंतुष्ट है तो संतुष्ट भी हो सकता है। जनका संतोष और सहयोग आवश्यक है परन्तु वह संतोष और सहयोग सामन्त सर्वार्थ और आचार्य प्रवर्धन के प्रति नहीं, गणपति, श्रेष्ठि प्रेस्थ और सेनापति

पृथुसेन के प्रति होना चाहिये····· ।" श्रेष्ठि पुत्र को बहुत समय तक नीति का उपदेश देते रहे।

* * *

मद्र गण के सैन्य को परास्त कर केन्द्रत के दस्युदल तविशा नदी पर पहुँच गये। सीमान्त से आये इन भीषण समाचारों से सागल का नगर समाज अत्यन्त त्रस्त और निरूत्साहित होगया। भयभीत जन अबतक आशंका के पुराने कारणों से अभ्यस्त हो निरपेक्ष होने का यत्न करते, तबतक अधिक त्रास जनक नये समाचार आ कर उन्हें व्याकुल कर देते। ऐसी अवस्था में अप्रत्याशित घटना ने उन्हें और व्यग्र कर दिया। वे घटना के कारण और परिणाम का अनुमान करने लगे।

महावृद्ध धर्मस्थ देवशर्मा का अपने प्रासाद से निकलना असाधारण घटना थी। उसी प्रकार पुत्र-शोक विह्वल व्योवृद्ध गणपति मिथोद्रस भी परम एकान्त सेवी थे। महावृद्ध धर्मस्थ शिविकाआरूढ़ हो गणपति महासेनापति, के प्रासाद में उपस्थित हुये। उसी संध्या गणपति की शिविका उन्हें लिये धर्मस्थ के प्रासाद में पहुँची। महाश्रेष्ठी प्रेस्थ का पुत्र, सागल का सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी पृथुसेन अपने चपल, श्वेत अश्व की ग्रीवा वागुरा से दोहरी किये, धर्मस्थ और गणपति की शिविका के वक्ष में दिखाई दिया।

महाश्रेष्ठि प्रेस्थ का रथ दिन में अनेक बार गणपति और धर्मस्थ के प्रासादों के द्वारों पर दिखाई दिया। सामन्त ओकिस, सामन्त मेघवृत्त और महाशाल समर्थक के रथ भी रहस्यमय व्यग्रता से नगर के पथों का चक्कर लगाते दिखाई दिये। तीन दिन तक यह क्रम रहा। अभिजात समाज और साधारण जनका कौतुहल विकलता की सीमा पर पहुँच गया। तीसरे दिन, संध्या समय आवश्यक विचार के लिये गणपति ने परिषद का तुरन्त-आह्वान किया। दोपहर रात्रि तक जन परिषद के विचार का परिणाम जानने की प्रतीक्षा करता रहा। परिषद

अत्यन्त मंद स्वर में वे बोले—"पुत्र, मद्र की सेना और सागल की स्थिति से तुम परिचित हो। गत संध्या मद्र सेना के केन्द्रस द्वारा पुनः पराजित होने का समाचार आया है। वे सम्वाद गणपति से गोप्य रखे जा रहे हैं। आचार्य की शूरसेन और मगध से गुप्त अभिसंधि के अकाट्य प्रमाण, धन व्यय कर मैंने प्राप्त किये हैं। पुत्र, यह सब प्रमाण और संवाद ले तुम गणपति और धर्मस्थ के समीप जाओ! इस समय तुम उनका विश्वास और आदर प्राप्त कर सकोगे। पुत्र, यह स्वर्ण अवसर है और मद्र के प्रति कर्तव्य भी।"

कुछ क्षण विचार कर पृथुसेन ने उसी प्रकार रहस्यपूर्ण स्वर में परन्तु निराशा से उत्तर दिया—"तात का कथन सत्य है। परन्तु आत्म-रक्षा का अवसर प्रायः बीत चुका है। प्रासादों में स्थित अभिजात समाज के दो-तीन सौ परिवार क्या कर पायेंगे? मद्र का विशाल जन अत्यन्त निरूत्साहित और असंतुष्ट है। वे केवल केन्द्रस की प्रतीक्षा कर रहें हैं। गत संध्या अकुलीन और हीन जन समाज के विचार मैंने स्वयम् सुने हैं। वे क्षुब्ध, त्रस्त, निराश और असंतुष्ट है। तात, सेनापति के निर्देश का विशेष महत्व है परन्तु युद्ध तो जन ही कर सकेगा? जन अत्यन्त असंतुष्ट है, निराश है। वे केन्द्रस का स्वागत करने की प्रतीक्षा में हैं। हमारे लिये सम्भवतः समय रहते सागल छोड़ दूसरे देश में शरण ग्रहण करने अथवा सम्मान सहित युद्ध में प्राण देने के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं।"

पृथुसेन को पहले की भाँति स्थिति से निरपेक्ष न देख, श्रेष्ठि उत्साहित हुये। पुत्र को समीप आसन पर बैठा, वे समझाते रहे—"जन यदि असंतुष्ट है तो संतुष्ट भी हो सकता है। जनका संतोष और सहयोग आवश्यक है परन्तु वह संतोष और सहयोग सामन्त सर्वार्थ और आचार्य प्रवर्धन के प्रति नहीं, गणपति, श्रेष्ठि प्रेस्थ और सेनापति

पृथुसेन के प्रति होना चाहिये.....।" श्रेष्ठि पुत्र को बहुत समय तक नीति का उपदेश देते रहे।

* * *

मद्र गण के सैन्य को परास्त कर केन्द्रस के दस्युदल तविशा नदी पर पहुँच गये। सीमान्त से आये इन भीषण समाचारों से सागल का नगर समाज अत्यन्त त्रस्त और निरुत्साहित होगया। भयभीत जन जबतक आशंका के पुराने कारणों से अभ्यस्त हो निरपेक्ष होने का यत्न करते, तबतक अधिक त्रास जनक नये समाचार आ कर उन्हें व्याकुल कर देते। ऐसी अवस्था में अप्रत्याशित घटना ने उन्हें और व्यग्र कर दिया। वे घटना के कारण और परिणाम का अनुमान करने लगे।

महावृद्ध धर्मस्थ देवशर्मा का अपने प्रासाद से निकलना असाधारण घटना थी। उसी प्रकार पुत्र-शोक विह्वल व्योवृद्ध गणपति मिथोद्रस भी परम एकान्त सेवी थे। महावृद्ध धर्मस्थ शिविकाआरूढ़ हो गणपति महासेनापति, के प्रासाद में उपस्थित हुये। उसी संध्या गणपति की शिविका उन्हें लिये धर्मस्थ के प्रासाद में पहुँची। महाश्रेठी प्रेस्थ का पुत्र, सागल का सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी पृथुसेन, अपने चपल, श्वेत अश्व की ग्रीवा वागुरा से दोहरी किये, धर्मस्थ और गणपति की शिविका के वक्ष में दिखाई दिया।

महाश्रेष्ठि प्रेस्थ का रथ दिन में अनेक बार गणपति और धर्मस्थ के प्रासादों के द्वारों पर दिखाई दिया। सामन्त ओक्रिस, सामन्त मेघवृत्त और महाशाल समर्थक के रथ भी रहस्यमय व्यग्रता से नगर के पथों का चक्कर लगाते दिखाई दिये। तीन दिन तक यह क्रम रहा। अभिजात समाज और साधारण जनका कौतुहल विकलता की सीमा पर पहुँच गया। तीसरे दिन, संध्या समय आवश्यक विचार के लिये गणपति ने परिषद का तुरन्त-आह्वान किया। दोपहर रात्रि तक जन परिषद के विचार का परिणाम जानने की प्रतीक्षा करता रहा। परिषद

का विचार समाप्त न हुआ। जन मनमें कौतूहल लिये उत्कट प्रतीक्षा में निद्रागत हुआ।

प्रातः सूर्योदय से पूर्व ही नगर के पथ और वीथियां तुमुल भेरी नाद से गूँज उठे। अनेक कातर गृहस्थ, निरंतर समापन्न विपत्ति की प्रतीक्षा में रहने के कारण केन्द्रस के दलों को नगर में घुस आया जान, पर्यंक पर असहाय अवस्था में सहसा चीत्कार कर उठे। अनेक एक हाथ से शिथिल अन्तरवासक सम्भालते, आत्मरक्षा के लिये अपने उपेक्षित शस्त्रों की ओर लपके। अधिकांश स्तम्भित हो, आतङ्क मिश्रित कौतूहल से अलिन्दों, द्वारों और गवाक्षों से झांकने लगे। भेरीघोष का अन्त राजकीय तूर्य से हुआ। अश्वारोहियों ने घोषणा की—

"श्री मद्र-गण-परिषद की अनुमति से मद्रगणपरिषद के गणपति परम भट्टारक, महापराक्रमी, महासामन्त, महासेनापति मिथोद्रस युद्ध के संक्रमण काल के लिये गणशासन के सर्वाधिकार ग्रहण करते हैं। गणपरिषद की आज्ञानुसार मद्रगण के कुलों और जनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति, कुल और व्यक्ति के अधिकार से ऊपर, गण की है। कोई राजपुरुष जन से बलात संग्राम-यज्ञ के लिये बलि ग्रहण न करेगा। कोई नागरिक बलात सैनिक कार्य के लिये बाधित न होगा। मद्रगण की सम्पूर्ण प्रजा गण और न्याय के शासन के सम्मुख समान घोषित हैं। मद्र गण की सीमा के भीतर की कोई सम्पत्ति स्वर्ण, अन्न, वस्त्र, पशुधन किसी रूप में देश से बाहर भेजने और ले जाने वाला मृत्यु दण्ड का अधिकारी होगा। कुलों की उत्तराधिकार प्राप्त अनुपार्जित आय का अर्धांश विहारों और संघ के निमित्त अर्पित सम्पत्ति की आयका अर्धांश और अग्रहार सम्पत्ति की पूर्ण आय संग्राम कोष की बलि में अधिकृत होगी। गण के सम्पूर्ण कुलों और व्यक्ति के सम्पूर्ण शस्त्र, अश्व और रथ संग्राम-काल में गण की सम्पत्ति होंगे। गण सेना में स्वेच्छा से सेवा स्वीकार करने वाले पुरुष की कृषि भूमि पर राजस्व क्षमा होगा। स्वेच्छा से

सैन्य कार्य करने वाला दास स्त्री और सन्तान सहित दासत्व से मुक्त होगा। संग्राम क्षेत्र में हताहत सैनिक के परिवार का पालन गण करेगा। यह श्री मद्रगण की अनुमति से परम भट्टारक, गणपति, महासेनापति, महासामन्त मिथोद्रस की आज्ञा है। आज्ञा का पालन सम्पूर्ण मद्र प्रजा के लिये धर्म है।"

घोषणा से अभिजात समाज और जन सभी स्तब्ध रह गये। कुछ ही समय पश्चात कहीं उत्साह से और कहीं क्षोभ से घोषणा पर विमर्ष होने लगा। नयी व्यवस्था की आशा की ऊषा में ही जनका विचार और व्यवहार बदलने लगा। दूरदर्शी जन नवीन बलाधिकृतों और नवीन सेनापतियों की नियुक्ति का अनुमान करने लगे।

आचार्य प्रवर्धन

रात्रि तीन पहर व्यतीत हो चुकी थी। दिन भर आशंकित, आतंकित और व्यग्र रह कर सागल नगरी भी निद्रा, अंधकार और मौन के आच्छादन में विश्राम पा रही थी। केवल नगर प्राचीर और गोपुरों से प्रतिहारी सैनिकों की सावधान रहने की ललकारें कुछ पल के अन्तर पर से, अन्धकार से घनीभूत मौन को स्पन्दित कर देतीं। पथों और वीथियों पर सशस्त्र, मौन परन्तु सतर्क सैनिक पहरा दे रहे थे। मध्य-रात्रि के पश्चात् किसी अज्ञातकुलशील के अथवा सदिग्ध अवस्था में किसी भी व्यक्ति के पाये जाने पर उसे राजपुरुषों के सम्मुख उपस्थित किये जाने का आदेश था। इस व्यवस्था के कारण सागल के मद्यपण्यों और वेश्याओं की वीथियों में, अर्धरात्रि के दो पहर पश्चात् तक चलने वाला, कोलाहल व्यापार शीघ्र ही समाप्त हो जाता।

नगर प्राचीर के अतिरिक्त कहीं प्रकाश और आहट थी तो गण-परिषद के संवाहक, आचार्य प्रवर्धन के प्रासाद के सिंहद्वार पर। अलसाये सारथी, अश्व-रक्षक और अनुचर जम्हाई ले, निरर्थक वार्तालाप से निद्रा का प्रतिकार कर रहे थे। श्रान्त अश्व शिला-मण्डित भूमि पर अपने सुम पटक, श्रान्ति और असन्तोष प्रकट कर रहे थे। अनेक अभ्यागत रात्रि का प्रथम पहर बीतने पर और कुछ दूसरे पहर के अन्त

में विदा हो चुके थे। अनुचरों और अश्वों की दृष्टि प्रतीक्षा में बेर-बेर सिंहद्वार की ओर जा निराश लौट आती। वे दुविधा में थे, उनके स्वामी उन्हें भूल गये या स्वयम् अपने को ही भूल गये ?

अनेक बेर अनेक पहर रात्रि बीते तक, अनेक प्रासादों के सिंहद्वार पर, उन्होंने अपने स्वामियों के लिये प्रतीक्षा की थी परन्तु यह अवसर और वातावरण भिन्न था। न नर्तकियों के पायल, किंकणी का स्वर न संगीत की लय, न अट्टाहास, न कलरव ; न मद्य और न खाद्य पदार्थों की सुगन्ध। उनकी सुध ले भीतर से किसी ने मद्य और मेरय के पात्र न भेजे। द्वार पर खड़े पाँच सतर्क, सशस्त्र प्रतिहारी अन्य समय की भाँति केवल शोभा के लिये न जान पड़ते थे। प्रतिहारियों की आशंकामय तत्परता सारथियों और अनुचरों की प्रतीक्षा को दुस्सह बना रही थी।

सिंहद्वार की भाँति आस्थानागार के अलिन्द में भी दीप-दण्ड-धारी और सशस्त्र प्रहरी तत्पर थे। आस्थानागार में अनेक दीपों का प्रकाश हो रहा था। अनेक अभ्यागतों से घिरे, अत्यन्त चिन्तातुर आचार्य प्रवर्धन के समीप, काष्ठमूर्ति के समान निश्चल, ग्रीवा झुकाये आयुष्मान रुद्रधीर बैठा था। उनके चारों ओर सामन्त कार्त्तवीर सामन्त लक्ष्मण, श्रेष्ठि धर्मजीत, सार्थवाहक बलभद्र, महासामन्त तात धर्मस्थ के पुत्र पण्डित विष्णुशर्मा और पौत्र विनयशर्मा आदि भी वैसी ही चिन्तातुर मुद्रा में उपधानों के आश्रय, प्रायः ग्रीवा झुकाये बैठे थे।

अलिन्द में प्रतिहारी ने रात्रि का तीसरा पहर समाप्त होने का घड़ियाल बजा दिया। घड़ियाल के स्वर से विलम्ब का विचार कर, पण्डित विष्णुशर्मा ने उपधान का आश्रय छोड़, सामन्त कार्त्तवीर को सम्बोधन किया—"महासेनापति के सहसा जागरुक हो, परिषद का आह्वान कर, नगर में घोषणा कराने से जो आशंका हुई थी, वह पूर्ण हुई·····" चिन्ता से माथा झुकाये आचार्य की ओर उन्होंने दृष्टि की। आचार्य ने केवल एक दीर्घ निश्वास लिया। अन्य उपस्थित समाज

भी विष्णुशर्मा की भाँति उपधान छोड़ मतामत प्रकट करने के लिये शरीर को हिलाने-डुलाने लगे। मुख से न कहने पर भी सभी ओर से विलम्ब के कारण श्रान्ति प्रकट हो रही थी।

अन्तःपुर के कंचुकी ने सूचित किया—"कुछ नारियाँ पधार रही हैं।" अभ्यागत नारियाँ अन्तःपुर से आ, अपने सम्बन्धी पुरुषों के समीप बैठ गईं।

जम्हाई रोकने के लिये स्थूल शरीर को सीधा कर सामन्त कार्त्तवीर ने उत्तर दिया—"वर्तमान परिस्थिति में प्रतीक्षा के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं। महासेनापति और धर्मस्थ केवल शिखंडी है। कुटिल नीति के यह बाण सारथी प्रेस्थ के अतिरिक्त किसी के नहीं। हमारे सभी बलाधिकृतों और सेनापतियों के स्थान पर अन्य बलाधिकृत और सेनापति पहले से नियत कर और घोषणा द्वारा जनको वंचित कर, प्रेस्थ ने हमें पंगु कर दिया है। कुचक्र में प्रेस्थ कौटिल्य का शिष्य है। प्रातः सारथी पुत्र भी निश्चय बलाधिकृत क्या, सेनापति के पद पर शोभायमान होगा·····।"

प्रसंग के मध्य में ही विष्णुशर्मा ने रुद्रधीर को सम्बोधन किया—"तात, उचित यही होगा कि सूर्योदय से पूर्व ही तुम नगरद्वार पर पहुँच, द्वार खुलते ही पूर्व दिशा का मार्ग ग्रहण करो। मेरा विचार है, प्रवास का समय तुम अपने मातुलगृह, वल्का में ही पूर्ण करो। गण के दूसरे नगरों की यात्रा कर परिस्थिति जानो। कुछ पक्ष अथवा कुछ मास पश्चात ही इन हीन कुल, नास्तिकों का दमन हो जाने से तुम्हारे सागल लौट आने का अवसर आ सकता है।·····।"

भावों को संयत रखने के लिये दोनो हाथों की उँगलियाँ परस्पर बाँधे, ग्रीवा झुकाये आचार्य को अस्वीकृति से सिर हिलाते देख विष्णुशर्मा चुप होगये। ग्रीवा झुकाये ही आचार्य ने अवसाद से क्षीण स्वर में कहा—"मेरा मत है, दो सहस्र दिवस के दीर्घ समय का उपयोग

चिरंजीव रुद्रधीर मगध की यात्रा द्वारा ही करे। कुछ समय तक मद्र प्रेस्थ और उसके म्लेच्छ दल के कुचक्र में पीड़ित हो, विवश रहेगा। ऐसी स्थिति में 'वल्का' जैसी अरक्षित नगरी में आयुष्मान के किसी षड़यंत्र में फँस जाने पर हम कुछ जान भी न पायेंगे। मेरा शरीर उदर रोग से अत्यन्त जीर्ण हो रहा है। मेरी इच्छा है, रुद्र मगध में द्विज सेनापति और अग्निमुख नीतिज्ञ महर्षि पतंजलि के सामीप्य में वर्णाश्रम के उद्धार के लिये दीक्षा ग्रहण करे·····। मद्र सदा म्लेच्छ शासित न रहेगा·····।" वे अधिक बोल न पाये।

श्रेष्ठि धर्मजीत पुनः उपधान का आश्रय ले, दीर्घ निश्वास से श्रान्ति दूरकर बोले—"तात धर्मस्थ ने यह अद्भुत न्याय किया! मधुपर्व की घटना प्रायः विस्मृत हो चुकी थी,·····।"

सामन्त लक्ष्मण ने श्रेष्ठि के मुख का प्रसंग लेकर कहा—"यह मधुपर्व की घटना का परिणाम नहीं। यह युद्ध काल की राजनीति है। इसके मूल में तात धर्मस्थ की मिलिन्द कालीन शासन व्यवस्था में आस्था है, यवन गणपति में उनका विश्वास है·····विशेषतः यह अनुशासन दण्ड है? मित्र, यह गणपति की घोषणा—मद्र की सम्पूर्ण प्रजा गण और न्याय के शासन के सम्मुख समान है···—का प्रमाण है। यह जन को वश·····" विष्णु शर्मा की ओर देख वे मौन रहगये।

परन्तु विष्णुशर्मा अप्रतिभ नहीं हुये। वे बोले—"नहीं, तात स्वयम् अभिधर्म और मुण्डियों की "कम्मणा द्विज भौति" की धारणा का आदर करते हैं। इस वृद्धावस्था में उनके विचारों का क्या हो···।"

सार्थवाहक बलभद्र जम्हाई से फैलते मुख को दूसरे हाथ से ढंक कर बोले—"आयुष्मान के मगध जाने के सम्बंध में आचार्य का मत उचित है। मार्ग के सभी नगरों में मेरा परिचय है·····सब प्रबंध हो जायगा। आयुष्मान को यात्रा कष्ट न होगा। मगध जाकर ही वे मद्र

की मुक्ति का उपाय कर सकेंगे। हमारी आशा केवल मंत्र-अभिशिक्त पुष्यमित्र है।"

आचार्य को पुनः ग्रीवा झुकाये सिर हिलाते देख सभी लोग मौन हो उनकी ओर देखने लगे। "द्विज सेनापति·····"– उन्होंने कहा– "समय की न्यूनता से इस समय हम उनसे सहायता नहीं पा सके। द्विज सेनापति के भरोसे प्रतीक्षा करना उचित न हुआ। समय निकल गया। द्विज सेनापति की सहायता पाने के स्थान में हम म्लेच्छों के कुचक्र में फँसगये।·····द्विज सेनापति शूरसेन से रविशर्मा को सैन्य दल भेजने का आदेश दे सकते थे।·····वे सम्भवतः दक्षिणापथ की प्रतिद्वन्दिता में व्यग्र है।·····उनकी दृष्टि में जम्बुद्वीप की सीमा सम्भवतः केवल शूरसेन ही है·····। मद्र की रक्षा के लिये गणपति की इस नीति का परिणाम होगा, कुलों की सत्ता का पराभव, कुलहीनों का उच्छृङ्खल स्वेच्छाचार! शासन की व्यवस्था से हीन देश रक्षाकहीन खेत के समान होगा·····।"

एक गहरा निश्वास ले, दृष्टि किसी की ओर भी न कर और सभी को सम्बोधन कर आचार्य ने अभ्यागतों की सहानुभूति के लिये धन्यवाद दे, अत्यन्त विलिम्ब होजाने के कारण अभ्यागतों से विश्राम के लिये अपने स्थानों पर लौटने की प्रार्थना की। वे विष्टर से उठ खड़े हुये। उनके अनुकरण में अभ्यागत और कुल स्त्रियाँ भी आसनों से उठ खड़ी हुई। आचार्य मनकी अधीरता के कारण कण्ठ और नेत्र आर्द्र हो जाने से मुख से कुछ न बोल, केवल बद्ध करों से बन्दना कर अन्तःपुर के द्वार की ओर चले गये। रुद्रधीर के नेत्र आरक्त और मुख प्रस्तर मूर्ति की भाँति गम्भीर था। गुरुजन को प्रणाम कर वे खड़े रहे।

कुल नारियों ने क्रमशः आगे बढ़ उन्हें आशीर्वाद-तिलक कर मंगल कामना सूचक नारियल भेंट किये और एक-एक स्वर्ण मुद्रा रुद्रधीर के शिर से निछावर कर, चाण्डाल को दान के लिये पात्र में

डाल दी। गुरुजन उन्हें दीर्घायु, सफलकाम और यशस्वी होने का आशीर्वाद दे, दीपदण्ड-धारी दासों द्वारा दिखाये मार्ग से; नारियों सहित सिंहद्वार की ओर चले गये।

गुरुजन के प्रत्यान के पश्चात चारों मित्र आयुष्मान सकुद, इन्द्रदीप, विनयशर्मा और बलजीत यथेच्छ विश्राम की मुद्रा में रुद्रधीर को चारों ओर से घेर बैठ गये। रुद्रधीर का अनुज वसुधीर ज्येष्ठ और ज्येष्ठ के मित्रों के प्रति आदर से एक ओर बैठा था। इन्द्रदीप ने जम्हाई ले, वसुधीर द्वारा आपानक के लिये अनुरोध किया। रुद्रधीर कोहनी उपधान पर टिका, हथेली पर माथा टिकाये था। धर्मस्थान से लौट, रात्रि के तीन पहर बीत जाने तक उसके मुख से कठिनता से दो शब्द निकल पाये थे। उसके मुख के शब्द मन में धधक रही अपमान की प्रचण्ड अग्नि में भस्म होगये थे।

धर्मस्थान में दासपुत्र के अपमान के लिये एक सहस्र दिवस का निर्वासन दण्ड सुन, वह न्याय और शासन की मर्यादा भूलगया। उसके नेत्र आरक्त होगये और हाथ खड्ग के लिये कटि-बंध की ओर बढ़ गया। परन्तु धर्मास्थान के अनुशासन के अनुसार धर्मास्थान की सीमा में राजपुरुषों के अतिरिक्त वादी, प्रतिवादी अथवा इतर जन का सशस्त्र उपस्थित होना वर्जित था। मार्ग अवरुद्ध पा, उसका क्षोभ और उत्तेजना उमड़ पड़ी। महावृद्ध, महापण्डित धर्मस्थ के सम्मुख अवज्ञा से सिर उठा, धर्मस्थ के नेत्रों में देख उसने प्रश्न किया—"क्या मद्र के कुल-गण का शासन दासों की प्रतिष्ठा के लिये है?"

हिम-श्वेत श्मश्रु से आच्छादित धर्मस्थ का मुख मण्डल युवक की इस धृष्टता से विचलित न हुआ। उत्तर में श्वेत श्मश्रु आच्छादित ओंठ एक बेर और हिले—"गणपरिषद्-संवाहक, अग्रहार, आचार्य प्रवर्धन के पुत्र आयुष्मान रुद्रधीर को महाश्रेष्ठि प्रेस्थ-पुत्र आयुष्मान पृथुसेन का सार्वजनिक अपमान करने के दण्ड स्वरूप धर्मास्थान से अनु-

शासित सागल नगर से एक सहस्त्र दिवस के निर्वासन दण्ड के अतिरिक्त, मद्रगण के धर्मास्थान के अनुशासन की अवज्ञा करने के अपराध में, मद्रगण का धर्मास्थान और एक सहस्त्र दिवस के निर्वासन दण्ड की आज्ञा देता है।"

धर्मास्थान का वातावरण स्तब्ध रहगया। धर्मस्थ ने पुनः आदेश दिया—"गणपरिषद-संवाहक, अग्रहार, आचार्य प्रवर्धन के पद और कुल के सम्मान के विचार से एक रात्रि और एक दिवस का समय आयुष्मान रुद्रधीर को स्वेच्छा से निर्वासन स्वीकार करने के लिये दिया जाय। इसके अनन्तर राजपुरुष आयुष्मान को बाधित करें।"

आयुष्मान इन्द्रदीप, सकृद, विनयशर्मा, बलजीत तथा अन्य अभिजात युवकों ने रुद्रधीर के धर्मास्थान से निकलते ही उसके प्रति सम्मान प्रकट किया। उसे बलात शिविका पर बैठा, युवक अपने कंधों पर शिविका को आचार्य के प्रासाद तक ले गये। अपने वर्ण और कुल का अपमान सह कर, धर्मास्थान से जीवित लौट आना रुद्रधीर के लिये मृत्यु-पीड़ा से अधिक असह्य हुआ। वह निरंतर आत्महत्या और पृथुसेन की हत्या की ही बात सोचता रहा।

सुरा के दो चषक पी, रुद्रधीर का हाथ अपने दोनो हाथों में दबा इन्द्रदीप ने कहा—"मित्र, मनुष्य देवताओं की इच्छा का दास है। देवता अपने प्रयोजन से मनुष्य की मति से परे कार्य करते हैं। शूद्र के आदर के लिये ब्राह्मण को निर्वासन का यह दण्ड मद्र की मुक्ति का सूत्र होगा।" सुरा का एक और चषक हाथ में ले उसने कहा—"द्विज सेनापति आचार्य के सन्देश का महत्व नहीं जान पाये। जिस दिन तुम स्वयम् म्लेच्छ-मर्दनी, मगधवाहिनी के सम्मुख वर्णाश्रम की ध्वजा-धारण कर लौटोगे, उस दिन मद्र के सम्पूर्ण म्लेच्छ और अहँकारी शूद्र यज्ञ के लिये बलि-पशु बन, अपने अपराध का मार्जन करेंगे।" सुरापात्र सिरसे ऊपर उठा उसने कहा—"अपने कुल की शपथ से

कहता हूँ—"मित्र के अपमान का प्रतिशोध प्रेस्थ वंश को अग्नि समर्पण करके करूँगा। देवता मेरी प्रतिज्ञा के साक्षी रहें!" दूसरे मित्रों ने सुरा से पूर्ण चषक आधार से उठा होठों से लगाये।

सकृद ने रुद्रधीर के कंधे से शरीर सटा कर रहस्य के स्वर में कहा—मित्रो, पुष्य मित्र की प्रतीक्षा में एक अवसर खोया। इस प्रतीक्षा में एक युग बीत जा सकता है। मित्र रुद्र मगध न जा, दार्व जाँय। केन्द्रस से मित्रता स्थापित करें। केन्द्रस साम्राज्य विस्तार का अभिलाषी है। उस से सन्धिकर यदि हम उस से आधा देश बाँट कर वर्णाश्रम पद्धति के कुलगण की स्थापना कर पायें तो कालान्तरों में शेष देश को भी पुनः प्राप्त कर सकेंगे। महामति चाणक्य का मत है—"सम्पूर्ण में हानि की आशंका देख बुद्धिमान आधे को त्याग, आधे की ही रक्षा करे।"

अन्यमनस्कता त्याग रुद्रधीर ने सकृद को सम्बोधन किया—"क्या कहते हो सखा सकृद? विजयी केन्द्रस हमारी अनुमति से अपने साम्राज्य की व्यवस्था करेगा! मद्र को एक बेर हथिया कर वह मद्र में पौरववंश अथवा द्विज वंश के स्वतंत्र राज्य की सम्भावना का बीज नाश कर देगा।"

विनयशर्मा ने अपने हाथ का रिक्त चषक आधार पर रख समर्थन किया—"आर्य का विचार सत्य है। यवन केन्द्रस को यदि सहानुभूति होगी तो मुण्डियों से। वे उस म्लेच्छ को धर्मराज का पद दे, सम्मानित करेंगे और वह उन अनधिकारियों को प्रश्रय देगा। पुनः यज्ञ धर्म और वर्णाश्रम का ह्रास होगा। यवनों से वर्णाश्रम की प्रतिद्वन्दिता अनिवार्य है। हमारे लिये केवल पुष्यमित्र ही आशा का आधार है।"

अवसाद का शैथिल्य वश कर रुद्रधीर बोला—"गुरुजन की नीति से अवसर को हम लोगों ने स्वयम् खोदिया। केन्द्रस के सम्मुख शैथिल्य दिखा गण को निर्बल बना, शासन-शक्ति हाथ में लेने की सामन्त सर्वार्थ की नीति से हमने जन का विश्वास और आदर खोदिया। यदि

वृद्ध गणपति को समय पर शक्ति द्वारा अपदस्थ कर, सैन्यदल का नियंत्रण हृदय में ले लिये होते·····" सबको मौन देख उसने प्रसंग बदल कर कहा—"मित्रो, पितृव्य पण्डित का विचार ठीक है! मार्ग और वीथियों में जन की धृष्ट दृष्टि का सामना करने की अपेक्षा मैं सूर्योदय से पूर्व ही नगर द्वार पर पहुँच जाऊँ। जितना समय बीतेगा, समाचार फैलने से नगर-त्याग का कार्य उतना ही पीड़ा जनक हो जायगा।" अपमान की मृत्युवेदना सहकर भी मैं केवल इसी आशा से जीवित हूँ, किसी दिन कुल, वर्ण और अपने इस अपमान का प्रतिशोध हो सकेगा।" रुद्रधीर ग्रीवा झुका मौन होगये।

सम्पूर्ण रात्रि पल भर भी निद्रा न पाने के कारण सभी मित्र क्लान्त थे। केवल रुद्रधीर और वसुधीर के नेत्रों में निद्रा का चिह्न न था। सकुद ने मुख पर हाथ रख, जम्हाई से विकृत स्वर में वसुधीर को सम्बोधन किया—"आर्य के प्रस्थान के लिये आयोजन में विलम्ब है?"

सिर हिला, वसुधीर ने उत्तर दिया—"आर्य, सब आयोजन प्रस्तुत है। आर्य का विचार रथ से नहीं, अश्व द्वारा यात्रा करने का है। केवल विशेष विश्वास-पात्र दास माथुर साथ रहेगा।"

इन्द्रदीप के संकेत से वसुधीर ने दास को पुनः मद्य-आधार उपस्थित करने की आज्ञा दी। इन्द्रदीप ने स्वयम् चषक पूर्ण कर अपने हाथ से रुद्रधीर के मुख से लगा कर कहा—"मित्र, अपने दैवी अधिकार और कुल की रक्षा के लिये आमरण संग्राम का व्रत ले आज हम मित्र विदा हो रहे हैं। मिलन का दिन शीघ्र आयगा।" रुद्रधीर के चषक रिक्त कर देने पर सबने पुनः एक साथ पान किया।

विनयशर्मा ने प्रस्ताव किया—"सब मित्र नगरद्वार से एक योजन तक रुद्रधीर को विदा देने चलें।" प्रस्ताव के पश्चात और पान हुआ।

पान से रुद्रधीर का अवरुद्ध स्वर प्रकृतिस्थ हुआ और फिर कुछ कठोर होगया। विनय शर्मा को बाहुमूल से थाम, कक्ष के एक ओर

लेजा उसने पूछा—"कुमारी दिव्या के भविष्य के प्रति तुम्हारा क्या विचार है मित्र ?"

सुरा पान से बोझल नेत्र झपक, विनयशर्मा ने उत्तर दिया—"तात के अतिवात्सल्य के कारण कुमारी की स्वच्छन्दता पर कोई नियंत्रण नहीं। ज्येष्ठ प्रबुद्ध तात की उदारता से प्रश्रय पा, मुण्डीधर्म के प्रति अपनी प्रवृत्ति के कारण कुमारी की उच्छृङ्खलता को प्रोत्साहित किये हैं। कुल इससे अवश्य विपन्न होगा।"

रुद्रधीर ने विनय के नेत्रों में देख प्रश्न किया—"क्या सारथी पुत्र पृथुसेन.....?"

विनय ने उस दृष्टि से अपने नेत्र हटा मन्दस्वर में उत्तर दिया—"ऐसा ही अपवाद है।"

जम्हाई लेते हुये बलजीत ने अपने स्थान से रुद्रधीर को सम्बोधन किया—"मित्र, ऊषाकाल में विलम्ब नहीं। अन्तःपुर में महादेवी, आर्या और नारी समाज से विदा लेने में समय लगेगा।"

आत्मसमर्पण

वृद्ध गणपति, महासेनापति मिथोद्रस परिस्थिति की गुरुता अनुभव कर, केन्द्रस के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिये बद्ध परिकर हुये। गणकोष और रणसामिग्री के आयोजन की व्यवस्था का कार्य उन्होंने महाश्रेष्ठि प्रेत्थ को सौंपा और सैन्य संधान की आयोजना महासामन्त, यवन ओक्रिस को। नव शिक्षित सैन्य ले, तपिशा तटवर्ती दुरुह पर्वत-उपत्यकाओं में शत्रु से लोहा लेने के लिये उन्होंने पृथुसेन को नियुक्त किया और स्वयम् प्रत्येक कार्य का ब्यौरे से निरीक्षण और निर्देश करने लगे। नगर की आन्तरिक व्यवस्था का उत्तरदायित्व उन्होंने महापण्डित धर्मस्थ को सौंपा। नयी व्यवस्था से जनका निरूत्साह और त्रास शीघ्र ही दूर हो संग्राम का उत्साह उमड़ पड़ा। आत्मरक्षा के भाव से प्रेरित सैन्य दल स्वेच्छा से उमड़े चले आ रहे थे। शास्त्रों का निर्माण चतुर्गण मात्रा में होने लगा।

गणपति का शिथिल, जर्जर शरीर असम पथों पर वेगवान रथ के आघात सहने में असमर्थ था। वे प्रातः, मध्यान्ह संध्या किसी भी समय शिवकारूढ़ निरीक्षण कार्य में व्यस्त नगर और उपान्त के अनेक भागों में दिखाई दे जाते। पृथुसेन अपने चपल श्वेत अश्व की ग्रीवा बागुरा

से दोहरी किये प्रायः उनके पार्श्व में दिखाई देता; अथवा अश्वारोहियों के दल के साथ व्यग्रता से पथों और वीथियों में बाण के समान द्रुतगति से निकल जाता। वह सूर्योदय से सूर्यास्त तक अपनी अश्वारोही और पदाती सेनाओं को व्यूह-रचना और आक्रमण की शिक्षा देने में व्यस्त रहता। उन्हें जंगल-युद्ध का अभ्यास कराने के लिये वह तीन-तीन दिन और रात जंगलों तथा आपगा नदी के बाहर कछारों में पड़ा रहता।

तात धर्मस्थ, आर्य प्रबुद्धशर्मा और धृति शर्मा से आदर पाकर भी पृथुसेन पण्डित विष्णुशर्मा, विनयशर्मा आदि की मौन विरोध भावना के कारण समय मिलने पर भी धर्मस्थ के प्रासाद में न आ पाता। पिता की अनुमति से उसने तात धर्मस्थ के सम्मुख उनकी प्रपौत्री के पाणि के लिये भिक्षा मांगी। तात ने उत्तर दिया—"वत्स, इस समय तुम एक महान कार्य का उत्तरदायित्व लिये हो। सम्पूर्ण मनोयोग से उसे पूर्ण करो! पुत्र, सभी प्रसंगों के लिये काल के अनुसार अवसर होता है।"

चिन्ता रूपी कलिका-पल्लवों से अवरुद्ध दिव्या के हृदय का पुष्प अभी अपने पटलों को प्रस्फुटित नहीं कर पाया था कि दूसरी चिन्ता की धाम से वह कुम्हलाने लगा। पृथुसेन की प्रतीक्षा में उसे तीन-चार दिन बीत जाते और वह उसे एक पलक देख न पाती। पृथुसेन की खोज में वह मल्लिका और वसुमित्रा के प्रासादों के चक्कर लगाती परन्तु वह दिखाई न पड़ता। अधीर हो वह श्रेस्थ के प्रासाद में पहुँची। पृथुसेन की माता और श्रेष्ठि ने उसका सिर सूँघ, वात्सल्य से अंक में ले स्वागत किया परन्तु पृथुसेन न मिला। ओठों पर मुस्कान और हृदय में पीड़ा ले वह लौट आई और निराश हो एकान्त में पड़ रही। अपने शैथिल्य और विरक्ति के लिये महादेवी से प्रतारणा और उपालम्भ सुन कर भी वह विवश थी। उत्तर में वह केवल अश्रु बहा सकती थी।

कभी कार्य भार से अवसर पाने पर पृथुसेन वृद्धा दासी वापा द्वारा धर्मस्थ के प्रासाद में दिव्या को संदेश भेज देता। वे मल्लिका या वसुमित्रा के प्रासाद में, पुष्करणी के उपवन में अथवा प्रेस्थ-प्रासाद में एकान्त में कुछ समय के लिये मिल पाते। दिव्या उद्रेक के अतिरेक से पृथुसेन के वक्ष में समा जाना चाहती। उसके नेत्रों से अश्रुधार बहने लगती। उसे अंक में ले, सान्त्वना देने के प्रयत्न में पृथुसेन स्वयम् विह्वल हो, दिव्या में आश्रय ढूंढने लगता। दिव्या उसके हाथों को अपने हाथों में ले, वर्जने के लिये बाध्य हो जाती। पृथुसेन निढाल और निराश होजाता। उसकी वह मुद्रा दिव्या के लिये मर्मान्तक पीड़ा का कारण बन जाती।

संयम की मुद्रा में दोनों बाहु वक्षस्थल पर बांध परन्तु कितने विह्वल स्वर में पृथुसेन ने कहा था—"शीघ्र ही मैं तविशा-तट पर युद्ध में जा रहा हूँ·····यदि तुमने मुझे अंगीकार किया है तो तुम्हारी वर्जना ही मेरी स्मृति में जायगी·····यदि न लौटा—दिव्या फूट-फूट कर रो पड़ी!·····सम्भवतः मेरा शव ही सागल आये·····!"

संयम की यंत्रणा से अकुलाकर पृथुसेन ने आत्म-करुणा के से वे कठोर शब्द कह दिये। परन्तु दिव्या के फूट-फूट कर रो पड़ने से उसका हृदय अपनी कठोरता के परिताप से गल गया। संयम की मुद्रा में वक्षस्थल पर बंधे उसके बाहु शिथिल हो गये। दिव्या को गूढ़ आलिंगन में ले, उसके केशों, अश्रुसिक्त नेत्रों और कपोलों को चूम, अपनी कठोरता के लिये क्षमा मांग, वह उसे सान्त्वना देने लगा। तब दिव्या उसकी अधीरता में आश्रय देने के लिये विह्वल हो उठी। दोनों के हृदय अपने को भूल, दूसरे के लिये प्रवाहित हो उठे।

दिव्या के दिन अवसाद और क्षोभ में बीत रहे थे। अपने दुख की बात सोचने से उसे वैद्यवर, स्थविर चौवुक, के शब्द याद आ जाते—"सुख और दुख अन्योन्याश्रय हैं।·····उनका अस्तित्व केवल

विचार और अनुभूति के विश्वास में है। वास्तविक सुख इच्छा की पूर्ति में नहीं, इच्छा से निवृत्ति में है। इच्छा सर्वावस्था में दुख-मूल है। एक इच्छा की पूर्ति दूसरी इच्छा को जन्म देती है……।" महास्थविर के उपदेश पर उसे झुंझलाहट होने लगती। परन्तु वह अस्वीकार न कर पाती कि पृथुसेन के धर्मास्थान से न्याय प्राप्त कर बलाधिकृत का पद पालने से उसे सन्तोष न हुआ। कुछ दिन पूर्व उसकी कल्पना में इसके अतिरिक्त और कामना न थी। पृथुसेन के कौशल और व्यस्तता का प्रसंग सुन वह उत्साहित होती परन्तु उसे समीप पाने के लिये दिव्या के प्राण और भी व्याकुल हो जाते।

दिव्या अपनी धाता, छाया की माँ को अम्मा पुकारती थी। शैशव में दिव्या की क्रीड़ा-सखि और वयस्का होने के अतिरिक्त छाया का यह ममता का अधिकार अपरिमित था। दिव्या से प्रयोजन-निष्प्रयोजन, निरंतर भर्त्सना सुन कर भी छाया के लिये उस से कठोरता की सम्भावना न थी। क्षुब्ध दिव्या से उपेक्षित और निरादृत होकर भी वह दिव्या के पार्श्व में बनी रहती। दिव्या के लिये भी छाया के अतिरिक्त दूसरा कोई सह्य न था। इस वयस्का, आत्मीया दासी से वह उसी प्रकार निस्संकोच हो सकती थी जैसे कोई उपयोग का वस्त्र हो। छाया का प्रेमी, धर्मस्थ-प्रासाद का दास-नायक बाहुल दासता से स्वातंत्र्य लाभ करने के लिये स्वेच्छा से सैनिक सेवा के लिये चला गया था। दिव्या की विरक्ति और शैथिल्य में छाया अपने दुख का आभास पाती। दोनों के दुख की अनुभूति में अन्तर उतना ही था जितना उनकी दुख सहने और दुख प्रकट करने की क्षमता में था।

छाया दिव्या के पर्यंक अथवा विश्टर के समीप उस के पांव अथवा शरीर के किसी अंग पर हाथ धरे बैठी रहती और प्रासंगिक, अप्रांसगिक वार्तालाप से उसकी चिन्ता भंग करने का उपाय करती रहती। दिव्या के विवाह के लिये महादेवी की निरंतर चिन्ता, उस सम्बन्ध में कितने

ही योग्य वरों का प्रसंग और तात के सम्मुख दिव्या के पाणि के लिये पृथुसेन की प्रार्थना और तात के उत्तर पर पण्डित विष्णुशर्मा तथा सदा उदासीन भृगुशर्मा के कक्षों में प्रकट किये गये क्षोभका भी समाचार उसे छाया से मिलता।

पृथुसेन के प्रति अपने परिवार के निरादर भाव से उसका हृदय जल उठा। उसने सोचा—तात और सम्पूर्ण प्रासाद जान ले, आर्य पृथुसेन के अतिरिक्त मैं किसी से विवाह न करूँगी। आर्य पृथुसेन ने ही मेरे पाणि के लिये तात के सम्मुख प्रार्थना नहीं की, मैं स्वयम् यही चाहती हूँ। अन्य कुछ नहीं चाहती; यह सब जान लें। मेरे लिये किसी अन्य वर की सम्भावना नहीं।"·····यह जानने पर ही तात आर्य की प्रार्थना पर उचित ध्यान देंगे, और विवाह भी विलम्ब से नहीं, तुरंत·····आर्य के युद्ध पर जाने से पूर्व ही करना चाहती हूँ।' छाया के सम्मुख उसने सब कुछ निसंकोच कह डाला और सोचती रही—'छाया से अम्मा सुनेगी और फिर सब सुनेंगे·····हाँ सब सुनलें!'

पितृव्य प्रबुद्ध की पत्नि आर्या तारा ने दिव्या को स्नेह से अंक में ले उपदेश दिया—"वत्से, अधीरता उचित नहीं। तात तुम्हारे प्रति स्नेह के कारण तुम्हारी इच्छा का तिरस्कार नहीं कर सकते। परन्तु इस संक्रमण काल में तुम्हारे विवाह में शीघ्रता का प्रभाव जन पर अनुकूल न होगा। इस से आर्य पृथुसेन के प्रति तात का न्याय पक्षपात का अपवाद ग्रहण कर लेगा·····।"

केन्द्रस के सागल की ओर बढ़ते आने के समाचारों से आशंका और आतंक की लहरें नगर के प्रासादों के अंतःपुरों तक में पहुँचने लगी थीं। पत्नि और दिव्या को आश्वासन देने के लिये आर्य प्रबुद्ध शर्मा ने कहा—"·····आशंका का कारण नहीं। सामन्त ओक्रेस और पृथुसेन द्वारा संघानित हमारी नयी सेना नक्षत्रश विक्रम द्वारा निश्चित शुभ लग्न में, एकादशी की चन्द्रलेखा का दर्शन कर, समर

प्रस्थान करेगी। उस समय निश्चय ही युद्ध की गति पलट जायगी। जीविका के प्रयोजन से युद्ध में जाने के लिये विवश सैनिक में और आत्म-रक्षा के लिये तत्पर सैनिक में महान अन्तर होता है.....।"

दिव्या ने सुना—चौथे दिवस, मध्यरात्रि के पश्चात् पृथुसेन समर प्रस्थान करेगा। उसके हृदय में शूल धंस गया। युद्ध उसने देखा न था परन्तु उस विषय में यथेष्ट सुना था। सहस्रों पुरुषों का अनेक मारक शस्त्र ले, परस्पर प्रहार करना। रक्त की नदियाँ, सहस्रों हताहतों का चीत्कार, उनका भूमि पर बिछ जाना! वहाँ केवल आपत्ति की ही सम्भावना है... पृथुसेन अपने वेगवान तुरंग पर उसी नरमेध में धँसा चला जा रहा है! .....महा-देवी के अनुशासन से, अन्यमनस्कता और शैथिल्य दूर रखने के लिये दिव्या को अपने हाथों से अनेक गृह कार्यों में योग देना होता। हाथ निर्दिष्ट कार्य में यंत्र की भाँति लगे रहने पर भी उसकी कल्पना में युद्ध के दृश्य छाये रहते। उस विभीषिका में ग्रीवा फैलाये, दुस्साहस से सर-पट दौड़ते, चंचल श्वेत अश्व पर, उठी हुई भुजा में खड्ग थामे, पृथुसेन संकट की ओर वेग से झपटता दिखाई देता रहता। दुष्कल्पनाओं से दिव्या का शरीर सिहिर उठता।

छाया का प्रणयी दास-नायक बाहुल स्वेच्छा से सैन्य सेवा ग्रहण कर, स्वतंत्र नागरिक बन, पृथुसेन की पदाती सेना में चला गया था। छाया विरह से दुखित थी। दिव्या उसे समीप बैठा, बाहुल के सम्बन्ध में वार्तालाप कर सान्त्वना देने के प्रयत्न में सान्त्वना पाती। छाया ने तांत्रिक पण्डित वैकुण्ठ से बाहुल की रक्षा के लिये एक कवच प्राप्त किया था। दिव्या ने भी स्वर्ण की एक अँगूठी तांत्रिक को भेंट कर महा-शक्ति-रक्षक कवच पृथुसेन के लिये प्राप्त किया।

जैसे भी बन पड़ा, दिव्या तीनों दिन मल्लिका और वसुमित्रा के प्रासादों में, पुष्करणी के उपवन में और श्रेष्ठि प्रेस्थ के प्रासाद में पृथुसेन की खोज में गई। पृथुसेन को कहीं भी न पा, वह निराश लौट आई।

आर्य धृतिशर्मा से उसने सुना-बलाधिकृत पृथुसेन अत्यन्त व्यस्त हैं। दिन और रात्रि उनके अश्व की पीठ पर ही बीतते हैं। अश्व थक जाने पर वे उसे बदल लेते हैं परन्तु वे स्वयम् नहीं थकते।

दिव्या अधीर हो सोचने लगी क्या इस सब व्यस्तता में मेरे लिये कुछ भी क्षण नहीं निकल सकते? यदि उन्हें ध्यान होता तो क्या वापा न आती?·····मैं हूँ भी इसी योग्य। उन के अत्यन्त श्रान्त शरीर और चिन्ता से क्लान्त मन को मैंने कब कौन आश्रय और सान्त्वना दी है। उन की आकुलता को मैंने सदा अपनी कठोरता से कुण्ठित किया है। उस संघर्ष में यदि वे मुझे भुला देना चाहते हैं तो मैं इसी योग्य हूँ। उसके नेत्रों में आँसू छलक आते। आँसू बहाने का भी अधिकार न था। वह छाया की भाँति उन्मुक्त हो रो भी न सकती थी। अश्रुपूर्ण कण्ठ से श्वास-अवरोध अनुभव कर वह निश्चल रहजाती। उसकी कल्पना में प्रतिक्षण वही क्रम दिखाई देता रहता–श्रान्त, क्लान्त, विह्वल पृथुसेन का उसके आलिंगन में विश्रान्ति और सन्तोष चाहना। उसकी वर्जना से कुण्ठित क्षुब्ध पृथुसेन का दुस्साहस से युद्ध की विभीषिकायें झपटते चले जाना। जहाँ से—"सम्भव है मेरा शव ही सागल में लौटे·····!" पृथुसेन का वह अवसाद से खिन्न, कुण्ठित मुख उसकी दृष्टि के सम्मुख आ खड़ा होता। वह स्मृति दिव्या के मन और शरीर को खण्ड-खण्ड कर देती।

आशंका से त्रस्त दिव्या की कल्पना चरम विभीषिका की कल्पना करने लगती। समरभूमि में चोटी से एड़ी तक रक्त से भीगा पृथुसेन का शरीर उसे अश्व से गिरता दिखाई देने लगता। शोकग्रस्त सैन्य-समूह से घिरा एक शव दिखाई देने लगता और उसके साथ स्वयम् उसकी अपनी मृत्यु भी। तात के आस्थान में ज्ञान-गोष्ठियों में सुने जीवन-मृत्यु, शरीर आत्मा और पुनर्जन्म के प्रसंग मस्तिष्क में जाग उठते। वे पुनः जन्म लेकर अमर प्रणय में बँधेगें। बौद्ध श्रमणों के

वचन स्मरण हो आते—मन की उग्र इच्छायें और व्याकुलतायें ही मनुष्य के वे संस्कार हैं जो मृत्यु को पीड़ामय बना देते हैं। पृथुसेन की विह्वल इच्छा और व्याकुलता अत्यन्त उग्र सजीवता से उसकी कल्पना में जाग उठती। वह स्वयम् विह्वल हो जाती—मेरा शरीर आर्य का है·····मेरा मन आर्य का है·····मेरा आत्मा आर्य का है। वे व्याकुल क्यों हों? आर्य जो चाहेंगे दूँगी·····सर्वस्व! परन्तु समर-यात्रा से पूर्व उन्हें पाऊँ कहाँ? केवल आजकी संध्या ही तो शेष है।

तांत्रिक बैकुण्ड से प्राप्त 'महा-शक्ति-कवच' निरंतर उसके हाथ में था। वह कवच अपने हाथ से पृथुसेन की भुजा पर बाँधे बिना, वह उसे समर में किस प्रकार जाने दे सकती थी? उसके शरीर के प्रकट शैथिल्य के भीतर उसका प्रत्येक स्नायु अत्यन्त तनी हुई वीणा के तारों की भाँति चिन्ता की अंगुली के स्पर्ष से निरंतर थर्रा रहा था।

महाश्रेष्ठि प्रेस्थ ने समर में पुत्र के मंगल और मद्र सेना की विजय कामना के उद्देश्य से प्रजापति के देवस्थान पर महा यज्ञ की आयोजना की। पुण्य धातु चैत्य में उन्होंने तीन सौ श्रमणों द्वारा परित्राण दिवा-सेना के लिये तथागत के बिम्ब के सम्मुख सूत्रपाठ करा, एक सहस्र भिक्षुओं का भिक्षा सत्कार किया और यवन देवी 'ज़ीयस' के मन्दिर में अश्व-बलि का समारोह किया। छाया को सेवा में ले, दिव्या तीनों स्थानों पर गई परन्तु पृथुसेन कहीं दिखाई न दिया। उसने सुना—आर्य निरंतर शिविर में व्यस्त हैं। वह निराश लौट आई परन्तु निराशा से शान्त हो जाना सम्भव न था। उसने धाता से अनुनय कर उसे पुनः प्रेस्थ प्रासाद में और दास गुह को पृथुसेन की खोज के लिये शिविर में भेजा।

दिव्या के मन की अवस्था अत्यन्त विक्षिप्त थी। प्रतीक्षा का प्रत्येक क्षण उसे युग के समान दीर्घ जान पड़ रहा था और पश्चिम की ओर उतरते जाते सूर्य की गति से, समय अत्यन्त तीव्रगति से हाथ

से निकलता जा रहा जान पड़ रहा था। न धाता प्रेस्थ प्रासाद से लौट पायी और न दास गुह शिविर से लौटा। सूर्य की किरणें केवल वृक्षों के शिरों पर शेष रहगईं। विलीन होती किरणें दिव्या की आशा को साथ समेटे लिये जा रही थीं।

वृक्षों के शिखिरों से भी किरणें लोप होगईं। दिव्या सुदूर उत्तर में, परन्तु सागल के प्रासादों के कंधों पर सिर उठाये जान पड़ती, पर्वत श्रेणी के शिखिर पर सूर्य की अवशिष्ट किरणों की ओर दृष्टि लगाये निराशा से लड़ रही थी। सान्त्वना उसके मन से उतनी ही दूर थी, जितनी पर्वत श्रेणियाँ उसके हाथ से। धाता ने लौट कर निराशा से आर्य को पाने में असफलता का समाचार कहा। उसी समय सम्मुख पर्वत श्रेणी पर सूर्य का शेष प्रकाश विलीन होगया।

दिव्या क्षण पर्यङ्क पर, क्षण पीठीका पर बैठती, क्षण कक्ष में और क्षण बाहर उद्यान में ठहरती। उसे कहीं चैन न था। पल-पल वह तृषा अनुभव कर छाया से जल मांगती और जलपात्र समीप रख घूँट भरना भूल जाती। सहसा दासी माला ने कक्ष में आ समाचार दिया—"प्रेस्थ प्रासाद की दासी वापा यज्ञ का प्रसाद ले महादेवी के कक्ष में उपस्थित हुई है।"

दिव्या लेटी थी। सहसा उठकर उसने प्रश्न किया—"कब ?"

"इसी क्षण, भद्रे !" दासी से उत्तर पा अपनी अशोभन व्यग्रता से संकुचित हो दिव्या पुनः लेट गई। परन्तु दृष्टि द्वार की ओर से न हटी। दासी के चले जाने पर लेट रहना सम्भव न रहा। वह उठ कर कक्ष में टहलने लगी। उत्सुकता दमन करना असम्भव हो जाने पर उसने पुकारा—"छाया, देख,·····क्या दासी वापा लौट गई ?

उसी समय वृद्धा दासी ने दिव्या के कक्ष में प्रवेश किया। आयुष्मती कुमारी के लिये कल्याण कामना कर उसने देवता से आयुष्मती के दुख-सन्ताप अपने हीन वृद्ध शरीर पर देने की प्रार्थना की।

समीप बैठ वह यश के बृहत् अनुष्ठान का वृत्तान्त सुनने लगी। उसकी दृष्टि, समीप उत्सुकता से कान लगाये छाया की ओर बार-बार जाती।

दिव्या ने छाया को आदेश दिया—"छाया, भण्डार-गृह से वृद्धा बापा के लिये उपायन लाओ!"

छाया के चले जाने पर बापा ने रहस्य के स्वर में सन्देश दिया—"सूर्यास्त के दो घड़ी पश्चात् मल्लिका-प्रासाद में!" दिव्या के नेत्र ज्योतिर्मय हो गये। रत्न जटित अंगूठी उतार उसने ने बापा के हाथ में रख दी।

उत्साह से उठ दिव्या उपेक्षित, मलिन वस्त्र उतार, प्रसाधन में लग गई। भावावेश के कारण निरन्तर अधिक स्वेद आने से प्रसाधन कठिन हो रहा था और उसके हाथ अटपटा जाते। सहायता के लिये प्रस्तुत छाया के प्रश्नों का उत्तर भी वह न दे पाती। उद्रेक से उसका स्वर अस्वाभाविक हो रहा था। उत्साह और उल्लास आकण्ठ उमग आने के कारण शब्दों के लिये स्थान न था। वह आत्म-समर्पण की विजय यात्रा के लिये प्रस्तुत हो रही थी। प्रसाधन उस यात्रा का अनुष्ठान था।

पृथुसेन मद्र की रक्षार्थ विजयदेवी को संतुष्ट करने के लिये आत्म-समर्पण का अर्घ्य ले समरयात्रा के लिये प्रस्तुत था। उसके संकट और भय में उसकी अर्धाङ्गनी बनने के लिये, अपना अस्तित्व उसे सौंप, उसके हृदय में बस, उसे साहस और सान्त्वना देने के लिये दिव्या आत्मसमर्पण की विजय यात्रा के लिये प्रस्तुत हुई। वही संसार में उसका सबसे अधिक अपना था। उस पर परिवार, समाज और दिव्या का अपना अस्तित्व भी न्यौछावर था। महाशक्ति का कवच हाथ में ले उसने छाया को रथ प्रस्तुत होने का आदेश दिया।

* * *

बलाधिकृत पृथुसेन के नेतृत्व में मद्र की पदाति और अश्वारोही

सेना को तविशा की ओर गये एक मास बीत गया। दूसरे ही समाचार आने लगे। केन्द्रस की गति रुकगई। उसके दस्युदल दार्व की ओर हटने लगे। इन समाचारों से सम्पूर्ण सागल नगरी को जितना उत्साह और सान्त्वना हुई उससे अधिक अकेली दिव्या को। वह आशा करने लगी,लगभग एक और मास में आर्य विजयी हो लौट आयेंगे। कल्पना में वह पृथुसेन और अपने विवाह के दृष्य देखने लगी। विजय के गर्व, पृथुसेन की कल्याण कामना और शीघ्र मिलन की आशा में उसका समय बीतने लगा। अन्यमनस्कता और शैथिल्य दूर हो उसमें तृप्ति की गम्भीरता आगई। महादेवी सन्तोष अनुभव करतीं, युवक पृथुसेन के दूर होजाने के कारण कुमारी के चित्त की उद्विग्नता दूर होगई।

दूसरा मास बीत कर तीसरा आरम्भ होगया। केन्द्रस की सेना परास्त हो पीछे हटती जा रही थी और पृथुसेन उसका पीछा कर दार्व की सीमा में बढ़ता चला जा रहा था। गण-राज्य की सीमा के विस्तार के समाचार से सागल के नागरिक उत्साहित हो उठे। दिव्या उस विजय में अपना भाग अनुभव कर गर्वित और संतुष्ट थी। उसकी गम्भीरता बढ़ गई। पृथुसेन के लौट आने की उत्सुकता से उसका जीवन सम्वद्धित होगया। नेत्र मूँदे स्मृति में पृथुसेन की समर-यात्रा की रात्रि का दृष्य देखती, उस रात्रि की अनुभूतियों से रोमांचित होती अपने अवसाद को विजय में परिणित होते देख वह सफलता और अभिमान से पुलकित हो जाती। परिणाम स्वरूप अपने शरीर में पृथुसेन की उपस्थित अनुभव कर गर्व और उल्लास से गद-गद हो उसका हृदय उछलने लगता। पूर्णता की सीमा पर पहुँच वह उल्लास व्याकुलता में परिवर्तित हो जाता अब आर्य का तुरंत लौट आना आवश्यक है। उनका अधिक विलम्ब से लौटना आपत्ति जनक होगा।

चौथे मास के अन्त में समाचार आया, पृथुसेन ने दार्व का आधा

प्रदेश विजय कर लिया। केन्द्रस युद्ध में पृथुसेन के खड्ग प्रहार से धरा-शायी हुआ और पृथुसेन भी आहत हुआ। विजयी सेना दार्व से स्वर्ण, रत्न, अश्व और बहुमूल्य पदार्थों तथा दो सहस्र बलिष्ठ दासों और सुन्दर दासियों का समूह लिये लौट रही है। समाचार सुन दिव्या ने अपना हृदय दोनों हाथ से सम्भाला। नेत्रों का जल-प्रवाह रोकने में असमर्थ हो वह दुकूल ओढ़ पर्यङ्क पर लेट रही।

किसी दूसरे के न जानने और अनुभव न करने पर भी अपने शरीर में आते परिवर्तन से संकोच अनुभव कर, वह अस्वास्थ्य का बहाना कर प्रायः कक्ष से बाहर न निकलती। उसके प्राण प्रतिक्षण पृथुसेन को पुकारते रहते—आर्य अपनी दिव्या और उसके शरीर में सौंपे अपने अंश की सुध लेने के लिये शीघ्र आओ·····!

विकट वास्तव

सूर्योदय से पूर्व ही सागल के अनेक पथों और वीथियों से बहता जन-प्रवाह नगर के उत्तर-द्वार पर सागर का रूप धारण कर रहा था। अनेक ने सम्पूर्ण रात्रि या रात्रि का अधिकांश नगर द्वार पर ही बिता दिया था। स्त्री-पुरुषों के हाथों में पुष्पमालायें और झोलियों में पुष्प और धान की खीलें भरी थीं। द्वार के तोरण पर मंगल वाद्य और सम्मुख नगाड़े बज रहे थे। नगर प्राचीर और उत्तर मार्ग के वृक्ष भी उत्सुकता से व्याकुल नागरिकों से लदे थे। अनेक अपनी उत्सुकता का दमन न कर पाने से, मार्ग पर उत्तर की ओर बढ़ते चले जा रहे थे।

सेना के अग्रदूतों ने समाचार दिया था, मद्र की विजयी सेना घायल सेनापति पृथुसेन सहित शनैः-शनैः सागल की ओर बढ़ रही है। गत रात्रि नगर से दो योजन के अन्तर पर शिविर डाल उन्होंने विश्राम किया था। सेनापति युद्ध में लगे घावों के कारण वेग से यात्रा करने में असमर्थ थे। पृथुसेन के आहत होने का समाचार नगर में पहुँचते ही, स्थविर वैद्यवर चौथुक तथा नगर के अन्य सर्वश्रेष्ठ, अनुभवी वैद्यों को अत्यन्त वेगवान अश्वों से जुते रथों पर पृथुसेन के उपचार के लिये भेज दिया गया था।

सूर्य के प्रकाश की चकाचौंध से नेत्रों को बचाने के लिये हाथों की ओट किये, उत्तर मार्ग पर सूदूर दृष्टि लगाये जन ने मार्ग पर धूलि का एक मेघ सा देखा। जन के विपुल जय घोष में वाद्यों का स्वर डूब गया। पृथुसेन पीड़ा और ज्वर से श्रान्त, मन्द गति से चलती सेना से घिरी शिविका में लेटे, शकटों पर दार्व के पराजित प्रदेश से प्राप्त स्वर्ण,मणि-मणिक्य,रत्न तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थों का संचय और दो सहस्र दास-दासियों को लिये नगर द्वार पर पहुँचा।

उल्लसित सौभाग्यवती कुल नारियों ने अर्घ्यपात्र में जलते घृत के पंच-दीपों से विजयी सेनापति की आरती उतारी। वृद्ध महासेनापति, गणपति मियोद्रत की कुमारी पौत्री सीरों ने पृथुसेन का विजय अभिशोक कर, यवन प्रथा के अनुसार हरित किसलय का मुकुट पहनाया। वृद्ध गणपति युवक सेनापति का सिर अनेक क्षण तक अपनी श्वेत दाढ़ी में लिये, गद-गद मौन बने रहे। महावृद्ध, महापण्डित धर्मस्थ देवशर्मा दासों का आश्रय ले अपनी शिविका से उतरे। घायल सेनापति के शिर पर हाथ रख उन्होंने उन्मुक्त आशीर्वाद दिया। इसी प्रकार महा सामन्त सर्वार्थ, आचार्य प्रवर्धन और गणपरिषद् के दूसरे सदस्यों और विशिष्ट समाज ने भी विजयी युवक सेनापति की अभ्यर्थना की।

निर्भय सागल नगरी विजय के उन्माद से उन्मत्त हो उठी। राज-पथों और वीथियों में सभी ओर रात-दिन उत्सव दिखाई देने लगा। राजपुरुष दार्व से प्राप्त बहुमूल्य पदार्थों और दास-दासियों की सार्व-जनिक बिक्री कर गणकोष को धन से पूर्ण कर रहे थे। जिन परिवारों के पुरुष संग्राम-यज्ञ में हत-आहत हुये, गणपति ने उन्हें निर्वाह के लिये यथेष्ट धन और दास-दासी भेंट किये।

महाश्रेष्ठि प्रेस्थ ने देवताओं की कृपा के लिये एक विराट यज्ञ द्वारा उनकी तुष्टि की। आचार्य प्रवर्धन ने उस महायज्ञ के अध्वर्यु का पद स्वीकार किया। एक सहस्र याज्ञिकों ने स्वस्तिवाचन द्वारा मंत्रोच्चारण

किया। पुण्य-धातु चैत्य में श्रेष्ठि ने तथागत के बिम्ब के सम्मुख एक सहस्र भिक्षुओं द्वारा सूत्र पाठ करा, उनका भिक्षा सत्कार कर परित्राण के लिये कृतज्ञता ज्ञापन किया। इसी प्रकार देवी जीयस के मन्दिर में भी उन्होंने बलि दी।

महाश्रेष्ठि प्रेस्थ का प्रासाद आनन्द कलरव से मुखरित हो उठा। अन्तःपुर में केवल पृथुसेन के कक्ष में स्तब्धता थी। भिषगाचार्य, वैद्य-प्रवर, स्थविर चीवुक पृथुसेन की चिकित्सा कर रहे थे। शल्य क्रिया निपुण चीवुक ने पृथुसेन के घावों को कौशेय के तारों से सी, उनपर औषध का लेप किया। मुख से भी संजीवक औषध दे वैद्य ने आहत को पूर्ण विश्राम का आदेश दिया। पृथुसेन औषध के प्रभाव से निद्रा-गत पड़ा रह स्वास्थ्य लाभ कर रहा था। महासेनापति मिथोद्रस की पौत्री, सीरो प्रायः प्रतिक्षण विजयी सेनापति की परिचर्या में समीप बनी रहती।

दिव्या ने छाया, दूसरी दासियों धृति शर्मा और प्रासाद के बालकों के मुख से पृथुसेन के नगर प्रवेश के समारोह का सविस्तर वृत्तान्त सुना। स्वयम् वह अस्वस्थ और अपनी अवस्था के प्रति संकोच अनु-भव कर नगर द्वार पर न जा सकी। अपने इस असामर्थ्य से वह तड़प कर रहगई। पृथुसेन के सम्मान से उसने गर्व अनुभव किया। उसके घायल और रोगी होने के समाचार से उसका हृदय विकल हो उठा। अपनी संकोच-जनक स्थिति से कुण्ठित हो वह सोचती—यदि आर्य के समर प्रस्थान से पूर्व ही उसका विवाह होगया होता, वह किसी भी अवस्था में शिविकारूढ़ हो नगर द्वार पर पहुँचती। घावों से क्षत आर्य का शिर अपनी गोद में रख उन्हें प्रासाद में ले आती। सेवा के लिये सीरो का पृथुसेन की रोग-शैय्या के समीप रहना दिव्या को विद्रूप मात्र जान पड़ता। अपनी विवशता में शरीर को वस्त्रों से ढंके, सब यत्नों से अपना रहस्य सुरक्षित किये, वह उस क्षण की कल्पना में आत्म

विस्मृत रहती जब पृथुसेन के स्वस्थ होने पर उनका विवाह विधि का रूप और समर्थन पा सकेगा।

दिव्या प्रतिक्षण प्रेस्थ प्रासाद से वृद्धा दासी वापा के समाचार ले कर आने की प्रतीक्षा करते-करते व्यग्र हो उठी। संयम का बंधन असह्य होगया। सूर्यास्त के पश्चात् शरीर को वस्त्रों में ढक-ओढ़ कर, शिविका में बैठ, छाया को साथ ले, वह प्रेस्थ प्रासाद में पहुँची।

धड़कता हृदय दोनो हाथ से सम्भाले, आहट बचा, दासी द्वारा दिखाये मार्ग से, दिव्या पृथुसेन के कक्ष के द्वार की ओर बढ़ी। दासी ने आदर से द्वार का पट हटाया। दिव्या ने देखा—शैया पर लेटे पृथुसेन का शरीर अत्यन्त कृष हो पीला पड़ गया है। उसका शिर और कंधे चीरों में लिपटे हैं। रोगी की शैया के समीप, अत्यन्त गौर वर्ण, पीठ पर फैले पिंगल केशों पर यवन प्रथा का मुक्तावली का किरीट बाँधे सीरो, एक दासी की सहायता से आधार पर रखे पात्र में रोगी के लिये औषध का पेय बना रही है।

दिव्या को देख सीरो ने गृहस्वामिनी के अधिकार से, रोगी की शैया के उपधान की ओर रखा आसन ग्रहण करने का संकेत किया। उसके कान के समीप मुख ला, कठिनता से सुने जा सकने योग्य स्वर में वैद्यराज स्थविर चीवुक का आदेश सुनाया—"किसी भी अवस्था में आर्य की निद्रा भंग न की जाय।·····अभ्यागत वार्तालाप द्वारा रोगी को क्लान्त न करें!"

अपने आसन से दिव्या को पृथुसेन के चीरों से बंधे मस्तक और कंधे के अतिरिक्त शरीर का कोई भाग दिखाई न दे रहा था। पृथुसेन निद्रागत था। उसे सम्मुख और समीप पा कर भी बात न कर पाने और स्पर्श न कर पाने की बाधा और अपने और उसके बीच के दूसरे व्यक्ति के व्यवधान से दिव्या अधीर हो उठी। पृथुसेन को अपने अंक में पा लेने के लिये उसके अंग स्फुरित हो उठे। छः मास का अन्तर दूर

हो, वियोग की रात्रि का स्पर्ष दिव्या की अनुभूति में सजीव हो उठा। सीरो की उपस्थिति और उसका निषेध पृथुसेन को बलात उसके अंक से छीने था। निरंतर पृथुसेन की ओर लगे दिव्या के नेत्र उसे पूर्ण रूप से पा लेने के लिये फैलते जा रहे थे। यथेष्ट विस्तार के लिये स्थान न पा, नेत्रों का वाष्प जल के रूप में परिणित होगया।

दिव्या की उस विवशता और क्षोभ में सीरो शिष्टाचार के प्रदर्शन के लिये उसके समीप आ तात धर्मस्थ और परिवार का कुशल क्षेम पूछने लगी। उसने रोगी की कठिन परिस्थिति और अपने गुरु भार का विस्तृत वर्णन किया। कैसे, दिन-रात रोगी की परिचर्या में उसे तत्पर रहना होता है। परिजन और समाज के अत्यन्त अनुरोध करने पर भी क्षत रोगी की चिन्ता छोड़, उत्सवों में सम्मिलित होना उसके लिये कठिन हो जाता है।

सीरो का वह व्यवहार दिव्या को अपनी स्थिति और दुर्भाग्य के प्रति लांछना के रूप में असह्य दम्भ और अहंकार जान पड़ा। उत्तर में वह कुछ न कह सकी। केवल पलक झपक मौन रह गई।

विस्मय की मुद्रा में नेत्र फैला, चिबुक पर तर्जनी रख सीरो ने प्रश्न किया—"सखी, तुम भी तो इन महत्वपूर्ण उत्सवों में सम्मिलित नहीं हो पाती ?·····तुम्हारे बिना कला का प्रसंग निर्जीव रह जाता है। देवी मल्लिका के नेत्र सदा तुम्हें ही खोजते रहते हैं। वे सदा ही तुम्हें स्मरण करती हैं।" अहंकार पूर्ण दृष्टि दिव्या के शरीर पर घुमा सीरो ने अपना उत्तरीय अपने होठों पर रख लिया। पुष्ट रक्त अधरों का स्फुरण गोपन के इस प्रयत्न से और भी उग्र होगया।

पृथुसेन के निद्राभंग की प्रतीक्षा में बैठना दिव्या के लिये असम्भव होगया। जिस प्रकार भी सम्भव हो सका, शिष्टाचार की रक्षा के लिये आहत वीर के स्वास्थ्य की मंगल कामना कर, वह लौट गई।

* * *

निद्रा भंग होने पर पृथुसेन को दासी द्वारा दिव्या के आ कर लौट जाने का समाचार मिला। नगर द्वार पर जिस समय कुल नारियों और कुलकन्याओं ने उसका विजय तिलक किया था, उसके नेत्र निरंतर दिव्या का मुख और उसके कान दिव्या के स्वर को खोज रहे थे। पीड़ा के उत्कट न होने की अवस्था में वह निरंतर उसी के विषय में सोचता रहता। दिव्या का इतने विलम्ब से आना और दो शब्द बोल पाने की प्रतीक्षा न कर लौट जाना, उसके लिये दारुण व्यथा बन गया। दिव्या के समीप स्वयम् पहुँच पाने का असामर्थ्य उसे व्याकुल किये था। दिव्या की इस उपेक्षा से खिन्न, वह निरंतर उसका कारण सोचता रहता। उत्सुकता से व्याकुल हो पृथुसेन ने सीरो से कुमारी दिव्या के आने और साक्षात्कार के लिये प्रतीक्षा किये बिना लौट जाने के सम्बन्ध में पूछा।

सीरो के मुख पर विडम्बना की मुस्कान आगई। अपना स्थूल रक्त अधर बिचका, वितृष्णा से उसने दोहराया—"कुमारी के मन की इच्छा के विषय में·····मैं क्या कह सकती हूँ आर्य? धर्मस्थ की प्रपौत्री कुमारी के लिये रोगी की निद्रा पूर्ण होने के समय तक प्रतीक्षा सह्य न होगी! अथवा और क्या जानूँ!" सीरो से उस विषय में पुनः कोई और प्रश्न पूछने का साहस पृथुसेन को न हुआ।

चिन्ता प्रकट न कर पाने पर पृथुसेन का मन चिन्ता से और भी अधिक क्षुब्ध होगया। वह अनुमान न कर पाया, छः मास की उसकी अनुपस्थिति में क्या होगया? क्या कुल-अभिमान के कारण दिव्या उसके प्रति उदासीन होगई? अथवा अपने परिवार से त्रस्त हो विरत होगई?·····क्या किसी के अधिक प्रबल आकर्षण के सम्मुख वह झुकगई?·····अब मुझसे मिलने में उसे अनिच्छा क्यों होने लगी? अनेक पहर तक निश्चल पड़ा, वह इसी प्रकार की दुश्कल्पनाओं में खोया रहता।

स्थविर चीवुक की चामत्कारिक औषध और कांधारी फलों के रस से शीघ्र रक्त वृद्धि हो, उसकी प्राणशक्ति सामर्थ्य अनुभव करने लगी। उसी अनुपात में दिव्या की स्मृति और उसके लिये व्याकुलता का वेग बढ़ने लगा। जीवन का पासा फेंक कर प्राप्त की सफलता दिव्या के अभाव में निस्सार जान पड़ने लगी।

महा-श्रेष्ठि प्रेस्थ पुत्र के स्वास्थ्य में सुधार से उत्साहित थे। पुत्र के चिंतित और शिथिल रहने के समाचार से उसकी अन्यमनस्कता दूर करने के लिये पृथुसेन के ही कक्ष में उन्होंने नृत्य-संगीत और दूसरे विनोद का प्रबंध किया जाने का आदेश दिया। पृथुसेन को वह आयोजन केवल कोलाहल जान पड़ता। वह विरक्ति से उसे हटा देने का संकेत कर, मौन पड़ा रहता। श्रेष्ठि स्वयम भी पर्यंक के समीप पीठिका पर उपधान का आश्रय लिये घड़ी-आधी घड़ी बैठ, अनेक प्रसंगों से पुत्र का शैथिल्य दूर करने का यत्न करते। पृथुसेन उस प्रसंग में रस न पाता। वह निरंतर अपने मन की बात पिता के सम्मुख प्रकट करने का उपाय सोचता रहता परन्तु साहस न कर पाता।

वीणा हाथ में लिये, स्निग्ध श्याम वर्ण नवीन दासी के कंधे का आश्रय लिये महाश्रेष्ठि कक्ष में आये। पृथुसेन के पर्यङ्क के समीप पीठिका पर आसन ग्रहण कर वे बोले—"पुत्र, स्थाविर चीवुक की चामत्कारिक औषध से तुम्हारे स्वास्थ्य में सन्तोष जनक सुधार हो रहा है। वत्स, शैथिल्य का कारण क्या? मन का अवसाद स्वास्थ्य के लिये घातक है। पुत्र, प्रसन्नता और स्फूर्ति पाने का यत्न करो! तुम्हें संगीत के मर्म में गति है। दक्षिणापथ से आई यह उल्का दासी वीणा वादन में अद्भुत क्षमता रखती है। इसका वादन तुम्हारे मनकी चिन्ता हरेगा।"

श्रेष्ठि ने दासी को वादन आरम्भ करने का संकेत किया। दासी की अंगुली के स्पर्श से, वीणा की तार से प्रथम झनकार होते ही पृथुसेन के मुख में विरक्ति का स्वाद भर गया। हाथ उठा दासी को मौन रहने

का संकेत कर, सिर झुकाये उसने पिता को सम्बोधन किया—"तात्, शिविकारूढ़ हो, एक बेर धर्मस्थ के प्रासाद में जाने की इच्छा है····· अनुमति दीजिये !"

"स्वास्थ्य की इस क्षीणता और शैथिल्य में !·····किस प्रयोजन से, वत्स ?" अपनी श्वेत-प्राय दाढ़ी हाथ में सूतते हुये श्रेष्ठि ने विस्मय प्रकट किया।

नेत्र झुकाये ही पृथुसेन ने उत्तर दिया—"समर-यात्रा से पूर्व मैं महापण्डित धर्मस्थ की प्रगौत्री से विवाह की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। उस कार्य को मैं अविलम्ब पूर्ण करना चाहता हूँ।"

वृद्ध श्रेष्ठि अपनी श्वेत-प्राय दाढ़ी को शनैः शनैः हाथ में सूतते रहे। ईषत् मुस्कान से वे बोले—"पुत्र, देवताओं ने प्रसन्न हो तुम्हें विद्या, बुद्धि, कौशल, धन और रण में विजय का सम्मान दिया है। समय पर वे देवता तुम्हें स्त्री सुख देने में भी कृपणता न करेंगे। एक दिव्या क्या, अनेक लावण्यमयी, कलामयी, ललनायें तुम्हारे भोग के लिये प्रस्तुत रहेंगी। जो बुद्धिमान अवसर के अनुकूल व्यवहार करता है, उसके लिये देवता इस लोक और परलोक के सभी सुखों का वरदान देते हैं। पुत्र अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करो।"

पिता के सम्मुख संकोच से मौन रह पृथुसेन मन ही मन अधिक व्याकुल हो उठा। दिव्या अनेक अत्यन्त कमनीय रूपों से उसकी कल्पना में आ उपस्थित होती। नृत्य के समय अनेक मुद्राओं में वलयित उसके बाहु, क्षीण कटि से विस्तृत होता, अस्पष्ट गोलाइयों में बँटा वक्षस्थल, चिकने कौशेय, शाटक से झलकतीं उसकी लम्बी, पतली लौकी के समान जँघायें, उसका कोमल गौर, अण्डाकृति मुख, क्षीण रक्त ओष्ठ, सुडौल नासा, फैले हुये नेत्र जिनमें विश्वास की गहराई थी। प्रथम परिचय के अवसर पर उसका सहज सौजन्य। उसकी अधीरता से दिव्या के नेत्र सजल होजाना। हृदय पर सिर रख उसका आश्वासन

देना। उस के अंगों का स्फूर्तिदायक स्पर्श । समर-यात्रा की रात्रि में उसका अनुरागमय आत्मसमर्पण !

पृथुसेन का रक्तस्राव से निर्बल शरीर कण्टकित हो जाता। उसकी भावना दिव्या को पाने के लिये अदम्य वेग से बह उठती। और फिर असामर्थ्य और असफलता की बाधा पा, तट से टकरा कर पलटती लहरों की भाँति, वह भावना कुछ दूर दूसरी दिशा में भी जाती—क्यों वह मेरे प्रति इस प्रकार विरक्त होगई !·····उस प्रकट कोमलता और कमनीयता में इतनी निष्ठुरता छिपी थी ? जैसे कठोर शिला पर ठहरे, थिथले जल में प्रतिबिम्बित सौन्दर्य का कुछ सार नहीं·····।

वह सीरो के प्रति अपनी उपेक्षा से कुण्ठित होने लगता। फिर सोचता, नहीं वह दिव्या को पायेगा ही। दृष्टि छत की ओर लगाये, दिव्या से एकान्त मिलन के क्षणों में अपनी अधीरता, उसका निग्रह और अपनी विह्वलता के सम्मुख उसका आत्म-समर्पण···इस घटना क्रम पर विचार कर उसे विस्मय होता, क्या दिव्या इतनी अस्थिर हो सकती है ?

पिता के मुख से गणपति की पौत्री सीरो की प्रशंसा सुन, उनका अभिप्राय जान पृथुसेन ने विवशता के स्वर में कहा—"तात धर्मस्थ की प्रपौत्री से प्रतिज्ञा बद्ध होने और उसके प्रति अत्यन्त अनुराग के कारण किसी दूसरी कन्या से विवाह का प्रसंग मनमें लाना मेरे लिये सम्भव नहीं।"

अभ्यास के अनुसार अपनी श्वेत दाढ़ी शनैः-शनैः सूतते हुये वृद्ध श्रेष्ठि का हाथ थम गया। माथे पर भृकुटी की रेखा गहरी होगई परन्तु मुख पर मुस्कराहट दिखाई दी। श्रेष्ठि की यह मुस्कान दृढ़ निश्चय का संकेत थी। ताड़ पत्र का विशाल व्यजन डुला वातास करते दास चीर को श्रेष्ठि ने आदेश दिया—"अपने स्थान पर दास बाक को सेवा में भेजो।"

दास बाक बहरा और गूँगा था। उसका कार्य विशेषतः गुप्त मंत्रणा

के समय सेवा में उपस्थित रहना था। इस आयोजन से पृथुसेन समझ गया, पिता प्रसंग पर गम्भीरता से वार्तालाप करेंगे। वह भी अपने निश्चय पर दृढ़ था। मुख और नेत्रों में मुस्कान लिये श्रेष्ठि बोले—"वत्स, यौवन के आरम्भ में नारी के प्रति आवेग प्रबल होता है। पुत्र, आवेग एक वस्तु है और जीवन दूसरी। जीवन जल का पात्र है, आवेग उसमें एक बुद-बुद। जीवन की सफलता के लिये किसी समय आवेग का दमन आवश्यक हो जाता है। जैसे रोग में पथ्य अरुचिकर होने परभी उपयोगिता के विचार से ग्रहण किया जाता है। कामना की तृप्ति के लिये तुम सामर्थ्य के अनुकूल अनेक कमनीय स्त्रियों से अनुराग कर सकते हो। विवाह को जीवन में सामर्थ्य और सफलता का साधन बनाओ·····सामर्थ्य से ही मनुष्य भोग और कामना पूर्ण करने का अधिकारी होता है।"

श्रेष्ठि ने पुत्र को उत्तर देने के लिये क्षण भर अवसर दिया। उसे सिर झुकाये मौन देख वे फिर बोले—"पुत्र, स्त्री जीवन की पूर्ति नहीं, जीवन की पूर्ति का एक उपकरण और साधन मात्र है। सामर्थ्यवान, सफल मनुष्य अनेक स्त्रियाँ प्राप्त कर सकता है परन्तु सफलता के अवसर जीवन में अनेक नहीं आते। पुत्र, संसार में बल ही प्रधान है, धन-बल और जन-बल। तुम मद्र गण के राजा गणपति की कृपा की उपेक्षा कर, वृद्ध देवशर्मा की कृपा पर निर्भर करना चाहते हो।····· पुत्र, तुम नीतिवान हो विचार करो, यवन गणपति की पौत्री से विवाह कर तुम अनायास,बिना किसी विरोध के महाकुलीन बन जाओगे। परन्तु देवशर्मा की प्रपौत्री से विवाह की इच्छा करने पर, उदार देवशर्मा के आपत्ति न करने पर भी सम्पूर्ण द्विज समाज को शत्रु बना लोगे। द्विजवर्ग की सत्ता, इतर जन की हीनता और उनसे सेवा प्राप्त करने के अधिकार पर आश्रित है। इतर जन को अपने समान बना लेने पर उनका विशेष अधिकार क्या रह जायगा? इतर जन का सशक्त होना

उन्हें स्वीकार नहीं परन्तु समर्थ की सत्ता वे अस्वीकार नहीं कर सकते। पुत्र, हमें शत्रुओं की नहीं मित्रों और सहायकों की आवश्यकता है।"

अनुमोदन की आशा में श्रेष्ठि क्षण भर पुत्र की ओर देखते रहे। नूक विरोध में उसे पुनः सिर झुकाये देख उनका स्वर आर्द्र होगया—"पुत्र, एक दास की स्थिति से उठ कर मैं इस अवस्था में पहुँचा हूँ कि मेरा पुत्र सेनापति बन महासेनापति बनने की आशा कर सकता है। पुत्र, सामर्थ्य और अधिकार की चरम सीमा यहीं नहीं। द्रव्य और वैभव का उपयोग केवल क्षुद्र भोग में नहीं, उस से प्राप्त होने वाली शक्ति में है। पुत्र प्रधान भोग शक्ति का सुख है! पुत्र, आज तुम मद्र के गणपति का विश्वास प्राप्त कर सामन्त पद का अधिकार पा अपने द्रव्य से मद्र की रक्षा के लिये एक सेना रख सकते हो। वह सेना तुम्हारी शक्ति होगी। तुम मद्र गण राज्य का रूप बदल सकोगे।···मैं तुम्हें परम भट्टारक मद्र के गणपति के आसन पर देखना चाहता हूँ·····मद्र के छत्रपति राजा के रूप में देखना चाहता हूँ। यदि मगध में मौर्य वंश का राज्य स्थापित हो सकता था तो मद्र में प्रेस्थ वंश का राज्य क्यों नहीं स्थापित हो सकता?"

प्रेस्थ पुत्र की ओर दृष्टि लगाये मौन बैठे रहे। पृथुसेन हथेली पर ठोड़ी टिका, अवाक बैठा रहा। पिता ने उसे कल्पना और महत्वाकांक्षा के अकूल सागर की तरंगों में धकेल कर छोड़ दिया। उस विस्तार में उसका मस्तिष्क चकरा रहा था। उस प्रवाह की गति प्रबल होने पर भी उसकी निजी अनुभूति के विपरीत थी। वह किसी प्रकार सिर उठा कर श्वास ले पाने का यत्न कर रहा था।

सिर झुकाये श्रेष्ठि ने उपधान के सहारे करवट ली। पृथुसेन ने समझा, पिता उठने का विचार कर रहे हैं। अपना मौन स्वीकृति का संकेत समझे जाने की आशंका से उसने सिर झुकाये ही साहस किया—

"परन्तु तात, मैं दिव्या से प्रतिज्ञा कर चुका हूँ·····उसे पत्नि रूप से ग्रहण कर चुका हूँ·····यह विश्वासघात होगा।"

वृद्ध की भृकुटि अधिक गहरी हो, उनके नेत्रों पर झुक आई और मुख और नेत्रों पर विद्रूप की मुस्कराहट गहरी होगई—"पुत्र यह विश्वासघात नहीं कालान्तर में तुम धर्मस्थ देवशर्मा की कन्या से भी विवाह कर सकते हो परन्तु इस समय नहीं। तुमने छलने के विचार से प्रतिज्ञा नहीं की। जिस परिस्थिति में तुमने यह विचार और प्रतिज्ञा की थी, वह अब नहीं है। प्रतिज्ञा की परिस्थिति बदल जाने से प्रतिज्ञा का आधार नहीं रहता। उस समय देवशर्मा की कन्या से विवाह ही उचित लक्ष था। अब उससे श्रेय मार्ग सम्मुख है। भविष्य में तुम्हारी सफलता गणपति की कन्या से विवाह करने में ही है।"

सिर झुकाये पृथुसेन के मौन में अस्वीकृति का भाव जान, महा श्रेष्ठि पुनः आर्द्र स्वर में बोले—पुत्र तुम मेरे सम्पूर्ण जीवन के प्रयत्नों को, अपने वंश के भविष्य को, एक युवती के मोह में नष्ट कर देना चाहते हो। महापण्डित चाणक्य ने कहा है—"आत्मानं सततं रक्षयेत दरैरपि धनैरपि·····" स्त्री भोग्य है। मति भ्रम होने पर पुरुष मोह में स्त्री के लिये बलिदान होने लगता है। वत्स, ऐसी ही परिस्थिति में नीतिज्ञ महत्वाकांक्षी और परलोककामी पुरुष के लिये नारी को पतन का द्वार कहते हैं।"

पृथुसेन उसी प्रकार निश्चल मौन बैठा रहा। क्षण भर चिन्ता मग्न रह वृद्ध ने पुनः पुत्र को सम्बोधन किया—"पुत्र मुझे विश्वास है तुम मेरे सम्मान और अपने भविष्य की रक्षा करोगे। गत पूर्णिमा के अवसर पर सामन्त कार्तवीर के प्रासाद में मल्लिका के नृत्य के समय धर्मस्थ देवशर्मा ने तुम्हारे स्वास्थ्य के विषय में कुशल क्षेम पूछा, तुम्हारे और दिव्या के अनुराग का उल्लेख किया। मैंने उस समय धर्मस्थ को उत्तर दिया था—"अपने कुल और वंश के विचार से अपने पुत्र

के लिये द्विज परिवार की कन्या की कामना कर मैं दास मद्र के अभिजात कुलों के कोप का भाजन बनने का साहस न करूँगा। इस समय गणपति की पौत्री सीरो और पृथुसेन में विशेष अनुराग है। मैं गणपति के सम्मुख पृथुसेन के लिये उनकी पौत्री के पाणि का प्रार्थी हूँ।"

पृथुसेन की ग्रीवा और अधिक झुक गई। पिता की ओर न देख वह सिर उपधान पर रख, करवट से लेट गया।

पृथुसेन का शरीर शीघ्र ही पूर्णतः स्वस्थ होगया परन्तु मन उसका अत्यन्त खिन्न रहता। वह कभी चतुश्शाल में और कभी अन्तःपुर के प्रासाद में अन्यमनस्क सा बैठा रहता। सीरो के आने पर भी वह विशेष उत्साह प्रकट न कर पाता परन्तु सीरो वीर पृथुसेन की गम्भीरता पर मुग्ध थी। सीरो के विशेष आग्रह से केवल एक बेर वह मल्लिका प्रासाद में और एक बेर गणपति के प्रासाद में उसके साथ शिविका पर गया। उसके मन में निरंतर एक ही समस्या थी, सीरो से विवाह करके भी वह दिव्या को पा सके।

गम्भीर विचार से क्रमशः मन को वश कर, पृथुसेन सीरो के प्रति अनुराग और उत्साह दिखाने लगा। एक दिन भावावेश की अवस्था में सीरो को अंक में ले, उसके दिव्या को सपत्नि के रूप में स्वीकार करने का अनुरोध किया। सीरो नागिन की भाँति फुंकार कर दूर जा खड़ी हुई। उसके स्थूल रक्त ओठ फड़-फड़ा उठे और नेत्रों से क्रोध के ऊष्ण अश्रु बह आये।

इसके पश्चात् सीरो ने पृथुसेन के कंधे के आश्रय बैठ, आँसुओं में नेत्रों का काजल बहाते हुये, जम्बु द्वीप के आर्यों की कुत्सित बहुपत्नि प्रथा के प्रति घृणा प्रकट की, आर्यों में स्त्री केवल भोग्य और दासी है। वह अपने प्रियतम के हृदय की एक-छत्र रानी और अन्तःपुर की एक मात्र स्वामिनी बनेगी।

पृथुसेन के लिये स्त्री नीरस विषय और जीवन पथ की अरोचक

बाधा मात्र बन गई। वह अपने असाधारण बुद्धि और दूरदर्शी पिता के निर्देश से जीवन के संघर्ष की मानसिक तैयारी कर रहा था। अपने आपको सीरो की प्रणय-क्रीड़ा का साधन अनुभव कर, स्त्रियों के प्रति अनुराग की कल्पना उसे केवल विडम्बना मात्र जान पड़ती। वह अपनी तुलना सम्पन्न, अभिजात वंशी परिवारों में कामुकता का साधन रूप युवती, सुन्दर, विवश दासियों से करने लगता।

* * *

पृथुसेन को भली-भाँति देखे बिना, उस से एक भी शब्द बोलने का अवसर न पा, विवश लौट दिव्या हताश होगई। आशंका से वह सोचती—दो मास, अढ़ाई मास से पूर्व आर्य शैय्या से उठ न सकेंगे··· मेरा क्या होगा? पृथुसेन के विजयी हो लौट आने से धर्मस्थ के अन्तःपुर में दिव्या के विवाह की बात एक अप्रिय, अनिवार्य प्रसंग के रूप में उठने लगी। छाया द्वारा वह समाचार दिव्या तक पहुँच जाता। विष्णु शर्मा और पितृव्य प्रबुद्ध शर्मा के कक्षों में पृथुसेन की कुलीनता के सम्बंध में विचार, महापितृव्य भृगु शर्मा की उदासीन तटस्थता, इस प्रसंग से महादेवी की विरक्ति, तात के अविरोध के कारण उनका उसे सह लेना। उस विरोध और अपमान को दिव्या वरदान के रूप में अंगीकार करने के लिये विह्वल थी। परन्तु पृथुसेन के रोग शैय्या पर पड़े रहते क्या हो सकता था?

विवाह की विधि से पृथुसेन को पाये बिना अपने शरीर में उपस्थित पृथुसेन की रक्षा वह विरोधी दृष्टियों से किस प्रकार करे? उसके जीवन की सम्पूर्ण महत्वाकांक्षा और माधुर्य कलंक और अपराध बना जा रहा था। विकल और विह्वल पृथुसेन को आश्रय दे, उसे पाकर उसने गर्व और संतोष अनुभव किया था। उसकी वह आत्मगरिमा ही अब उसके पाँव के नीचे अंधकूप बन, उसे निगल जाना चाहती थी। कौन चमत्कार इस समय उसकी रक्षा कर सकेगा? पृथुसेन की सन्तान

धारण करने के लिये ही पृथुसेन से उसका विवाह होगा·····फिर वही विषय अब इतना प्राणान्तक क्यों बन गया।

दिव्या के निरंतर अत्यन्त शिथिल हो कक्ष में पर्यङ्क पर लेटे रहने से महादेवी उसके स्वास्थ्य के विषय में चिन्तित होने लगीं। धाता को उन्होंने दिव्या की विशेष परिचर्या में नियत कर दिया और उससे प्रायः उस विषय में जिज्ञासा करती रहतीं। धाता और छाया आशंका-मय परिस्थिति की गुरुता जानकर भी दिव्या के प्रति अनुराग के कारण महादेवी के सम्मुख तथा अन्य कक्षों में कुमारी के केवल साधारण अस्वस्थ की ही बात कहतीं। छाया अपने प्रेमी बाहुल को दार्व के युद्ध में खो, विरह व्यथिता और वंचिता स्वामिनी के प्रति अत्यन्त अनुरक्त हो उठी थी। वह पूर्ण रूप से दिव्या की छाया ही बनगई। स्वामिनी के पर्यङ्क पर पड़े रहने पर वह पर्यङ्क से दूर न होती। रात्रि अधिक बीत जाने पर भी जब वह निश्चय न कर पाती कि दिव्या निद्रागत है अथवा चिन्ताग्रस्त हो मौन पड़ी है, वह पल-पल स्वामिनी की ओर देखती रह, पर्यङ्क के स्थूण का सहारा लिये ही सो जाती।

दासी आस्सा महादेवी के आदेश से नित्य कुमारी के स्वास्थ्य-संकल्प के लिये नैवेद्य ले प्रजापति के देवस्थान और धातु-चैत्य जाती थी। उससे पाये अनेक समाचार छाया दिव्या को सुनाती। आस्सा ने कहा था—"जैसे धर्मस्थ के प्रासाद से कुमारी के स्वास्थ्य-संकल्प का नैवेद्य प्रजापति के देवस्थान और धातु-चैत्य में जाता है उसी प्रकार आर्य पृथुसेन के स्वास्थ्य-संकल्प से प्रेस्थ-प्रासाद से भी नैवेद्य जाता है और सुना है गणपति के प्रासाद से भी।" उत्साह से छाया ने कहा—"आर्य अब स्वस्थ हैं।"

दिव्या छाया के उत्साह का अंश न पा सकी। गणपति के प्रासाद से पृथुसेन के स्वास्थ्य-संकल्प के नैवेद्य के समाचार से वह दूसरी ही

कल्पना में व्यस्त होगई। उसे पृथुसेन के पर्यङ्क के समीप सीरो का गृहस्वामिनी के अधिकार से धृष्टता पूर्ण व्यवहार नेत्रों के सम्मुख दिखाई देने लगा।

दिव्या ने छाया से आस्सा द्वारा पाये, गणपति की पौत्री और और पृथुसेन के एक शिविका पर आरूढ़ हो मल्लिका प्रासाद, पुष्करणी और गणपति के प्रासाद में जाने के वृत्तान्त भी सुने। उसका मन चिन्ता के गहरे कूप में उतर गया। वह सोचती—आर्य को क्या होगया? वह अति कोमल और दुर्धर्ष, वह युद्ध का विजेता, वह आत्मसम्मान के लिये प्राणों पर खेल जाने के लिये तत्पर!.....जो मेरे बिना जीवन निरर्थक समझ रहा था। मुझे पा लेने के आश्वासन से जो म्लान-मुख समर में मृत्यु का आलिङ्गन करने चला गया था? उसे हो क्या गया?.....क्या आर्य मुझे भूल ही गये? क्या वह प्रणय और विह्वलता सब छल और प्रवंचना थी? उसके लिये अब शरण कहाँ है?.....यदि पृथ्वी फट कर उसे अपने गर्भ में आश्रय दे देती! वह त्राण पाने के लिये उत्पन्न ही नहीं हुई। इसीलिये तो उसे जन्म देने वाली माँ, उसे पृथ्वी पर रख अन्तर्ध्यान होगई।.....संसार भर में जिसे उसने अपना समझा, वही प्रवंचना कर रहा है?..... और आर्य रुद्रधीर? वह स्वयम् अपने ही तात से निर्वासन का दण्ड पा दूर चला गया।

मध्याह्न में नेत्र मूँदे बिस्तर पर लेटी दिव्या को निद्रागत जान छाया कुछ समय के लिये महादेवी के कक्ष में अपनी माता की ओर चली गई थी। दुर्भाग्य का समाचार सुन वह तुरंत ही दिव्या के कक्ष की ओर लौटी। दिव्या अब भी भित्ती की ओर मुख किये निश्चल लेटी थी। प्रतीक्षा छाया के लिये, असह्य हो रही थी। भयंकर दुर्घटना से वह कुमारी को कैसे अजान रहने दे?

मन की दुविधा वश करने के लिये कक्ष की सामिग्री यथा स्थान-

रखने के प्रयत्न में छाया के पाँव की ठोकर से दीप-स्तम्भ गिर कर झंकार से गूँज उठा। आहट से दिव्या ने करवट ले उस ओर देखा। स्वामिनी की निद्रा में व्याघात के लिये विनीत स्वर में क्षमा मांग, विछर के समीप आ छाया ने भग्न स्वर में संवाद कहा—"आर्य पृथुसेन से गणपति की पौत्री के वाग्दान के उत्सव का निमंत्रण प्रासाद में आने से तात और महादेवी अपने-अपने प्रासाद में अत्यन्त चिन्तित हैं।.....आर्य धृति शर्मा और विनय शर्मा में इस प्रसंग को ले कठोर विवाद होगया.....।"

दिव्या बिछर पर निश्चल पड़ी दृष्टि छत की ओर लगाये रही। अनेक घड़ी वह उसी प्रकार पड़ी रही। छाया हृदय से उछल आये क्रन्दन को कंठ में दबाये, स्वामिनी की दृष्टि बचा आँसू पोछ लेती और फिर स्वामिनी की ओर देखने लगती।

एक पहर रात बीत जाने पर वह दिव्या को सहारा दे, उसके पर्यङ्क पर लेगई। हेमन्त के भीषण शीत में भी दिव्या को वस्त्रों की सुध न थी। छाया ने दुकूल और अर्घ से उसके शरीर को भली भाँति ढंक दिया और पर्यङ्क की पाटी पर सिर रख, समीप भूमि पर बैठ गई।

दिव्या के नेत्र सूखे थे परन्तु छाया के नेत्र निरंतर आँसू बहाने और पोंछे जाने के कारण सूज कर लाल हो गये। उसकी ओर देख उपधान से सिर उठाये बिना ही दिव्या ने पुकारा—"छाया!" बहुत समय पश्चात् स्वामिनी के मुख से सम्बोधन सुन उत्साह से छाया की ग्रीवा उठ गई।

"एक बार मैं आर्य से साक्षात्कार करूँगी"—क्षीण स्वर में दिव्या ने कहा।

"भद्रे, गणपति की पौत्री ने निश्चय ही तांत्रिक द्वारा आर्य पर वशीकरण किया है।"—छाया ने स्वामिनी के समीप हो, नेत्रों में प्रतिहिंसा भरे रहस्य के स्वर में कहा—"भद्रे का आदेश हो तो तांत्रिक

बैकुण्ठ पण्डित से गणपति की पौत्री के वशीकरण का उच्चाटन यंत्र और भद्रे के लिये वशीकरण कवच प्राप्त करूँ !"

"हाँ छाया·····जो भी सम्भव हो·····" निराशा से क्षीण स्वर में दिव्या ने कहा—"दैव जाने आर्य को क्या हो गया !·····आर्य के लिये सीरो यदि उतनी ही काम्य हो गई है तो भी वे मेरी अवज्ञा क्यों कर रहे हैं। मैं सीरो के साथ सखा भाव से सपत्नीत्व स्वीकार करूँगी। मैं सीरो की सेवा करूँगी। सभी कुलीन आर्यों के परिवार में अनेक पत्नियाँ हैं। क्या सीरो भी मेरे साथ आर्य की पत्नी नहीं बन सकती ? एक वृक्ष की छाया में अनेक प्राणी विश्राम पाते हैं। गजराज की अनेक पत्नियाँ होती हैं, उसी प्रकार आर्य की भुजा के आश्रय में हम दोनों ही रहेंगी·····"दिव्या कुछ क्षण के लिये मौन हो गई।

दिव्या शरीर पर ओढ़ाये दुकूल और अर्घ से ऊष्णता अनुभव करने लगी। उस ने वस्त्रों को सहसा शरीर से परे हटा दिया। तुरंत पुनः वस्त्र उसके शरीर पर खींच, छाया ने अनुनय की—"भद्रे, अत्यन्त शीतल हिमवात गवाक्ष से आ रहा है, शरीर कष्ट पायेगा।" दिव्या के ऊष्णता से तपते पाँव उघाड़, उसका शेष शरीर छाया वस्त्रों से ढंके रही।

ऊष्णता के क्षोभ से सिर के कोशों को उपधान पर फैला दिव्या ने पुनः छाया को पुकारा—"आर्य के प्रासाद में बीसियों दासियाँ अनेक सेवा कार्य के लिये हैं, क्या मेरे लिये वहाँ स्थान नहीं ?"

उत्तर देना छाया के लिये सम्भव न रहा। उत्तरीय मुख और नेत्रों पर दबा वह पर्यंक के स्थूण के आश्रय सिर घुटने पर टिकाये बैठ गई। क्रन्दन के उच्छ्वास से उसका हृदय बाहर आ जाना चाहता था। बहुत समय तक किसी प्रकार अपने आपको वश कर उसने पुनः स्वामिनी की ओर देखा। दिव्या मौन पड़ी थी। अपने आँसुओं और सिसकियों से स्वामिनी को क्षुब्ध करने की आशंका के कारण वह

उसके मुख के समीप जा देख न पाई कि दिव्या निद्रागत है या जाग रही है। रात्रि के तीसरे पहर तक इसी दुविधा में कभी उठते, कभी बैठते उसे नींद का झोंका आ गया। अत्यन्त शीत के कारण शरीर को घुटनों और कोहनियों में समेटे, वह स्वामिनी के पर्यंक के नीचे उसकी चौकसी में बैठे कुत्ते की भाँति पड़ी रही।

निद्रा भंग होने पर छाया ने देखा, घाम फैल चुका था। विलम्ब तक सोने की लज्जा से वह वस्त्रों को सम्भालती उठ खड़ी हुई। हेमन्त के निस्तेज सूर्य की सुखद, रंगीन किरणें गवाक्ष से आ दिव्या के पीत मुख पर पड़ रही थीं। वह गाढ़ निद्रा में थीं। उसका श्वास सम गति से चल रहा था। स्वामिनी की निद्रा भंग होने की आशंका से आहट न कर छाया कक्ष से निकली। स्वामिनी की गत रात्रि की वेदना का वृत्तान्त धाता से कहने वह अन्तःपुर के उद्यान के उस पार, आर्य धृति शर्मा के कक्ष की ओर गई।

आर्य धृति शर्मा की युवा पत्नि मोक्षा के प्रथम प्रसव की असुविधा के कारण अनुभवी धाता निरंतर उन्हीं की परिचर्या में थी। प्रभात की प्रथम किरणों में उद्यान की हरी घास और लता कुंजों पर सब ओर ओस की बूंदें झलक रही थीं। उदास छाया को जान पड़ा, रात भर सम्पूर्ण प्रकृति भी उसकी स्वामिनी और उसकी भाँति आँसू बहा कर अभी ही शान्त हुई है।

आर्या मोक्षा की चिन्ताजनक अवस्था के कारण महादेवी और आर्य विष्णु शर्मा, भृगु शर्मा, विनय शर्मा, प्रबुद्ध शर्मा आदि के कक्ष से आर्या अमिता, तारा, उमा आदि सब देवियाँ धृति शर्मा के कक्ष में एकत्र थीं। बाहर धृति शर्मा चिन्ता की मुद्रा में विनय शर्मा से परामर्श कर रहे थे। भीतर पर्यंक पर पीड़ा से कराहती आर्या मोक्षा को धाता अपनी बाहों में सम्भाले थी। महादेवी दुकूल में शरीर लपेटे समीप

पीठिका पर बैठी थीं। कुलवधुयें मोक्षा की पीड़ा से निरपेक्ष, प्रसूत के अवसर से उत्साहित परस्पर वार्तालाप में मग्न थीं।

छाया ने सुना, आर्या अमिता सुविधा से सुने जाने योग्य, रहस्य के स्वर में कह रही थीं—"कुमारी दिव्या के अस्वास्थ्य का क्या कहना·····सभी लक्षण तो गर्भ के हैं!"

छाया महादेवी को प्रणाम करने के लिये उनके सम्मुख भूमि पर शिर टिकाये थी। आर्या अमिता के शब्द उसके कानों में गये; जैसे मस्तिष्क पर वज्रपात हो गया। नेत्र ऊपर उठा उसने देखा, महादेवी प्रणाम स्वीकार करने की सुध भूल, वार्धक्य से निस्तेज नेत्र आर्या अमिता की ओर उठा, ओठ खोले रह गईं।

छाया श्वास रोके द्रुत गति से दिव्या के कक्ष की ओर लौटी। स्वामिनी अब भी उसी प्रकार गाढ़ निद्रा में शान्त और निश्चल थी। नियमित श्वास से उसके सुगोल वक्ष नियमित अन्तर से ऊपर नीचे हो रहे थे। छाया ने उत्तेजना में पर्यङ्क का चक्कर लगाया और दिव्या के मुख की ओर देखती खड़ी रह गई। स्वामिनी की निद्रा किस प्रकार भंग करे? और भयङ्कर आपत्ति से उसे अज्ञान कैसे रहने दे?

छाया कुछ क्षण कक्ष के बाहर जा कर खड़ी रही। लौट कर निद्रागत स्वामिनी की ओर देखा और दोनो हाथों से सिर थाम, पर्यङ्क का आश्रय ले बैठ गई। फिर स्वामिनी के मुख की ओर देखा। उठ कर फिर कुछ क्षण के लिये बाहर गई। लौट कर फिर देखा। स्वामिनी के लिये जल, प्रक्षालन-पात्र और प्रौंछन-वस्त्र पर्यङ्क के समीप लाकर रखा। स्वामिनी अब भी गूढ़ निद्रा में अचेत विश्राम पा रही थी। छाया के शरीर का रोम-रोम दुश्चिन्ता से कांप रहा था।

दिव्या ने नेत्र खोले। आपत्ति का प्रसंग छाया के मुख पर आकर रह गया;·····क्या कहे?·····किस प्रकार कहे? दुविधा में उसने मुख धोने के लिये जल से पूर्व प्रौंछन-वस्त्र आगे बढ़ा दिया।

कहने में असमर्थ छाया के नेत्रों से अश्रु टपकने लगे।

दिव्या के कारण पूछने पर छाया अत्यन्त अवश हो गई। जलका पात्र हाथ से छूट जाने की आशंका से, उसे भूमि पर रख, आँसू भरा मुख उत्तरीय में लपेट, वह पर्यङ्क की पाटी पर सिर रख बैठ गई। दिव्या के अनेक बार प्रश्न करने पर छाया ने उत्तरीय में लिपटा सिर पर्यङ्क पर टिकाये ही, उच्छ्वासों से भग्न स्वर में कठिनता से कहा—"आर्ये मोद्दा के कक्ष में·····सब देवियों और महादेवी के सम्मुख ·····आर्ये अमिता ने सब को सुना कर कहा·····कुमारी दिव्या का स्वास्थ्य क्या·····सभी लक्षण गर्भ के हैं!"

दिव्या के नेत्र काष्ट की प्रतिमा की भांति अपलक खुले रह गये। मुख सहसा बहुत पीला और भाव रहित होगया। पर्यङ्क पर गिरने की आहट सुन छाया ने सिर उठा कर देखा, दिव्या एक ओर लुढ़क गई थी। व्यग्रता में उसने स्वामिनी को सम्भालने का यत्न किया। देखा—वह मूर्छित थी।

छाया की व्यग्रता से उसके नेत्रों का जल प्रवाह रुक गया। वह दिव्या के मुख पर शीतल जल के छींटे दे, वस्त्र से वातास कर, उसके पांव के तलवे सहला उसे सचेत करने का यत्न कर रही थी। लगभग आधी घड़ी के पश्चात् दिव्या ने नेत्र खोले। अपने शुष्क ओष्ठों को जिह्वा से सिक्त कर उसने जल मांगा।

छाया ने अत्यन्त संयम से अपने आँसू वश किये। अनेक बातों की ओर दिव्या का ध्यान आकर्षित कर उसे पुनः मूर्छा से बचाने के लिये सतर्क रही। दिव्या छाया की किसी बात का उत्तर न दे, शून्य निश्पलक दृष्टि कभी कक्ष की छत, कभी भित्तियों और कभी द्वार से बाहर उद्यान की ओर लगाये थी।

मध्याह्न में दासी आस्सा कुमारी के लिये पथ्य ले उपस्थित हुई। अत्यन्त अनुनय से छाया ने पथ्य का कुछ भाग लेने के लिये दिव्या

को विवश किया। आस्सा के लौटने पर छाया ने उसे धाता को तुरन्त आने के लिये कुमारी का आदेश दिया।

चौथे पहर सहसा विपञ्ची (शहनाई) और मृदंग के स्वर से सम्पूर्ण प्रासाद गूँज उठा। मुस्कराने का यत्न कर छाया ने कहा—"आर्ये मोद्दा ने सन्तान प्रसव की है।"

उत्तर में दिव्या ने केवल दीर्घ निश्वास लिया। मन ही मन वह सोचने लगी—आर्ये मोद्दा का गर्भ परिवार के लिये उल्लास का कारण है और मेरा गर्भ कलंक का! क्यों कि मेरे गर्भ का पिता नहीं। अपने गर्भ को मैं उसके पिता के पास ले जाऊँगी। क्या प्रेस्थ प्रासाद में पृथुसेन से मेरा गर्भ इसी प्रकार विपत्ति और कलंक का कारण होता? .....मेरा स्थान वहीं है।

छाया को सम्बोधन कर उसने कहा—"अम्मा को बुलाओ! मैं प्रेस्थ प्रासाद जाऊँगी।"

धर्मस्थ का प्रासाद नव-सन्तान-प्रसव के उत्साह और उल्लास में व्यस्त और व्यग्र था। धर्मस्थ और महादेवी मर्मान्तक दुश्चिन्ता में अपने कक्षों में पड़े थे। उल्लास और दुश्चिन्ता के मिश्रण से फैली अव्यवस्था में दिव्या किसी से कहे-पूछे बिना, अपने कौमार्य के गर्भ की लज्जा को यथा सम्भव कौशेय पट में लपेट, शिविका पर बैठ, दासी धाता को साथ ले प्रेस्थ प्रासाद की ओर चल पडी।

सब विपत्तियों को सहने के लिये प्रस्तुत हो कर वह मन-ही-मन देवताओं से अनुनय कर रही थी—केवल इस समय सीरो आर्य के प्रासाद में उपस्थित न हो! शेष सम्पूर्ण आयु उसकी दासी बन चरण सेवा के लिये प्रस्तुत रहना मुझे अस्वीकार न होगा।

* * *

धर्मस्थ की प्रपौत्री की शिविका अनेक दिन पश्चात देख अन्तःपुर के द्वार की प्रहरी खड्गधारी यवनी ने आदर से मस्तक झुका निवेदन

किया—"आर्य इस समय प्रमदोद्यान में गणपति की कन्या आयुष्मती सीरो की संगति में है।"

दिव्या सूचना से किंकर्तव्यविमूढ़ रह गई। लौटने का अवसर न था। द्वार पर वह प्रतीक्षा कब तक और कैसे कर सकती थी? उसने आदेश दिया—"प्रतिहारी, आर्य को समाचार से अवगत करो!"

उत्तर की प्रतीक्षा में दिव्या आत्मविस्मृत सी शिविका पर बैठी रही।

प्रमदोद्यान से दासी द्वारा आया पृथुसेन का उत्तर यवनी ने निवेदन किया—"आर्य क्षमा निवेदन करते हैं।.....अस्वास्थ्य के कारण संगति लाभ करने में असमर्थ हैं।"

दिव्या के कानों ने उत्तर सुना परन्तु हृदय ने विश्वास न किया। वह मूक, निश्पलक यवनी की ओर नेत्र लगाये रही मानो अभी उत्तर की प्रतीक्षा कर रही है। परन्तु यवनी अपना कर्तव्य समाप्त कर चुकी थी। दिव्या को कुछ भी सूझ न पड़ रहा था। आशा के जिस दीपक को यत्न से आँचल में सम्भाले, मार्ग खोजती वह यहाँ तक पहुँची थी, पृथुसेन के उत्तर के झोंके ने उसे सहसा बुझा दिया। वह कुछ देख न पा रही थी।

अन्तःपुर के द्वार पर लगी दिव्या की भावशून्य दृष्टि देख अनुभवी धाता आशंकित हो गई। अमर्यादित व्यवहार की आशंका से उसने शिविका वाहकों को शिविका लौटा ले चलने का आदेश दिया।

पथ पर शिविका पहुँचने से दिव्या को चेत हुआ। अपनी स्थिति के ज्ञान ने उसके दोनो नेत्रों से अश्रुधारा बहा दी। राजपथ पर अभिजात वंशीय कुमारी के रोदन की अमर्यादा से भयभीत हो धाता ने शिविका के पट गिरा दिये।

पटों में ढके जाने के अपमान ने दिव्या को उद्बोधित किया। सहसा उसे याद आगया—प्रायः दो वर्ष पूर्व मधुपर्व उत्सव की संध्या उसका सरस्वती पुत्री का मुकुट धारण कर अभिजात वंशीय कुमारों

के कंधे पर गर्व से शिविका रूढ़ होना।·····वह कातर हो पट की शरण लेगी ? नेत्रों से बहते आँसुओं की चिन्ता न कर उसने अपने हाथ से पट उठा दिये। उत्तरीय से नेत्र पोंछ मस्तक उठा लिया।

चतुर धाता ने वाहकों को उज्ज्वल प्रकाश से पूर्ण राजपथ छोड़ दूसरे मार्ग से धर्मस्थ के प्रासाद की ओर बढ़ने का संकेत किया। प्रकाशित समृद्ध पण्यों, अट्टालिकाओं और जनसमूह से आकीर्ण मार्ग छोड़ शिविका निम्न श्रेणी से बसे प्रकाशहीन पथ से चली जा रही थी।

इस पथ का व्यवसाय सूर्यास्त के समय ही स्थगित होजाने से अंधकार पूर्ण मार्ग प्रायः निर्जन था। शिविका के साथ दीपदण्ड न होने के कारण वाहक निश्चिन्त, शिथिल गति से पथ के मध्य चलने वाले, नागरिकों को "वच्च-वच्च", "पार्श्व-पार्श्व" कह कर सचेत करते जा रहे थे।

सहसा ललकार सुनाई दी—"कौन है हमें मार्ग से हटाने वाला ?" अंधियारे संकीर्ण पथ के बीचों-बीच अस्पष्ट सा दिखाई दिया, एक पुरुष माथा ऊँचा किये और कंधों को अकड़ाये, मार्ग रोके खड़ा है। उसकी फैली हुई दाहिनी भुजा के हाथ में एक कुतुप थमा था दूसरे हाथ की मुट्ठी से वह ललकार के भाव से अपनी छाती ठोक रहा था। उसके दोनो ओर दो और पुरुष मद्य के कुतुप हाथ में लिये डगमगा रहे थे। उनमें से एक ने हास्य का चीत्कार किया—"यूथप वृक, स·····स·····स्सुन्दरी शि·····शि·····शिविकारोही वेश्या !"

वाहक शंकित हो परस्पर कहने लगे—"माताल, मातालों का दल, उपद्रव।"

धाता ने भी भय अनुभव किया परन्तु स्वर दृढ़ कर उसने पुकारा—"अभिजातवंशीय कुमारी की शिविका के लिये मार्ग छोड़ दो माताल।" स्त्री के स्वर से आकर्षित हो, माताल मार्ग से हटने की अपेक्षा शिविका की ओर बढ़े। उन्माद से डगमगाते माताल ने पुनः उन्मुक्त

हास्य का चीत्कार किया—"सखा वृक स····स···सुन्दरी ! हा···हा··· स···स···स···स्सुन्दरी !

वृक अपने बायें हाथ से लम्बी मूछों को मरोड़ कर बोला—"यथेष्ट द्राक्षी का पान कर वृक तुम्हारी ही खोज में जा रहा था सुन्दरी ! शूर वृक के द्रव्यहीन होने पर तुम ने उसे अपने सुखद अंक में स्थान देना अस्वीकार किया·····।"

दिव्या के शरीर में भय की सिहरन दौड़ गई। धाता ने अपना स्वर कठोर कर पुनः प्रतारणा की—"माताल अभिजातवंशीय कुमारी के लिये मार्ग छोड़ो !"

धाता की पुकार से आश्वासन पा दिव्या ने भी पुकारा—"पथ छोड़ दो नागरिक !"

"माताल ! कौन माताल···?" वृक ने ऊँचे स्वर में ललकारा—"यूथप वृक शिष्ट कुलीनों की भाँति सखाओं की संगति में उत्तम सुरा का पान कर कलावती वेश्याओं से रमण करता है।"

धाता का स्वर भाव से विकृत होगया—"माताल, कुलीन नारी के सम्मुख धृष्टता का परिणाम कठिन होगा !"

वृक अपने माताल साथियों सहित और आगे बढ़ा उसने अट्टाहास किया—"हा-हा कुलीन ! धन सबसे बड़ा कुल है ? महाश्रेष्ठि प्रेस्थ का कुल ! वक्ष पर शस्त्र प्रहार सहने वाले सेनापति पृथुसेन के सैनिकों को कौन अकुलीन कहता है ?·····तू नारी ! दार्व के कुलीनों के हृदय पर पाँव रख छीनी हुई शत स्वर्ण मुद्रा अभी शूर वृक की बसी में समाप्त नहीं हुई। वृक ने दार्व की भय से कांपती महा कुलीन सुन्दरियों का भोग उनके रजत पर्यङ्कों पर किया है। कुलीन सुन्दरी, बोलो तुम्हारे सहवास का क्या मूल्य है ? यदि तुम वसुमाला और मल्लिका भी हो तो स्वर्ण का दण्ड तुम्हारे द्वार पर खड़े प्रतिहारियों के खड्ग को नत कर देगा। तुम स्वयम् उसके सम्मुख विनीत प्रार्थी हो जाओगी। सुन्दरी

मेरे मुख से मेरय की कटु गंध नहीं, द्राक्षी का मधुर सुवास सूँघो जो तुम्हारे प्रसाधन उपचार से सुवासित शरीर के स्वेद के समान प्रिय है·····"

उन्माद में डगमगाते माताल ने अपना सिर पीछे की ओर झुका किलकारी भरी—"हाय, हाय सुन्दरी !" और अपने होठों से रस लेने का शब्द कर भूमि पर पाँव पटकने लगा।

"आओ सुन्दरी सुख दो और धन लो !"—वृक ने भुजा फैला कर निमंत्रण दिया।

धाता ने पुनः पुकारा—"धृष्ट माताल, कुलीन वंश की कन्या के अपमान का फल अत्यन्त कठोर होगा !"

वृक के दाहिनी ओर खड़े शिथिल पद माताल ने आगे बढ़ अट्टाहास्य से चीत्कार किया—"कुलीन नारी !" और दूसरे माताल साथी की भाँति शब्दों का रस जिह्वा से ओठों पर अनुभव कर, उन्माद से विलम्बित स्वर में उसने दोहराया—"यूथप वृक, कु-ली-न ना-री का लो-ल गा-त !" और हाथ का मद्य कुतुप पुनः मुख से लगा लिया।

दिव्या का धैर्य शिथिल होगया। मनका आतंक वश कर उसने स्वर कठोर कर प्रतारणा की—"सैनिकों, इस धृष्टता का फल दारुण होगा।"

मदमत्त वृक शिविका की ओर बढ़ आया। हिंस्त्रक पशु की भाँति गुर्रा कर, हाथ का कुतुप पथ पर पटक उस ने उत्तर दिया—"नारी का यह अहंकार ? क्या मूल्य है तेरे अभिमान का ? तुझे अहंकार है कुलीन पुरुष की भोग्या होने का ? यूथपति वृक ने दर्प में कुलीनों का सिर अपने पद से कुचला है।" उसने अपना भारी यवन जूता शिला-मण्डित पथ पर पटका—"तुझे रजत के पर्यङ्क और कौशेय के बिछौनों पर कुलीन-धनी पुरुषों द्वारा भोगी जाने का गर्व है ?·····तेरी ही भाँति शिविकारोही, अभिमानिनी कामिनियों का मर्दन वृक ने अपने अंगों में किया है।"—दाँत किट-किटा कमर से बोझल बसौ

खींच अधर में लटका वृकने ऊँचे स्वर में पुकारा—"मैं तेरे अहंकार का मूल्य दे सकता हूँ।"

वृक ने भुजा घुमा अपने साथी को आज्ञा दी—"वारुण, शिविका-रोही कुलीन सुन्दरी को यूथपति वृक की सेवा में उपस्थित करो!"

शिविका पर बैठी दिव्या थर-थर काँप रही थी। धाता दोनो हाथ उठा शिविका के सम्मुख खड़ी हो चीत्कार कर उठी—"आततायी-आततायी···! नागरिकों! रक्षा करो!" वाहकों को उसने कुमारी की रक्षा के लिये ललकारा। वाहक उतावली में शिविका पथ पर टिका आगे बढ़े।

सहसा समीप ही शिला-मण्डित पथ पर द्रुत वेग से दौड़े आते अश्वों की टाप सुनाई दी। सम्मुख पथ के मोड़ पर शीघ्रता से बढ़ते प्रकाश की झलक दिखाई दी। क्षण भर पश्चात् ही एक दीपदण्डधारी अश्वारोही के पीछे श्वेत अश्व पर, कुलीन वेशधारी एक युवक, अश्वारोही सशस्त्र दास सहित आता दिखाई दिया।

धाता पुकार उठी—"आर्य रक्षा!·····आततायी से धर्मस्थ की प्रपौत्री की रक्षा!"

कुलीन युवक के अश्व की वागुरा खिंच गई। दूसरे अश्व भी सहसा रुक गये। तीनों माताल स्तम्भित रह गये। कटि से, लटकी खड्ग खींच, अपने अश्व को शिविका के सम्मुख कर युवक ने कहा—"महासामन्त सर्वार्थ वर्मा का पुत्र अजेय वर्मा कुमारी की सेवा में प्रस्तुत है।·····इस असमय, इस अशोभन स्थान में भद्रे का आगमन किस प्रकार हुआ?"

आदर से मस्तक झुका धाता ने उत्तर दिया—"आर्य, कुमारी एक सखी के निमंत्रण से लौट रही हैं। राज-पथ के जमघट में विलम्ब से बचने के लिये शिविका निराले पथ से जा रही थी। माताल आततायियों ने मार्ग अवरोध कर लिया।"

अजेय वर्मा ने क्रोध से मातालों की ओर देखा। वृक के दोनो

साथी भय से काँप रहे थे। वृक भाग जाने की चेष्टा में अश्वारोही सशस्त्र दास द्वारा रोक लिया गया। वृक का सैनिक वेश देख अजेय वर्मा क्रोध से ओंठ काटकर बोला—"विजयी दास-बलाधिकृत के सैनिकों के अतिरिक्त यह दुस्साहस कौन करेगा ?"

तीनों मातालों को बन्दी बना, राज-पुरुषों को सौंपने का, आदेश सशस्त्र दास को दे, अजेय वर्मा ने दीप-दण्ड-धारी दास को महापण्डित धर्मस्थ के प्रासाद का मार्ग दिखाने का आदेश दिया। वह स्वयम शिविका के पार्श्व में चला। दिव्या के प्रति सहानुभूति में वह अपना असंतोष प्रकट कर कह रहा था—"अकुलीनों का उत्साह बढ़ा, उन्हें कुलीनों का पद देने का परिणाम अभी और क्या होगा ?···सम्भवतः अपने प्रासाद से निकाले जाकर, उनके कंधे से कंधा मिलाकर हमें अपना अस्तित्व खो देना होगा।"

शिविका कुछ पद आगे बढ़ने पर दिव्या ने निवेदन किया—"आर्य की अत्यन्त सामयिक कृपा के लिये अनेक धन्यवाद ! आर्य कष्ट न करें। देवी वसुमित्रा को दिये वचन के अनुसार कुछ क्षण के लिये मुझे उनके चतुश्शाल में उपस्थित होना आवश्यक है। इस कारण भी इस मार्ग का अवलम्बन किया था। देवी वसुमित्रा के प्रासाद से दीपदण्ड का प्रबन्ध सुविधा से हो सकेगा और मार्ग भी प्रशस्त है।"

धाता ने विस्मय से दिव्या की ओर देख परन्तु उसकी बात में योग दिया—"देवी वसुमित्रा के प्रासाद में कुमारी की प्रतीक्षा है·····
···आर्य को दासी का प्रणाम।"

अजेय वर्मा के आदेश से दीप-दण्ड-धारी दास ने मार्ग बदल दिया। वसुमित्रा के प्रासाद के अनेक दीपों से प्रकाशित सिंहद्वार के तोरण के नीचे पहुँच आर्य अजेय वर्मा कुमारी का नमस्कार आदर से ग्रहण कर अपने मार्ग पर विदा होगया।

* * *

वसुमित्रा के सिंहद्वार पर शिविका छोड़ दिव्या ने उद्यान में प्रवेश किया। धाता स्वामिनी का अभिप्राय न समझ मूक तत्परता में पीछे-पीछे चली। द्वार से चतुश्शाल की ओर न जा दिव्या अंधकारमय उद्यान में एक घने कुंज में जा पृथ्वी पर बैठ गई।

धाता को सम्मुख देख उसने सम्बोधन किया—"अम्मा, तुम जाओ! शिविका सहित प्रासाद लौट जाओ! मेरे लिये अब प्रासाद में स्थान नहीं। आर्य पृथुसेन के यहाँ भी स्थान नहीं। मैं वंचिता हूँ। किंकर्तव्यविमूढ़ हूँ। नहीं जानती, कहाँ स्थान पाऊँगी? पथ पर, वीथियों में, वन के वृक्षों के नीचे, अथवा आपगा के जल में! अम्मा जाओ। तुमने सन्तान की भाँति अपने स्तन से मेरा पालन किया। माता पुत्री को पति के घर के लिये विदा देती है, वैसे ही मुझे विदा दो। मेरे पति ने मेरी वंचना की है। प्रपितामह और पति किसी के यहाँ मेरे लिये स्थान नहीं।·····कह नहीं सकती कहाँ जाऊँगी!"

धाता के नेत्रों से आँसू उमड़ पड़े। अपना स्तन मुख में दे, हृदय पर रख पाली हुई दिव्या स्वामिनी होकर भी, उस असहाय अवस्था में उसकी अपनी बेटी के ही समान हृदय का अंग हो उठी। समीप ही भूमि पर बैठ, दिव्या को अंक में ले, धाता ने अश्रु अवरुद्ध कण्ठ से कहा—"बच्छे, क्या कह रही हो!·····मैं तुम्हें छोड़ जाऊँ!····· तुम कहाँ जाओगी?"

दिव्या के नेत्र सूखे रहे, स्वर भी संयत रहा—"अम्मा, विवाह बिना गर्भ धारण कर मैं तात के प्रासाद में किस प्रकार रह सकती हूँ? जिसका गर्भ है उसी के यहाँ स्थान नहीं तो कहाँ स्थान होगा? जहाँ मेरा गर्भ है, वहीं मैं हूँ। कहीं भी जाऊँगी। कहीं भी स्थान न पा, दासी कर्म कर, अपने आपको बिक्री कर, उदर के प्राणी की रक्षा करूँगी। दैव की जो इच्छा हो·····!"

"क्या कहती हो बच्छे?"—अपने आंसुओं से दिव्या के केश

भिगो, उसे बल पूर्वक आलिंगन में समेट धाता ने कहा—"तुम पथ-वीथी में जीवन बिताओगी ?·····तुम दास्य करोगी ?·····मेरे माणिक, जिसने हाथ से कभी काष्ठ स्पर्ष नहीं किया, चरण से रज का स्पर्ष नहीं किया, घाम नहीं देखा, शीत नहीं देखा। मेरी माणिक तुम वीथी में, निर्जन बनमें जीवन बिताओगी ? तात, इस आततायियों और निष्ठुर हिंस्त्रों से पूर्ण समाज में तुम अकेली·····?"

"अम्मा उपाय क्या है ?"—दिव्या ने पूछा—"किससे भय है ?·····भय किससे नहीं है ? माताल वृक से भय है ? पृथुसेन से भय नहीं किया था ;·····क्या हुआ ? वृक से भय किस कारण ? नारी है क्या ? माताल वृक ठीक ही कहता है अम्मा। धीर रुद्रधीर, कोमल पृथुसेन, अभद्र मारिश और माताल वृक नारी के लिये सब समान हैं। जो भोग्य बनने के लिये उत्पन्न हुई है, उसके लिये अन्यत्र शरण कहाँ ? उसे सब भोगेंगे ही। भय किससे नहीं ? क्या तात् से भय नहीं ? महापितृव्य से भय नहीं ? वे मुझे आर्य रुद्रधीर को देना चाहते थे। स्वेच्छा से पृथुसेन को अर्पण किया। उसका फल यह है अम्मा।·····क्या उपाय है ?"

धाता कुछ उत्तर न दे, दिव्या को अपने उमड़ते हृदय से लगाये मौन रोती रही। कण्ठ के आँसू निगल क्रंदन से विकृत स्वर में उसने कहा—"बच्छे स्वामिनी, हिंस्त्रों से पूर्ण इस संसार में तुम्हें अकेली कैसे जाने दूँ ? मेरी माणिक, दासी तेरे साथ रहेगी। कोमलांगी कन्या के लिये प्रसव कठिन समय होता है। बच्छे, दास की गति स्वामी के साथ है। मैं तेरी ही दासी हूँ। विपत्ति में तुझे छोड़ परलोक के लिये किस प्रकार पातक संचय करूँ ? मैंने जीवन और समाज देखा है, सुख-दुख देखा है, स्त्री-पुरुष देखे हैं। छल-छन्द देखा है। मेरी अबोध स्वामिनी, तेरी माता ने तुझे मुझे सौंपा था। तेरे कष्ट में तेरी अम्मा दासी आँचल की ओट किये तेरे साथ रहेगी।"

कुंज में एक घड़ी मौन बैठे रहने के पश्चात् वसुमित्रा के चतुश्शाल में समाज विसर्जन होने के समय, दिव्या और धाता सिंहद्वार पर प्रतीक्षा करते शिविका वाहकों को छोड़, उद्यान के पृष्ठ द्वार से निकल पुनः नगर की अंधियारी वीथियों में फिरने लगीं।

शरीर के भार के कारण दिव्या के लिये निरंतर चलते जाना दूभर था। उसने नगर की किसी पान्थशाला में जा विश्राम करने की इच्छा प्रकट की। धाता ने समझाया—"बच्छे पुरुष साथ न होने से पान्थशाला आपत्ति-जनक है। वहाँ राज-पुरुषों की शंका का उत्तर देना होगा। शिविका वाहकों के रिक्त शिविका ले प्रासाद लौटने पर तुरंत खोज होगी।"

रात्रि का दूसरा पहर समाप्त हो रहा था। सब ओर अन्धकार था। केवल पथ के समीपवर्ती घरों के गवाक्षों और अलिन्दों से ही जहाँ-तहाँ प्रकाश पड़ रहा था। और प्रकाश था, मद्य के पण्यों और वेश्याओं के घरों के सम्मुख। उन्हें प्रकाश से भय था पहचाने जाने का। अन्धकार से भी भय था, अज्ञात का। सब ओर भय था। पुरुष का भय था। पथों पर केवल पुरुष ही थे। स्त्रियाँ न थीं। स्त्रियाँ थीं तो केवल वेश्यायें। पुरुष भी ऐसे जिनसे स्त्रियाँ आशंकित होतीं। वीथी या पथ के किसी स्थान पर बैठना या खड़े होना सन्देह का कारण था। धाता और दिव्या शिथिल पदों से इस वीथी से उस वीथी और उस पथ से इस पथ पर घूम रही थीं। अत्यन्त श्रान्ति के कारण भयंकर शीत में भी दिव्या के वस्त्रों के नीचे स्वेद की धारा बह जाती। कभी सम्मुख वायु होने से ठिठुर कर कांपने लगती। वे आश्रय खोज रही थी। परन्तु जानती न थी, आश्रय कहाँ है और वह कैसा होगा।

लक्ष्यहीन चलते-चलते दिव्या और धाता दूसरी बेर वेश्याओं के मार्ग से निकलीं। वहाँ मद्य और खाद्य के पण्यों पर अबभी यथेष्ट प्रकाश और कोलाहल था। दूसरे खण्ड पर वेश्याओं के अलिन्दों से

दीपों का प्रकाश मार्ग पर पड़ रहा था। उन दीपों के समीप, प्रकाश मुख पर लिये, पुष्पों से केश गूँथे, मुख और होठ रंगे, अनेक वेश्यायें बैठी थीं। वे मार्ग पर आने-जाने वाले पुरुषों का ध्यान संकेत से आकर्षित कर रही थीं। अनेक अलिन्दों से वीणा, वंशी और मुरज के स्वर सुनाई दे रहे थे।

मार्ग पर भी अनेक वेश्यायें गले में पुष्पहार पहने, ओठों पर ताम्बूल और नेत्रों में मद की लाली और मुख पर उपेक्षा और उन्माद का भाव लिये पुरुषों को आमन्त्रित कर रही थीं। अनेक अपने ग्राहकों के बाहु का आश्रय लिये मार्ग पर घूम रही थीं। धाता ने दिव्या के कान के समीप मुख ले जाकर कहा—"वेश्याओं का स्थान है····· शीघ्र चली चलो!"

संकोच अथवा आशंका प्रकट न कर दिव्या ने उत्तर दिया—"अम्मा, अधिक चला नहीं जाता। कहीं विश्राम करें!"

एक आपानक के समीप से जाते समय पान में रत किसी पुरुष ने उन्हें परिहास के संकेत से पुकारा। अपनी पुकार की उपेक्षा से उस पुरुष ने आगे बढ़ धाता के कंधे पर हाथ रख प्रश्न किया—"मौसी, इतने उत्सुक रसिकों की अवज्ञा कर इस सुन्दरी को किस भागवान के प्रयोजन से लिये जा रही हो?"

कुछ घड़ी पूर्व शिविकारूढ़ रहने और रक्षार्थ शिविका-वाहकों के उपस्थित होने पर भी दिव्या ने माताल वृक की ललकार से आशंका अनुभव की थी। इस समय पथ पर निराश्रय हो उसने धाता से पूर्व ही निश्शंक स्वर में उत्तर दिया—"नागरिक हम वेश्या नहीं हैं। हम विदेशी हैं। पान्थशाला का मार्ग भूल गई हैं।"

उस मद्यप के पीछे और पुरुष मद्य के पण्य से उठ आये। उसी समय समीप की वीथिका से निकल आई एक वृद्धा ने धाता, दिव्या और मद्यपों के बीच हो, दोनों बाहु फैला विरोध में कहा—"वाह,

कैसे भद्र हो तुम सागल के नागरिक, जो कुल-वधुओं और वेश्याओं में अन्तर नहीं जानते ?" मद्यप ने परिचय के स्वर में वृद्धा को सम्बोधन किया—"वाह ! मौसी जया, तुम बीच में क्यों बोलती हो ?"

"अरे, मैं बीच में बोल रही हूँ ?·····क्या कहते हो युवक ?" आहत विस्मय के भाव से दोनो हाथों की हथेलियाँ उठा वृद्धा ने पुकारा—"मैं बीच में बोल रही हूँ ?·····मेरी बहिन की बेटियाँ 'वल्का' से आई हैं, उन्हें स्थान पर पहुँचाने जा रही हूँ। देखो तो, इन्हें पाँव चलने का अभ्यास कहाँ है ? कैसी क्लान्त और विश्री हो रही हैं।"

धाता की पीठ और दिव्या के सिर पर वृद्धा स्नेह से हाथ फेरने लगी। युवकों को सम्बोधन कर उसने कहा—"तुम्हें वेश्याओं के यहाँ जाने का प्रयोजन है, तो जाओ न ! वासा के यहाँ जाओ ! उसके यहाँ दो नवीन पार्वतीया आई हैं।·····मद्य के प्रभाव से नेत्र क्यों मूँद रहे हो ?"

"चलो बेटी, चलो !"—धाता और दिव्या को वृद्धा ने आगे बढ़ने का संकेत किया।

कुछ पग आगे पथ के अन्धकार पूर्ण भाग में पहुँच वृद्धा चिन्तापूर्ण वात्सल्य के स्वर में बोली—"हाय-हाय देखो तो, कैसे दुष्ट पुरुष हैं ?·····यदि मैं देख न लेती ?·····चलते-चलते बेटियों के पाँव शिथिल होगये !·····पथ भूल गई तो क्या ?·····पान्थशाला बहुत दूर है तो क्या ? सूर्योदय होने पर पान्थशाला पहुँचा आऊँगी।"

धाता ने दिव्या का बाहु छू कर संकेत किया। दिव्या ने उसकी मुख की ओर प्रश्नात्मक दृष्टि उठाई परन्तु अंधकर के कारण कुछ जान न पायी। वृद्धा कहती जा रही थी—"देवताओं का दिया तुम्हारा अपना घर है। सेठ की भाँति अट्टालिका न सही, परन्तु विश्राम के योग्य स्थान, भोजन, वस्त्र सब कुछ है। मेरे भी तुम्हारी जैसी बेटी है।"

धाता के पाँव में दासी के चिह्न रूप कड़ा पहचान, वृद्धा ने उसे

सम्बोधन किया—"आहा, तुम स्वामिनी की कितनी अनुगत हो ? तुम निश्चय ही पुण्यात्मा हो !"

धाता ने उत्तर दिया—"मौसी तुम अत्यन्त वत्सल हो परन्तु हम लोगों को पान्थशाला पहुँचना आवश्यक है। परिजन प्रतीक्षा से उद्वेगित होंगे·····।"

बीच ही में दिव्या बोल उठी—"परन्तु अम्मा मैं अत्यन्त श्रान्त हूँ ! चलना कठिन है !" धाता ने पुनः उसकी बाहु दबा कर संकेत किया। अभिप्राय न समझ दिव्या पुनः उसके मुख की ओर देखने लगी।

परिस्थिति भाँप वृद्धा दिव्या के सिर पर हाथ रख, करुण स्वर में कहा—"हाय, हाय, ठीक तो कहती है बेटी। इसकी अवस्था क्या चलने योग्य है ? यदि ऐसा ही है तो घर में आधी घड़ी भोजन विश्राम करो। होगा, बिटिया को पालकी में पान्थशाला पहुँचा दूँगी। हाँ अभी विलम्ब ही क्या हुआ है ? और ऐसा दूर भी क्या है ?

धाता विवश मौन रहगई परन्तु वृद्धा कहती गई—"और क्या ऐसी संकट वेला में कुलवधु क्या अज्ञात पुरुषों से भरे पथ पर जाती हैं ?···बेटी, युवती को पुरुष से सदा आशंका है। इस वृद्धा अवस्था में भी निर्जन पथ पर पुरुष को देख मेरे रोम काँप जाते हैं। यह सागल नगरी युवतियों के लिये बीहड़ बन से अधिक भयानक है। यहाँ के छलिया पुरुष नारी-माँस के विकट आखेटक हैं। मैं तो जरा जीर्ण हो अब अन्धकार में पथ भी नहीं देखपाती·····।"

धाता और दिव्या को लिये, एक अन्धियारी वीथी पार कर वृद्धा ने एक जीर्ण, साधारण भवन के सामने ठहर कर द्वार खट-खटाया। कुछ क्षण में द्वार खुला। एक प्रौढ़ व्यक्ति दिखाई दिया। दिव्या और धाता सहित वृद्धा के प्रवेश कर लेने पर प्रौढ़ ने द्वार बन्द कर ताला लगा दिया। पीठ पीछे द्वार में ताला लगाया जाने से दिव्या और धाता दोनों की ही पीठ पर भय की सिहरन दौड़ गयी।

ड्योढ़ी के सम्मुख आँगन और आँगन के आगे अलिन्द था। अलिन्द के पीछे कोठे थे। कोठों के द्वार मुँदे थे। अलिन्द के एक कोने में दीपक जल रहा था। दूसरे कोने में छोटे पर्यङ्क पर श्वेत बिछौर बिछा था। पर्यङ्क के समीप भूमि पर एक दास बालक शीत से सिमटा बैठा था। आँगन में पहुँच प्रथम दीर्घ श्वास के साथ ही दिव्या के मन में प्रश्न उठा, विश्राम के लिये आश्रय पाया या बन्धन? उसने धाता के नेत्रों की ओर देखा। वहाँ भी उसे भय और आशंका दिखाई दी!"

प्रौढ़ पुरुष की जिज्ञासु दृष्टि के उत्तर में वृद्धा ने आतिथियों को सुना कर कहा—"देखो तो, अपने पेट की बेटी जैसी यह भद्र युवती! ·····दासी सहित मार्ग भूल क्लेशित हो रही थी। देखकर मेरा हृदय उछल आया। माताल पुरुष भी कैसे होते हैं!·····इन्हें विश्राम के लिये आसन और क्षुधा निवृत्ति के लिये कुछ जलपान दो न!"

प्रौढ़ पुरुष ने स्थिति जान ग्रीवा झुका ली और पर्यङ्क के बिछौर पर बैठ हाथों से ताली बजाई। समीप बैठे दास बालक का ध्यान आकर्षित होने पर प्रौढ़ ने भूमि पर बिछाने के संकेत से आसन और मुख की ओर हाथ कर खाद्य पदार्थ के लिये आदेश दिया। वृद्धा प्रौढ़ के सम्मुख भूमि पर बैठ रहस्य के स्वर में उससे परामर्ष करने लगी।

कुछ क्षण पश्चात बालक काँख में चटाई और हाथ में काठ का एक पात्र ले लौटा। धाता ने बालक के हाथ से चटाई ले भूमि पर बिछा दी। दिव्या के बैठ जाने पर वह स्वयम् समीप भूमि पर ही बैठ गई। दिव्या ने उसे हाथ से खींच, अपने शरीर से सिमटा लिया। बालक ने भुने अन्न से भरा काठ का पात्र उनके सम्मुख रख दिया था। पास हाथ से हटा, धाता ने बालक से जल माँगा।

ध्यान वृद्धा की बात की ओर होने पर भी प्रौढ़ ने धाता की बात सुन पुनः बालक का ध्यान आकर्षित कर उंगलियों से संकेत किया।

बालक फिर आँगन के द्वार से चला गया और कुछ क्षण पश्चात एक युवती के पीछे-पीछे लौटा।

युवती सुन्दरी थी। आयु में प्रायः दिव्या की समवयस्का। वर्ण प्रायः गोरा, कृष्ण दीर्घ नेत्रों और मुख पर चपलता और अधिकार का भाव। उसके कण्ठ और बाहु पर स्वर्ण के अभूषण थे। शीत से बचने के लिये वह अर्घ ओढ़े थी। धाता और दिव्या की ओर अर्थ-पूर्ण दृष्टि डाल उसने प्रौढ़ की ओर देखा।

युवती की जिज्ञासा का उत्तर दुर्बोध भाषा में दे, प्रौढ़ ने शेष बात सुलभ भाषा में कही—"अंजना, दासी सहित यह कुल-वधु हमारी अतिथि है। इसके जलपान के लिये कुछ लाओ!"

युवती अनुमति में ग्रीवा झुका, पुनः आगन्तुकों की ओर देखती हुई चली गई। शीघ्र ही वह बालक के एक हाथ काँसे के एक पात्र में भुना माँस और दूसरे हाथ में सुरा का कुतुप और पान-पात्र लिये उपस्थित हुई। दोनो वस्तुयें दिव्या के सम्मुख रख युवती बोली—"भद्रे, इस समय केवल यही शेष है। किंचित आहार और पान से श्रान्ति दूर होगी।"

आहार के लिये दिव्या के अनिच्छा प्रकट करने पर धाता ने युवती से जल के लिये अनुरोध किया। युवती के संकेत से बालक पीतल के एक पात्र में जल ले आया। अभ्यास न होने के कारण दिव्या ने भारी पात्र को तनिक असुविधा से थाम यथेष्ट जल पिया और शीत से काँप गई।

दिव्या को कुछ आहार न लेते देख वृद्धा ने आत्मीयता से आग्रह किया—"बेटी कुछ खाओ न! यह माँस अत्यन्त कोमल और स्वादु है.....आसव अत्यन्त उत्तम है। इसके सेवन से मन सुस्थ होगा। बेटा, संकोच न करो। तुम्हारा अपना ही घर है।"

वृद्धा प्रौढ़ से दुर्बोध भाषा में बात कर रही थी। उसका स्वर व्यग्रता के कारण ऊँचा होगया। पर्यङ्क की पाटी का आश्रय ले वह

असंतोष के भाव से उठ खड़ी हुई। बड़-बड़ाती हुई वह द्वार की ओर चल दी। प्रौढ़ भी उठा। वह वृद्धा को सान्त्वना दे रहा था। कटि पर अन्तरवासक की लपेट में से निकाल, एक स्वर्ण-मुद्रा उसने वृद्धा के हाथ में दी। वृद्धा ने असंतोष से हाथ झटक दिया। कुटी हुई भूमि पर मुद्रा गिरने की झंकार हुई। गिरी मुद्रा उठा पुनः वृद्धा के हाथ में थमा, दुर्बोध भाषा में उसे सान्त्वना देता हुआ प्रौढ़ वृद्धा को द्वार की ओर ले चला। वृद्धा के लिये उसने द्वार का ताला खोल मार्ग किया और पुनः ताला लगा, चाभी कटि पर अपने अन्तरवासक की लपेट में खोंस वह आँगन के द्वार से दूसरी ओर चला गया।

शीत से सिमटा दास बालक अलिन्द के स्तम्भ से पीठ लगाये, अपने दोनो दुर्बल, काले जानुओं को बाहुओं में लपेटे, उन पर ठोड़ी टिकाये निरंतर उन दोनों की ओर देख रहा था। दृष्टि दूसरी ओर होने पर भी दिव्या को निरंतर ताला लगा द्वार दिखाई दे रहा था। वह बन्धन और विवशता अनुभव कर रही थी।

धाता ने उसके कान के समीप मुख ले जा कर अत्यन्त धीमे स्वर में कहा—"भद्रे, सद्गृहस्थ का निवास नहीं जान पड़ता।"

"जो भी हो!"—दीर्घ निश्वास से दिव्या ने उत्तर दिया—"उपाय क्या है?"—अपना सिर उसने धाता के कंधे से लगा दिया।

आँगन की कुटी हुई भूमि गोबर से लिपी थी और भित्तियाँ नीलापन लिये श्वेत मिट्टी से। अलिन्द में दीपाधार पर जलते दीप से आँगन की भूमि पर धीमा प्रकाश पड़ रहा था। भित्तियाँ आधी ऊँचाई तक प्रकाशित थीं। ऊपर का भाग अन्धकार में विलीन हो जाने से अन्धकारमय आकाश में जा मिला था। नेत्र प्रकाश में रहने के कारण खुले आकाश का अन्धकार और भी निबिड़ जान पड़ रहा था। शीत से जमे वाष्प से भरे आकाश में तारे गहरे कुयें की तलैटी में हिलते जल की भाँति झिलमिला रहे थे। चिर-काल तक मौन बैठी दिव्या और

धाता अपने आपको अन्ध कूप में बन्दी की भाँति निस्सहाय और परवश अनुभव करने लगीं।

मनकी क्षुब्ध स्थिति में दिव्या और धाता को आकाश के चिर-परिचित नक्षत्र भी अपरिचित और विचित्र जान पड़ रहे थे। दिव्या कुछ पल आकाश की ओर देखती और फिर जानु पर चिबुक टिका सोचने लगती—कहां आ गई ?·····आगे क्या होगा ? प्रमितामह के प्रासाद में सब कुछ था परन्तु वहाँ वह अपराधिनी और कलंकिनी बन गई। यदि वह अपराधिनी और कलंकिनी न बने तो वह भृत्या, दासी सभी कुछ बनने और सहने के लिये प्रस्तुत है।·····वह माता बन रही है, माता बन सके।

कल्पना में तात का प्रासाद दिखाई देने लगा। धृति शर्मा की पत्नि आर्या मोक्षा के प्रथम गर्भ प्रसव के उपलक्ष में सम्पूर्ण प्रासाद उल्लास से गूँज उठा और वह स्वयम उसी अपराध के कारण निराश्रय हो प्राण रक्षा के लिये भाग रही है। उसने एक दीर्घ निश्वास लिया—हाय वंचक पृथुसेन ! सुख और गर्व का कारण गर्भ कलंक और अमार्जनीय अपराध बन गया। कल्पना में रूक्ष और गम्भीर रुद्रधीर भी दिखाई दिया और अभद्र चारवाक मारिश भी। मारिश की वह स्तुति स्मरण हो आई—"भद्रे तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण शक्ति का निखार मात्र है ; जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति हैं !" उस आकर्षण में, नारी में निहित सृष्टि की शक्ति में कितना अभिशाप अंतर्निहित है ? इस सबके लिये वह कब प्रस्तुत थी ? परन्तु दैव की इच्छा ऐसी ही थी।

प्रौढ़ आँगन के द्वार से लौटा। युवती उसके पीछे थी। "बेटी, यहाँ शीत में कष्ट होगा।"—उसने दिव्या को सम्बोधन किया हाथ बढ़ा कर उसने कहा—"लाओ, यह बहुमूल्य आभूषण सुरक्षित रख दूँ।" दिव्या के नेत्र प्रौढ़ की ओर उठे। धाता ने भी उस ओर देखा। मुख

से कुछ न कह दिव्या ने कण्ठ की मुक्ता मालायें उतार प्रौढ़ के हाथ में दे दीं।

प्रौढ़ के साथ खड़ी युवती कौतूहल वश न कर सकी। उसने मालायें प्रौढ़ के हाथ से झपट लीं और विस्मय से नेत्र फैला, उन्हें दीपक के समीप ले जा, देखने लगी। उस ओर ध्यान न दे, दिव्या के बाहुमूल की ओर संकेत कर प्रौढ़ ने कहा—"बेटी, यह अंगद भी।"

दिव्या ने अपना बाहु धाता की ओर बढ़ा दिया। धाता ने विवशता से कांपती उंगलियों से रत्न-जटित अंगद के बंधन खोल उसे भी प्रौढ़ के फैले हुये हाथ पर रख दिया। युवती ने उन्हें भी झपट लिया। प्रौढ़ ने अपनी बात दोहराई—"बेटी यहाँ शीत में, आकाश के तले, भूमि पर कष्ट होगा। आओ, कक्ष में विश्राम करो!" दिव्या और धाता प्रौढ़ के संकेत से उठ उसके पीछे-पीछे आँगन के द्वार से चलीं।

वे अधिक विस्तृत दूसरे आँगन में पहुँचीं। आँगन के चारों ओर अनेक कक्षों के मुन्दे हुये कपाट भित्तियों में दिखाई दे रहे थे। दक्षिण के कोने की ओर एक प्रकाशित कक्ष के अतिरिक्त सब ओर गहरा अन्धकार था। प्रौढ़ इसी दिशा में धाता और दिव्या के आगे-आगे चला। प्रकाशित कक्ष के समीप के कक्ष का द्वार खुला था। द्वार के बाहर एक व्यक्ति प्रहरी के से मलिन वेश में, कमर में खड्ग और हाथ में कोड़ा लिये खड़ा था। तीन पुरुष कक्ष से निकले। जीर्ण, मलिन और अपर्याप्त वस्त्रों में शीत से सिमटते वे दास से जान पड़ते थे। प्रहरी उन तीनों को दूसरी ओर ले गया।

बालक काँख में चटाई लिये और हाथों में दीपक सम्भाले शनैः-शनैः उनके पीछे-पीछे चला आ रहा था। प्रौढ़ के संकेत से बालक ने

दीपक कक्ष के कोने में रख चटाई भूमि पर बिछादी। दिव्या की पीठ पर हाथ रख वृद्ध ने उसे भीतर जाने का संकेत किया—"बेटी यहाँ शीत से कष्ट न होगा। विश्राम करो।"

धाता भी कक्ष में जा रही थी परतु प्रौढ़ ने अपने बाहु से द्वार रोक कर कहा—"तुम्हारे लिये अन्यत्र स्थान है।"

दिव्या ने बिलख कर प्रार्थना की—"अम्मा को यहीं आने दो!" परन्तु कक्ष के द्वार बन्द हो गये। दिव्या ने कक्ष पर ताला लगा देने का शब्द सुना।

कक्ष में दिव्या और बाहर धाता के कण्ठों में चीत्कार उठा परन्तु स्वयम् ही उसकी व्यर्थता अनुभव हो जाने से वह निश्शब्द श्वास में बह गया। कौन उसे सुनता? दोनो के नेत्रों से विवशता के अश्र

७

तात धर्मस्थ

दो पहर रात्रि बीत जाने पर वसुमित्रा के चतुश्शाल में समाज का अन्त हुआ। अभ्यागत सिंहद्वार पर आ अपने रथों, अश्वों और शिविकाओं पर आरूढ़ हो, अपने स्थानों की ओर चले गये। धर्मस्थ की प्रपौत्री दिव्या की शिविका के वाहक भी, दूसरे अभ्यागतों को विदा होते देख आलस्य छोड़, कुमारी के प्रासाद से लौटने की प्रतीक्षा करने लगे। दिव्या और उसकी दासी धाता न लौटीं। वसुमित्रा के प्रतिहारियों ने सिंहद्वार के तोरण का प्रकाश बुझा, द्वार मूँदने का आयोजन किया।

दिव्या की शिविका के वाहकों ने प्रतिहारियों से धर्मस्थ की प्रपौत्री के न लौटने के विषय में जिज्ञासा की। कुमारी के चतुश्शाल अथवा उद्यान में कहीं भी न पाये जाने के समाचार से विचिन्त और अत्यन्त आशंकित हो वाहक भय से काँपते हुये धर्मस्थ के प्रासाद में लौटे।

कुमारी के विलम्ब तक न लौटने से अन्तःपुर में चिन्तित पितृव्यों और देवियों तक वृद्ध दास तारुक द्वारा समाचार पहुँचा। आर्य प्रबुद्ध शर्मा, विनय शर्मा, धृति शर्मा और अंत में पण्डित विष्णु शर्मा आस्थानागार में पहुँचे। अनेक देवियाँ भी चिन्ता से आशंकित मुद्रा

में साथ थीं। कुछ ही समय में तात धर्मस्थ, महादेवी और शिशुओं के अतिरिक्त सम्पूर्ण परिवार आस्थानागार में एकत्र होगया।

आस्थानागार, चतुश्शाल, उद्यान और सिंहद्वार के भृत्यों, दासों और प्रतिहारियों से पण्डित विष्णु शर्मा ने जाना—सूर्यास्त से कुछ पल पूर्व कुमारी दिव्या दासी धाता सहित देवी मल्लिका अथवा वसुमित्रा के संगीत-समाज में सम्मिलत होने के लिये शिविका पर प्रासाद से गई थीं। महादेवी के विक्षिप्त तथा अस्वस्थ होने और शेष परिवार के नवजात सन्तान के उत्सव में व्यस्त होने के कारण कुमारी के लौटने में बिलम्ब की सूचना निवेदन न की जा सकी।

पण्डित विष्णु शर्मा ने तत्काल द्रुतगामी अश्वों के लिये आज्ञा दी। कुमारी की खोज में अश्वारोही नर्तकी वसुमित्रा, देवी मल्लिका, प्रेस्थ-प्रासाद, सामंत सर्वार्थ के प्रासाद आदि अनेक स्थानों की ओर सरपट गये।

शिविका-वाहक और दासी धाता की पुत्री युवती दासी छाया विष्णु शर्मा की आज्ञा से तत्काल बंधन में ले लिये गये। आठों शिविका-वाहकों को पृथक-पृथक ले जा उन्हें पीड़ित कर रहस्य जानने का आदेश उन्होंने प्रतिहारियों को दिया। भृत्य, दास, दासियाँ कंचुकी पृथक-पृथक पंक्तियों में, अपने दोनों हाथ घुटनों के सम्मुख फैलाये बैठे भय से काँप रहे थे। सशस्त्र प्रहरी हाथ में कोड़े लिये उपस्थित थे। अनेक प्रसादों और भवनों में दासों के अनेक प्रकार के कठोर दण्डों और पीड़नों से परिचित होते हुये भी, धर्मस्थ के प्रासाद में इस प्रकार के काण्ड की स्मृति किसी को न थी।

एक घड़ी व्यतीत होने के पूर्व ही सभी स्थानों से अश्वारोही असफल लौट आये। क्षोभ और अवसाद की घटा गहरी हो गई। शिविका-वाहकों से कुछ भी रहस्य न पा, विष्णु शर्मा ने प्रत्येक को काष्ठ-बद्ध करने की आज्ञा दी।

दिव्या के साथ धाता की अनुपस्थिति के कारण पण्डित विष्णु

शर्मा ने धाता की पुत्री छाया के अभिसन्धि में सम्मिलित होने की शंका की। उन्होंने कुल-वधुओं को अपने कक्षों में लौट जाने का आदेश दिया। स्त्रियों के चले जाने पर उन्होंने दो प्रतिहारियों, वक्रट और ध्वज को आज्ञा दी—"दासी धाता की पुत्री छाया को विशेष पीड़ित कर रहस्य जाना जाय!"

छाया ने आँसुओं से भीगा मुख पृथ्वी पर रख त्रस्त, कम्पित स्वर में गिड़-गिड़ाते हुये, अज्ञान प्रकट कर, करुणा की भिक्षा माँगी। विष्णु शर्मा के संकेत से दोनो प्रहरी छाया को दोनो बाहुओं से उठाकर ले गये। जाते हुये प्रतिहारियों को विष्णु शर्मा ने पुनः आदेश दिया—"रहस्य प्रकट करने पर दासी को उपस्थित किया जाय!"

अन्तःपुर की दासियों से उन्होंने जाना, दासी आस्सा भी मध्याह्न में कुमारी का पथ्य ले, उसके कक्ष में गई थी। दो प्रतिहारियों को उन्होंने आस्सा को ले जा उससे भी रहस्य जानने का आदेश दिया।

कुछ समय पश्चात् प्रबुद्ध शर्मा और धृति शर्मा अपने कक्षों की ओर चले गये। विष्णु शर्मा जानु पर कोहनी और हथेली पर ठोड़ी टिकाये, पीठिका पर चिन्ता मग्न बैठे थे और समीप आर्य विनय शर्मा खड़े रहे। पीठिका के दोनो ओर दो-दो प्रतिहारी आदेश की प्रतीक्षा में उपस्थित थे। शेष भृत्यों, कंचुकियों और दासदासियों को निर्दिष्ट सेवा कार्य में जाने की आज्ञा हुई।

दो घड़ी समय बीत जाने की सूचना अलिन्द के सम्मुख लटके घड़ियाल पर पड़े प्रहार द्वारा प्रतिहारी दो बेर दे चुका था। दो बेर वे प्रतिहारी को भेज, छाया से जाने गये रहस्य के विषय में जिज्ञासा कर चुके थे। उन्होंने प्रतिहारी को पुनः एक बार और समाचार के लिये भेजा। उत्तर प्रत्येक बेर 'न कार' में आने से वे खिन्न हो मौन बैठे थे।

सहसा अन्तःपुर की यवनी प्रहरी की प्रकार सुनाई दी—"तात धर्मस्थ पधार रहे हैं! परिजन, सादर सावधान!"

मस्तक उठा विष्णु शर्मा ने देखा—"दो कंचुकियों के कंधों का आश्रय लिये तात शनैः-शनैः, अत्यन्त कष्ट से पग धरते चले आ रहे हैं। आसन छोड़, नतमस्तक हो प्रणाम कर, विष्णु शर्मा ने तात से आसन ग्रहण करने की प्रार्थना की।

कंचुकियों के कंधे के आश्रय ही खड़े रह कर तात ने प्रश्न किया—"दासी छाया कहाँ है ?·····उपस्थित की जाय।"

आज्ञा पा, एक प्रतिहारी तुरंत आस्थानागार से चला गया। तात के चरण और ग्रीवा निर्बलता से काँप रहे थे परन्तु वे उसी प्रकार कंचुकियों के कंधों के आश्रय ही खड़े रहे। कुछ क्षण पश्चात् प्रतिहारी ने लौट, धर्मस्थ के सम्मुख जानु पृथ्वी पर टिका, सिर झुकाये प्रार्थना की—"आर्य भट्टारक, दासी छाया नहीं है।"

कम्पित स्वर में तात ने प्रश्न किया—'दासी छाया नहीं है ?'

'आर्य भट्टारक, दासी छाया जीवित नहीं है'—ग्रीवा झुकाये प्रतिहारी ने समाधान किया।

तात का श्वास तीव्र हो गया। उनके जानु हिल गये। दोनों कंचुकियों ने उन्हें बाहों में ले, पीठिका पर लिटा दिया। श्वास की गति में अति तीव्रता से अवरोध के कारण वे कुछ बोल न सके। विष्णु शर्मा, विनय शर्मा और कंचुकी सिर झुकाये पीठिका पर घिर आये। वृद्ध कंचुकी विल्हण तात का शिर अपने जानु पर लिये था।

कंचुकी विल्हण के संकेत से दूसरा कंचुकी तुरंत आसव और जल ले उपस्थित हुआ। कुछ बिन्दू आसव मिश्रित जल धर्मस्थ के ओष्ठों में डालने से उनके कण्ठ की घरघराहट दूर हुई। विष्णु शर्मा को समीप आने का संकेत कर वे विलम्बित, क्षीण और कम्पित स्वर में बोले—"पुत्र, अन्याय का प्रतिकार करने के आवेश में तुमने यह अन्याय किया है।·····इस अन्याय के प्रतिकार का प्रयत्न एक दूसरे अन्याय का आरम्भ होगा·····पुत्र, प्रतिकार और प्रतिहिंसा न्याय नहीं है।

तुम्हें बेटी के चले जाने पर आक्रोष है। वह किस के अपराध से गई? मेरे·····और·····समाज के·····अनु·····शासन·····से !"

पुनः उनका कण्ठ घरघरा कर हिचकी आने लगी। विल्हण ने ने पुनः कुछ बूँद आसव मिला जल उनके मुख में दिया। अत्यन्त कठिनाई से तात फिर और भी क्षीण स्वर में बोले—"छाया को····· उसकी माता के·····स्वामी-स्नेह·····का·····परिणाम ! पुत्र,·····मुझे·····खो कर·····तुम्हारे·····इस अन्याय का····· प्रायश्चित हो।"

विल्हण ने पुनः कुछ बूँद आसव धर्मस्थ के मुख में दिया। हिचकियों के बीच अवसर में तात ने अस्पष्ट शब्दों में कहा— "पुत्र,·····बेटी·····पर·····आक्रोष·····न···करना !"

विल्हण के और जल देने पर वे निगल न सके। श्वास की गति सरल करने के लिये विल्हण ने उनकी ग्रीवा सीधी करदी। वह स्वयम् श्वास रोके, अपलक धर्मस्थ के नेत्रों की ओर दृष्टि लगाये था।

तात का माथा विष्टर पर रख, विल्हण दोनों हाथ से सिर पीट, चीत्कार कर उठा।

आस्थानागार पुनः परिवार के स्त्री पुरुषों से भर गया। प्रासाद में क्रन्दन का चीत्कार उठ खड़ा हुआ। तात के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, कुल-वधुयें, भृत्य, कंचुकी, दास-दासियाँ और प्रतिहारी सब रो रहे थे। हेमन्त के पाले से निबिड़ आकाश में नक्षत्र भी अस्थिर और द्रवित जान पड़ते थे।

दारा

मद्र-गण राज्य की दक्षिण-पूर्वी सीमा शतुद्री नदी थी। नदी के पश्चिम पत्तन पर दास व्यवसायी श्रेष्ठ प्रतूल का सार्थ गत संध्या से डेरा डाले था। अन्य दो व्यवसायी सार्थ भी नदी पार करने के लिये शौल्किक-राजपुरुषों की अनुमति की प्रतीक्षा कर रहे थे। मद्रगण की सीमा नदी को लांघ दूसरी ओर जाने से पूर्व शौल्किक राजपुरुष व्यवसायियों के द्रव्य की परीक्षा कर राजस्व-शुल्क उगाह रहे थे।

श्रेष्ठि प्रतूल ने शुल्कस्थान के प्रधान राजपुरुष के साथ रात्रि में आपानक और भोजन किया था। श्रेष्ठि के इस मार्ग से प्रायः आते-जाते रहने से राजपुरुष से उसका परिचय और सख्य था। सात मास पूर्व 'दक्षिणापथ' से कृष्ण वर्ण दास ले मद्र आते समय प्रतूल ने राज-पुरुष को सिंहल के मुक्ता की अंगुलीय भेंट की थी और उत्तर से लौटने पर काश्मीर का नीलम भेंट करने की प्रतिज्ञा की थी। मित्रता और रात्रि के आपानक का शैथिल्य होने पर भी शौल्किक मद्र के राज-नियमों की उपेक्षा न कर सकता था।

श्रेष्ठि प्रतूल सात मास पूर्व दक्षिणापथ के एक-सौ-पैंतीस दास-दासी ले कर आया था। लौटते समय उसके साथ एक-सौ-पैंसठ दास-

दासी थे। वे सभी नये थे; कुछ यवन, कुछ काश्मीरी, कुछ उत्तरापथ के गौरवर्ण और दार्व प्रान्त की गौर वर्ण, चपल नेत्र, ललित अंग अनेक दासियाँ थीं। सीमान्त के प्रत्येक युद्ध के पश्चात् दास व्यवसाय के लिये अनुकूल अवसर होता था। शौल्किक राजपुरुष ने प्रत्येक दास-दासी के क्रय का ताड़पत्र देख निश्चय किया, उनमें से कोई अपहृत अथवा अपने स्वामी की सेवा से भागा हुआ दास-दासी तो नहीं अथवा कोई द्विज-सन्तान तो नहीं।

मद्र-गण राज की राजमुद्रा धारण किये आधीन शौल्कक ने ताड़पत्र देख प्रधान शौल्किक का ध्यान आकर्षित किया—"सात मास पूर्व के लेख के अनुसार श्रेष्ठि प्रतूल ने मद्र-गण राज्य की सीमा में एक पत्नि, छः प्रतिहारी और परिचर्या के लिये एक दास और दास बालक सहित बिक्री के लिये एक-सौ-पैंतीस दास-दासी ले प्रवेश किया था। अब श्रेष्ठि दो पत्नियों सहित सीमा लांघना चाहते हैं। परिचर्या के कृष्ण दास के स्थान पर अब गौर दास है। श्रेष्ठि ने परिचर्या के लिये लाये कृष्ण दास को मद्र की सीमा में बेंचा है। परिचर्या के दास का शुल्क उस समय नहीं लिया गया था। उसके बेच दिये जाने पर उसका शुल्क, आधा निश्क मिलना चाहिये।"

हंस कर प्रतूल ने उत्तर दिया—"कर्त्तव्यतत्पर आर्य का वचन सत्य है। आप आधा निश्क और लें।"

मुद्राधारी शौल्किक ने प्रधान शौल्किक को धीमे स्वर में पुनः सम्बोधन किया—"श्रेष्ठि की द्वितीया पत्नि क्रीत दासी है अथवा विवाहित पत्नि?"

यह रहस्य सम्बोधन सुन श्रेष्ठि प्रतूल ने विनोद से हँस कर उत्तर दिया—"आयुष्मान की सर्तकता स्तुत्य है। परन्तु भद्र, द्विज-कुलों में दास-दासी का क्रय-विक्रय लेख की साक्षी द्वारा होता है। कन्यादान और पत्नि-ग्रहण केवल मुख के शब्द और अदृश्य देवता की साक्षी से

होता है। उसके लिये ताड़पत्र का प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। भद्र, "त्वंच पत्नि-अहंच भर्ता" जम्बूद्वीप के आर्यों की यही मर्यादित विवाह पद्धति है। मैंने सागल के श्रेष्ठ कुलज वणिक नैमित्यक की कन्या के रूप और गुण पर मुग्ध हो, उसे पत्नि रूप से ग्रहण किया है। और देखो, कुलवती का गुण; मेरी वंश वृद्धि का अंकुर वह इतने शीघ्र अपने शरीर में धारण किये है। मेरी प्रथम युवा पत्नि तीन वर्ष के सहवास से भी बंध्या ही है·····इसी से यह विवाह।"

'सौभाग्य हो, वृद्धि हो!"—प्रधान शौल्किक ने हँस कर उत्तर दिया—"परन्तु श्रेष्ठि की सौभाग्यवती पत्नि भद्र की स्वतंत्र भूमि छोड़ राजाओं के उत्पीड़ित देश में जा कर क्या भाग्यवती होगी? उस अबोध को राजाओं से उत्पीड़ित देश की अवस्था का क्या ज्ञान!·····मनुष्य दैव की लीला का साधन मात्र है श्रेष्ठि।"

शुल्कस्थान की पान्थशाला के अलिन्द में प्रौढ़ की पत्नि अंजना के साथ आस्तरण पर बैठी दिव्या दास-व्यवसायी प्रतूल और शौल्किक का विनोद-विवाद सुन रही थी। एक अंकुशसा उसके हृदय में चुभा—भद्र की स्वतंत्र मातृभूमि, प्यारी सागल नगरी···जहाँ उसने अल्हड़-पन के खेल खेले, उससे सदैव के लिये बिछुड़ कर वह ले जाई जा रही है। इस समय विरोध का एक चीत्कार उसे दास-व्यवसायी के पाश से, दासत्व से, मुक्त कर सकता है। परन्तु फिर वह कहाँ जायगी? उसके लिये स्वतंत्रता कहाँ है? उसके लिये शरण और स्थान कहाँ है? उसकी सम्भावित सन्तान के लिये शरण और स्थान कहाँ है? जिसके लिये जीवित रहने का अवसर नहीं, उसके लिये स्वतंत्रता कहाँ?

उसने सुना, प्रौढ़ प्रतूल राज पुरुष को उत्तर दे रहा था—"आर्य भूमि और देश का प्रेम जीवन से सम्बद्ध है। व्यक्ति जहाँ जीविका पाता है वही उसका देश है। और क्या प्रेमी का प्रणय कुछ भी नही?"

प्रणय शब्द दिव्या के लिये त्रास और आशंकामय हो गया था।

इस शब्द का अर्थ था—पृथुसेन की प्रवंचना। प्रौढ़ प्रतूल से भी उसने त्रास ही पाया था। बेटी सम्बोधन के अतिरिक्त उसने निर्दयता ही की थी। उसने दिव्या की एक मात्र अवलम्ब धाता को छीन कर न जाने कहाँ लोप कर दिया। उस संध्या कक्ष में पृथक मूँदी जाने के पश्चात धाता का कोई चिन्ह अथवा संकेत न मिला। धाता के लिये बिलखने पर प्रतूल ने स्नेह का नाट्य कर धीरज धरने के लिये कहा और अंजना बार-बार विस्मय प्रकट कर कहती—"हाय, वह छलिया जाने कहाँ चली गई ?" असहाय दिव्या मौन आँसू बहाती रही।

प्रतूल के प्रत्यक्ष स्नेहमय व्यवहार के पीछे बन्दी को संतुष्ट, सुरक्षित रखने की छलना और सतर्कता प्रतिक्षण झलकती रहती। वह समझती थी, प्रतूल की सहृदयता केवल उसे मद्र की सीमा से सुरक्षित पार ले जाने तक है। मद्र की सीमा के पार दासत्व और उत्पीड़न का पाश उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। वह मौन रह कर अपनी अनुमति से उस पाश में बंध रही है। पुनः कण्ठ तक आवेश आया—एक चीत्कार से, एक शब्द से वह उस यंत्रणा से रक्षा पा सकती है। परन्तु वह जायगी कहाँ ? सागल में तात के प्रासाद में ?···असम्भव। उत्पीड़ित हो कर भी वह शरण पाये हैं। अशरण हो वह कहाँ जायगी ? गृहहीन वर्षा में स्तम्भ की ओट पाने का ही यत्न करता है ·····। उसके नेत्र भीग गये और वह मौन रह गई। सोचा—प्रतूल और अंजना भी उसके दुर्भाग्य का रहस्य जानते हैं। इसीलिये स्थूल बन्धनों का उपयोग करना आवश्यक नहीं समझते। स्थूल बंधनों से कहीं अधिक दृढ़, परिस्थिति के सूक्ष्म, अदृश्य बन्धन उसे बंधे हैं।

प्रधान शौल्किक की अनुमति पा, श्रेष्ठि प्रतूल का सार्थ शतुद्री की धार के तट पर छिछले जल में खड़े एक बहुत बड़े बेड़े पर बैठा। नाविकों ने बेड़े को धकेल कर धार की ओर किया और फिर बेड़ा

स्वयम् ही गहरी, तीव्र धार में बह चला। नाविक बेड़े को दूसरे तट की ओर ले जाने के लिये मुख से शब्द करते हुये, पूरी शक्ति से डांड चलाने लगे।

दिव्या के कानों के लिये डांड में एक साथ बल लगाने के प्रयोजन से नाविकों का सम्मिलित कोलाहल, मद्र के विषय में दूसरे यात्रियों का वार्तालाप, और नेत्रों के लिये नदी की धार के दोनो ओर फैले सिक्ता के विस्तृत तट, नदी की गहरी, तीव्र, फेन उगलती नीली लहरें सब निरर्थक था। वह सोच रही थी—अपनी जीवन नौका को उसने घटनाओं की तीव्र धार में स्वयम् ठेल दिया है·····वह जाने कहाँ जाकर रुकेगी।

नदी की धार में बेड़ा प्रति क्षण पूर्व की ओर बढ़ रहा था। मद्र की भूमि दूर हो रही थी। उस भूमि से प्रताड़ित होकर भी उसके विछोह से एक उच्छ्वास मन में उठ आया। वह उच्छ्वास दिव्या के ओठों पर 'माँ' शब्द की ध्वनि में प्रकट होना चाहता था। उस भूमि में जन्म देने वाली माँ की सुनी हुई स्मृति जाग उठी। माँ के जीवित रहते भी क्या वह इस प्रकार विवश हो चली जाती! और फिर दूसरी माँ 'अम्मा' धाता का रूप कल्पना में साकार हो उठा। सभी कन्यायें एक दिन माँ की गोद छोड़, श्वसुर-गृह जाती हैं। परन्तु उनके मनमें पति के घर जाने की सान्त्वना और उत्साह रहता है·····।

पति के प्रसंग से कल्पना में पृथुसेन जाग उठा। ओठों को दाँत से दबाये दिव्या के विचार ने कहा—वंचक पृथुसेन और दास-व्यवसायी प्रतूल में क्या अन्तर! आशंका से शरीर के रोम सिहर उठे जैसे नदी-तीर की सिक्ता उसके दाँतों तले आगई हो। उसे ठुकरा देने वाले मद्र की ममता में वह वह क्या करे! दीर्घ निश्वास ले उसने नेत्र मूँद लिये।

* * *

दास-व्यवसायी श्रेष्ठि प्रतूल की पत्नी अंजना दिव्या के प्रति सहृदय थी। चार दासों के मूल्य से अधिक बहुमूल्य दिव्या के आभूषण अंजना ने अपना लिये। दिव्या ने इस विषय में एक शब्द भी न कहा। दिव्या की इस मौन उदारता के प्रति अंजना कृतज्ञता अनुभव किये बिना न रह सकी।

दिव्या के कण्ठ की मुक्ता—मालायें, रत्न जटित अंगद और कौशेय वस्त्रों से अंजना को निश्चय था कि युवती अवश्य ही उच्च सामन्त-वंश के प्रासाद में पली है। उस का गर्भ देख, वह यह भी जान गई कि इसी कारण वह स्वेच्छा से दुख और दैन्य का मार्ग स्वीकार कर रही है। कुछ दिव्या के प्रति सहानुभूति और कुछ कौतूहल से अंजना ने उससे सख्य स्थापित कर, उसका रहस्य जानना चाहा। दिव्या ने कातरता से संक्षेप में उत्तर दिया—"मैं अभागी वाचिता हूँ। मेरे पितृ-गृह में सब कुछ था परन्तु मेरे लिये स्थान न था। इस अवस्था में मेरा कुल मेरी सहायता नहीं कर सकता। आश्रय की खोज में भटकती तुम्हारे स्वामी के हाथ पड़ गई हूँ। अब दैव की जो इच्छा हो।"

श्रेष्ठि प्रतूल को आशा थी, दिव्या को मगध के समृद्ध, रसिक ग्राहकों के हाथ बेंच ऊँचा मूल्य पायेगा। ऐसी रूपवती, लावण्यमयी दासी के लिये चार-सौ स्वर्ण मुद्रा भी अधिक न था। परन्तु शूरसेन देश की मथुरापुरी नगरी पहुँचते पहुँचते दिव्या की अवस्था यात्रा-योग्य न रही। उसे किसी भी प्रकार का कष्ट सहने का अभ्यास न था। रथ पर चलने में भी उसे कष्ट होता। पथ असम होने पर तो उसके प्राण निकल जाने की आशंका होने लगती।

यदि प्रसव हो जाने पर सन्तान को दूर कर, चार-पाँच मास तक खिला-पिला, उसे पुष्ट कर बेचा जा सकता तो कोई भी रसिक उसके लिये नेत्र मूँद दोनों हाथ से स्वर्ण दे देता। परन्तु उसके ही कारण वह

कितने समय तक शूरसेन में टिका रह सकता था ?.....साथ में नये एक-सौ-पैंसठ दास-दासियों का दीर्घ समय के लिये व्यर्थ भरण-पोषण ? इस विलम्ब के कारण वह चैत्र मास में दक्षिणापथ के दासों के मेले में पहुँचने से भी रह जाता।

दास-दासियों के रूप में मनुष्यों का व्यवसाय करते रहने के कारण प्रतूल अनेक-श्रेणी के मनुष्यों के शरीर और स्वभाव की सूक्ष्मताओं से उसी प्रकार परिचित था जैसे कुम्हार अनेक स्थलों की मिट्टी, उससे बने पात्रों की उपयोगिता और मूल्य से अवगत रहता है। पाटलीपुत्र में उसके घर पर चार दासियाँ थीं। इन दासियों का काम गृह-सेवा या स्वामि के लिये भृत्ति कमाना न था। वे प्रति अठारह मास पश्चात् सन्तान उत्पन्न करती थीं। प्रतूल उन्हें न बेंच, उनकी सन्तान बेचता। अभ्यस्त हो जाने के कारण वे दासियाँ सन्तान-वियोग का दुख सहज ही सह जातीं। एक सन्तान का वियोग होते समय भी दो या तीन सन्तान उनके समीप रहतीं। अच्छे भोजन से उनकी प्रसव की निर्बलता तुरंत दूर हो जाती।

परन्तु दिव्या से ऐसी आशा न कर सकने के कारण प्रतूल और भी चिन्तित था। वह जानता था, प्रसव इस युवती का लावण्य दीर्घ समय के लिये हर लेगा। इसकी सन्तान इससे छीन लेने पर इसे जीवित रखना कठिन होगा। दास-दासियों को कोड़े की मार या भूख से वश किया जा सकता है। परन्तु जो स्वयम् ही मृत्यु के लिये आतुर हो, उसका क्या उपाय ? अनेक स्थितियों में बल से कुछ नहीं हो सकता। दिव्या के शरीर से पाये बहु-मूल्य आभरणों से ही संतोष कर, उसे मथुरापुरी में ही निबटा देने का निश्चय प्रतूल ने किया।

श्रेष्ठि प्रतूल ने मथुरापुरी के दास-व्यापारी भूधर से अपनी यात्रा की असुविधा वर्णन कर काश्मीर देश की एक गर्भवती परन्तु अत्यन्त लावण्यमयी दासी बेचने का प्रस्ताव किया। प्रतूल ने कहा—पुष्पपुर

के एक सामन्त-प्रासाद से उसने इस दासी, 'दारा' को डेढ़-सौ स्वर्ण मुद्रा में क्रय किया है। निश्चय ही वह उसे मगध के राजप्रासाद में चार-सौ स्वर्ण मुद्रा में बेंच सकता है। परन्तु यात्रा की असुविधा है और दासी कोमलांगी है।

भूधर ने पैनी दृष्टि से दारा को शिर से पैर तक देखा, और दस स्वर्ण मुद्रा देना स्वीकार किया।

"क्या कहते हो मित्र ?"—अत्यन्त विस्मय से नेत्र फैला प्रतूल ने से अनसुने अन्याय का विरोध किया—"क्या तुम उसके अवयवों का लास्य, उसका चम्पाकली सा वर्ण नहीं देखते ? गर्भिणी होने के कारण मलिन है तो क्या ! यह नहीं देखते कि एक के मूल्य दो जीव पा रहे हो ! और फिर यह मलिनता कितने काल तक रहेगी ? माणिक पर धूलि रहने से क्या वह माणिक नहीं रहता ? उसके नेत्र और वर्ण·····भूधर के कान के समीप मुख लेजा प्रतूल ने कहा—"शुद्ध द्विज रक्त को लजाते हैं·····किस राज कुमारी से कम है ?····· चार मास पश्चात् तुम उसके पाँच सौ स्वर्ण मुद्रा पाओगे !"

अपने श्वेत-श्याम श्मश्रु में उँगली चलाते हुये भूधर ने उत्तर दिया—"मित्र, वही सब देख रहा हूँ। गोधन और अश्वधन नहीं, मनुष्यों का ही व्यवसाय करता हूँ। उसकी जाति देखते हो·····पर्यङ्क पर पली है। द्विज-कन्या है मित्र ! गर्भिणी·····और वह भी प्रथम गर्भ ! तिस पर यह दीर्घ यात्रा ! यदि फिसल गई तो ?····दश मुद्रा भी गये !"

प्रतूल के कान के समीप मुख लेजा भूधर ने फिर कहा—"मित्र, अजातशत्रु और वृहद्रथ का समय गया। अब पुष्यमित्र का शासन है और शूरसेन का उपरिक है, रवि शर्मा। यदि किसी ब्राह्मण ने इसके रूप पर मुग्ध हो, इसे अपने परिवार की वधु कह दिया तो इस वृद्धा-

वस्था में राज दण्ड भोगते-भोगते लुजा हो जाऊगा। तुम भी इसे मगध ले जा कर व्यर्थ राज दण्ड में फँसोगे!"

* * *

दासी दारा अभी प्रसव-वेदना से मुक्त न हो पाई थी कि दैव ने उसका ग्राहक दास व्यापारी भूघर के द्वार पर भेज दिया। याज्ञिक पुरोहित चक्रधर की पत्नि एक बालक प्रसव करते ही विषम ज्वर से पीड़ित हो गई। वैद्य ने रोगी माता का स्तन नवजात शिशु को देने का निषेध किया। घर की गौया का दूध निर्बल बालक पचा न सका।

पुरोहित चक्रधर ने सुना, दास व्यवसायी भूघर के यहाँ सद्यः प्रसूता दासी है। वह पचास स्वर्ण मुद्रा में दासी दारा को उसकी सन्तान सहित क्रय कर ले आया। अपनी सन्तान गोद में लिये दारा ने पुरोहित-पुत्र को भी हृदय से लगा लिया। उसने देवताओं की कृपा के लिये धन्यवाद दिया, वह अपनी सन्तान का पोषण कर सकेगी। अपनी ही सन्तान जैसे एक और नवजात शिशु के प्राण बचा सकने के सुख से उसने अपार संतोष अनुभव किया। विषम ज्वर से मुक्ति पाने पर द्विज-पत्नि के स्तन सूख गये। दारा दोनों नवजात शिशुओं को हृदय से लगा, उनमें अन्तर अनुभव न करने का यत्न करने लगी।

परन्तु दारा वह विश्वास पा न सकी। शीघ्र ही उसकी अनुभूति बदल गई। स्वामिनी की आज्ञा थी—पहले स्वामिनी के पुत्र को स्तन पान करा कर वह अपने पुत्र को स्तन दे। वह आज्ञा शूल की भाँति दारा का हृदय बेंध गई। परन्तु आज्ञा पालन के अतिरिक्त उपाय न था। द्विज-पुत्र को स्तन-पान करा देने के पश्चात् उसके अपने पुत्र शाकुल के लिये दूध शेष न रहता। अपनी सन्तान को क्षुधित देख दारा का हृदय रो उठता। वह द्विज-पत्नि की दृष्टि की ओट ले, अपनी सन्तान को स्तन-पान कराने का अवसर खोजती रहती। वह अपने स्तन के दूध की चोरी करने लगी। द्विज-पुत्र के क्षुधित होने पर उसके स्तन दूध रहित होते।

अपनी सन्तान के क्षुधित रहते अपना स्तन द्विज-पुत्र को देने के लिये विवश होना दारा के लिये असह्य यंत्रणा बन जाता। स्वामी की सन्तान के प्रति उसके हृदय में दारुण घृणा बैठ गई। छाती में दूध होने पर भी स्वामी की सन्तान के मुख में स्तन देने से दूध उतर ही न पाता।

अपनी सन्तान के प्रति दासी की कुटिलता, निर्दयता और चौर कर्म से द्विज-पत्नि अत्यन्त क्रुद्ध हुई। उन्होने दारा की कठोर प्रतारणा की। उसे सदामार्ग पर आते न देख, उसकी सन्तान छीन, उसे अन्यत्र बेच देने की भर्त्सना की। उन्होंने आज्ञा दी—स्वामिनी की सन्तान को अपने स्तन से सन्तुष्ट किये बिना वह अपनी सन्तान को न छुये।

दारा का पुत्र एक फटे वस्त्र पर अलिंद में पड़ा रहता। स्वामी की सन्तान को गोद में लिये वह सजल नेत्रों से अपने बालक की ओर देखती रहती। दारा को ऐसी अवस्था में देख स्वामिनी क्रोध से क्षुब्ध हो जातीं। अपनी सन्तान के प्रति दासी के मानसिक विरोध और विश्वास-घात के लिये वह उस की घोर प्रतारणा करतीं।

स्वामी की सन्तान के मुख में अपना स्तन दिये, अपने पुत्र को क्षुधार्त देखते रहना दारा के लिये असह्य था। वह उस ओर से दृष्टि हटा लेती। ऐसी अवस्था में दूध न पाने के कारण द्विज-पुत्र धाता का स्तन अपने दांतहीन जबड़े से तोड़, छटपटा उठता। चतुर द्विज-पत्नि ऐसी परिस्थिति का उपाय जानती थीं। वे दारा के पुत्र शाकुल को उसके सम्मुख लाने की आज्ञा देतीं। अपने पुत्र के प्रति ममता की अनुभूति से दारा के स्तनों से दूध और नेत्रों से जल बह चलता। उससे स्वामी की सन्तान तृप्त होती।

यही क्रिया प्रति प्रातः संध्या पुरोहित चक्रधर के आँगन में गाय के साथ भी होती। गोदोहन से पूर्व बछिया को गाय के स्तनों पर छोड़

दिया जाता। अपने स्तनों पर अपनी सन्तान के मुख का स्पर्श पा, जब गाय स्तनों में दूध ढ़ील देती, बछिया को गले की रस्सी से खींच गाय के खूँटे पर बाँध दिया जाता, और उसका दूध द्विज-पत्नि या दासी पात्र में ले लेती। दारा इस आयोजन की ओर निश्पलक देखती रहती।

द्विज-पत्नि दारा की प्रतारणा कर उपदेश देती—"तू कितनी दुष्ट और कुटिल है। अपने पाप का फल इस जन्म में दासी होकर भोग रही है। और इस जन्म में स्वामी के प्रति विश्वासघात के पाप का दण्ड जाने कितने जन्म पर्यन्त भोगेगी। पशु होकर भी यह गाय तुझसे अधिक धर्मशील है।"

कोई उत्तर न दे दारा स्वयम् ही अपनी तुलना गाय से करती। केवल उसके गले में रस्सी न थी। रस्सी न होने पर भी वह गाय की ही भाँति विवश थी। वह अनुमान करती—गाय का हृदय भी अन्याय की भावना और प्रतिहिंसा अनुभव करता है या नहीं? यदि नहीं, तो क्यों? वह स्वयम् ऐसा क्यों अनुभव करती है? वह क्यों अपने शरीर पर स्वयम् अपना अधिकार अनुभव करती है? दासी होकर अपने शरीर को अपना समझना उसके विश्वास में पाप था। परन्तु वह विवश थी। वह सोचती, क्यों उसकी सन्तान के लिये जीवन का अधिकार नहीं।

प्रायः मौन रहने के कारण उसकी कल्पना बावली हो उठती:—यदि उसके शाकुल का जन्म इन परिस्थितियों में न हो कर पृथुसेन के प्रासाद में होता तो उत्सव और समारोह से दिशायें गूँज उठतीं। पृथुसेन की सन्तान होने से शाकुल के लिये सभी कुछ प्राप्य होता और उसकी अपनी सन्तान होने से शाकुल के लिये कुछ प्राप्य नहीं; जीवन में उसके लिये कोई स्थान नहीं। वह जैसे पात्र से छलक गई जल की बूँद की भाँति है, जो केवल सूख कर समाप्त हो जाने के लिये

ही है। परन्तु वह अपनी सन्तान को दुष्ट पृथुसेन की सन्तान स्वीकार न करेगी। उसके लिये उसने जो सम्भव था किया और करेगी।

उसकी कल्पना अतीत की ओर चली जाती। उसके अपने जन्म के समय भी उसकी माता रोगग्रस्त हो गई थी। उसका पोषण भी धात्री के स्तन से हुआ था। क्या यह उसी कर्म का फल है? बौद्ध श्रमण कहते हैं—मनुष्य अपने कर्म से ही दुख पाता है। परन्तु मेरे बच्चे का क्या कर्म है? अभी तो वह उत्पन्न ही हुआ है! उत्पन्न होने से पूर्व ही उसका कर्म-फल फूट गया? वह नहीं जानता, किस कर्म का दण्ड वह भोग रहा है। हे देवता, अपना अपराध या दुष्कर्म जाने बिना यह अबोध बालक दुष्कर्म से बचने का निश्चय कैसे करे? यदि दुष्कर्म मैंने किया है तो दण्ड और भोग के लिये प्रस्तुत हूँ। मेरा पुत्र क्यों क्षुधा-पीड़ित हो?·····मैंने कौन दुष्कर्म किया है? क्या पृथुसेन से अनुराग पाप था?·····क्या गर्भ धारण करना ही पाप था?·····सम्पूर्ण सृष्टि गर्भ धारण करती है। मैंने ही क्या किया?·····केवल द्विज-समाज की आज्ञा बिना गर्भ धारण किया! इसी कर्म का यह फल है! क्या कर्म-फल देने वाला द्विज-समाज ही है?'

पुरोहित चक्रधर के द्वार पर भिक्षा के लिये उपस्थित होने वाले कषाय चीवर-धारी श्रमण उपदेश दे जाते—कर्म और जीवन केवल दुख की शृंखला है। सुख केवल अस्थायी अनुभूति है। उसकी कल्पना अपने अतीत की ओर चली जाती। श्रमण का वचन उसे सत्य जान पड़ता। उसने जीवन में सुख कब अनुभव किया?·····जब भी अनुभव किया, केवल उड़ते हुये मेघों की छाया की भाँति।·····उसका कला की देवी, सरस्वती-पुत्री निर्वांचित होना!·····पृथुसेन के अंक में एकान्त क्षण! उस मिलन से पूर्व और पश्चात् की कल्पना!··· सब दुख ही तो था!···और यह सन्तान पाना? सब दुख ही तो है। संसार केवल शक्तिशालियों के लिये है। दुखियों के लिये वैराग्य ही

सुख है। जीवन से मोह व्यर्थ है! परन्तु शाकुल का अस्तित्व काल्पनिक न था।

मथुरापुरी के पथों और वीथियों पर भिक्षाटन के लिये विचरते भिक्षु नित्य दुखियों को शरण का निमंत्रण देते—दुख से पीड़ित मनुष्यो तथागत की शरण आओ! धर्म की शरण आओ! संघ की शरण आओ! वही कृपा-मूर्ति तुम्हारे संतत संताप को दूर करेंगे!

सूर्योदय से पूर्व अन्धकार में पृथ्वी पर सोई दारा के वक्ष में शाकुल रो उठा। दारा ने स्तन उसके मुख में दे दिया। शाकुल यथेष्ट स्तन-पान कर सो गया। कुछ ही समय पश्चात् स्वामिनी और उनके पुत्र की निद्रा भंग होने पर स्वामी की सन्तान की क्षुधा निवृत्ति के लिये दारा की पुकार हुई। प्रातः बालक की प्रथम क्षुधा के समय धाता के स्तन में दूध न पा पुरोहित-पत्नि अत्यन्त क्रुद्ध हुई। दारा की भर्त्सना कर उन्होंने उसे धान कूटने के कठोर कार्य पर नियत कर दिया।

मध्यान्ह का भोजन मिट्टी के पात्र में पा, शाकुल को वक्ष पर लिये दारा उदर-पूर्ति के लिये अलिन्द में बैठी थी। स्वामिनी को सोया देख, वृद्धा दासी लोभा ने दारा के समीप बैठ, सहानुभूति के स्वर में कहा—"बेटी, स्वामिनी को क्षुब्ध कर तूने भला काम नहीं किया। आज स्वामी और स्वामिनी ने शाकुल को कहीं दे डालने का निश्चय कर लिया है। जा, आगामी, स्वामिनी से क्षमा माँग।"

मिट्टी के पात्र में सम्मुख रखा रूखा अन्न वैसे ही रह गया। दारा सोचती रही—वह क्या करे?

ज्येष्ठ के मध्याह्न में पुरोहित और स्वामिनी निद्रागत थे। बूढ़ी लोभा भी एक ओर जा सो गई। सब ओर हेमन्त की मध्य निशा की स्तब्धता छाई हुई थी। सूर्य का प्रचण्ड प्रकाश दृष्टि को रात्रि के गूढ़ अन्धकार की ही भाँति असमर्थ किये था। झुलसा देने वाली वायु से त्रस्त नागरिक भवनों में और पक्षि तथा वानर तप्त वायु से मरमर करते

वृक्षों के पत्तों की ओट शरण पा, विश्राम कर रहे थे। दारा अपनी सन्तान छीन ली जाने की आशंका में हथेली पर सिर रखे मौन बैठी थी।

भिक्षाटन में विलम्ब कर लौटते किसी श्रमण की पुकार मार्ग से सुनाई दी—"संसार के संतप्त प्राणियो, शान्ति के लिये बुद्ध की शरण आओ! धर्म की शरण आओ! संघकी शरण आओ!" शरण के लिये व्याकुल दारा भिक्षु के इस निमंत्रण की अवहेलना न कर सकी।

मध्याह्न-सूर्य के प्रचण्ड ताप से भूमि की रज धूसर ज्वालाओं के रूप में आकाश की ओर उठी जा रही थी। हू-हू करती संतप्त वायु आश्रय की खोज में वनों की ओर दौड़ी जा रही थी। उस विभीषिका में दारा अपने शाकुल को हृदय से लगाये, तवे की भाँति तपे, पत्थर मढ़े पथ पर पुरोहित-गृह से निकल पड़ी। सूर्य के उत्तप्त बाणों से शाकुल की कोमल त्वचा बचाने के लिये दारा ने शिशु को अपने छिन्न, जीर्ण, मलिन उत्तरीय में लपेट लिया।

स्तनों को पीठ पीछे बाँधे वस्त्र के एक टुकड़े और कटि से नीचे अन्तरवासक के अतिरिक्त उसके शरीर पर अन्य वस्त्र न था। सामर्थ्य भर द्रुत वेग से चलने के कारण उसके रूखे केश बिखर गये। जीर्ण अन्तरवासक पाँव में उलझ-उलझ कर फटता जा रहा था। सिर और शरीर पर सूर्य की किरणें चुभी जा रही थीं। पाँव तले तवे के समान तपे प्रस्तर खण्ड थे। शरीर स्वेद से लथपथ हो गया। दारा का ध्यान इस सब की ओर न था। उसके कान श्रमण के करुण निमंत्रण के उच्च घोष से पूर्ण थे—"संसार के संतप्त प्राणियों, शान्ति के लिये बुद्ध की शरण आओ!" उसकी दृष्टि धूलिधूसरित उत्तप्त आकाश में घने अश्वत्थ वृक्षों के समूह के ऊपर सिर उठाये महाबोधी चैत्य के गगनचुम्बी शिखिर की ओर थी।

एक सौ वर्ष से अधिक समय से वह चैत्य-शिखिर संसार के संतप्तों के प्रति अभिधर्म की करुणामय शरण की घोषणा कर रहा था।

उसी ओर दृष्टि लगाये, झुलसाती वायु की हू-हू में शरण का निमंत्रण सुनती, अपने शाकुल को अंक में दबाये दारा शरण की भिक्षा के लिये दौड़ी जा रही थी।

विहार के विशाल सिंहद्वार के पट मुँदे थे। मुँदे पटों के दूसरी ओर करुणा और शरण का देश था। दारा ने सिंहद्वार से लटके विशाल घंटे को हिला दिया। गम्भीर नाद से वातावरण गूँज उठा। उस गुंजन से कृपा के कण बरस रहे थे।

विशाल द्वार के पटों में एक छिद्र खुला। छिद्र से एक तरुण भिक्षु ने निद्रालसित प्रश्नात्मक दृष्टि से दारा की ओर देखा। दारा अकुला उठी—"प्रभो, शरण चाहती हूँ! बुद्ध की शरण, धर्म की शरण, संघ की शरण चाहती हूँ।"

तरुण भिक्षु के नेत्र अदृश्य हो गये। छिद्र मुँद गया। प्रतीक्षा में काँपती हुई दारा ने द्वार के पट से शिर टिका दिया।

कुछ क्षण पश्चात् द्वार के पट का एक भाग खुला। एक करुणा मूर्ति प्रौढ़ स्थविर प्रकट हुये। कम्पित तन और कम्पित स्वर से दारा पुकार उठी—"शरण, दयामय धर्म-पिता, शरण!"

शान्ति-मुद्रा में कृपा-हस्त उठा स्थविर ने आश्वासन दिया—"चित्त को स्थिर करो, उपासिका!"

युवक भिक्षु ने विहार के सम्मुख अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बने पत्थर के चौंतरे पर एक कुशासन बिछा दिया। आसन ग्रहण कर स्थविर ने दारा को सम्मुख बैठने का संकेत कर प्रश्न सम्बोधन किया—"हे उपासिके, चित्त का संकल्प कहो!"

दारा ने अश्रु पूर्ण नेत्रों से स्थविर के सम्मुख याचना की—"करुणा के सागर, अपनी अभागी सन्तान और उसकी माता के लिये शरण की भिक्षा।"

कुछ विचार के पश्चात् स्थविर ने उत्तर दिया—"देवी, जिन

सांसारिक उपकरणों की इच्छा तुम करती हो, वे बुद्ध की शरण, धर्म की शरण और संघ की शरण के मार्ग में नहीं हैं !"

दारा कलप उठी—"नहीं, पिता, दासी कुछ इच्छा नहीं करती ! केवल अत्याचार से शरण माँगती है। कृपासागर तथागत की शरण में अपनी सन्तान को पा सके।"

स्थविर के शान्त मुख पर अस्पष्ट-सी मुस्कान प्रकट हुई वे बोले—"देवी, संसार के सभी सम्बन्ध मोह हैं। दुख का कारण हैं। मोह से संक्लेशित चित्त शान्ति और शरण नहीं पा सकता।"

दारा स्थविर के मुख की ओर निश्पलक देखती रह गई। निराशा ने उसकी व्यग्रता को दबा दिया। पुनः साहस कर वह बोली—"हे धर्म-पिता, दासी तथागत के सर्वभूत दया के धर्म-चक्र में, इस विहार में शरण की भिक्षा माँगती है।·····विनय और शील का पालन कर मैं त्रिशरण में मोह से मुक्ति पाऊँगी।"

स्थविर की आर्द्रवित शाँत मुद्रा की ओर कुछ क्षण निश्पलक देखती रह उसने शाकुल को स्थविर के चरणों के समीप रख, अपना मस्तक चौंतरे पर टिका फिर याचना की—"देव, इस असहाय के लिये धर्म की शरण चाहती हूँ। इसका पालन करती हुई मैं मोह मुक्त हो चेरी धर्म ग्रहण करूँगी।"

निद्रागत बालक कठोर पत्थर के स्पर्श से मुख खोल चीत्कार कर उठा। उस विरूपता से नेत्र मूँद स्थविर ने आदेश दिया—"देवी, बालक को अंक में ग्रहण करो !"

उन्होंने प्रश्न किया—"चेरी धर्म ग्रहण करने की इच्छा करने वाली तुम कौन हो ?"

"धर्म-पिता, मैं इस असहाय सन्तान की माता हूँ"—दारा ने उत्तर दिया।

"क्या तुम्हारे चेरी धर्म ग्रहण करने में तुम्हारे पति की अनुमति है ?"—दृष्टि झुकाये स्थविर ने प्रश्न किया।

"नहीं देव, पति नहीं है !—"दारा ने स्थविर के मुख की ओर देख अस्वीकार किया।

"यदि तुम्हारे पति नहीं हैं तो क्या तुम्हारे पिता की अनुमति तुमारे चेरी धर्म ग्रहण करने में हैं ?"—स्थविर ने पुनः प्रश्न किया।

दारा के पुनः सिर हिला कर अस्वीकार किया—"नहीं देव, पति नहीं है, पिता भी नहीं हैं।"

ग्रीवा झुकाये ही स्थविर फिर बोले—"यदि पति और पिता नहीं है तो क्या तुम्हारे पुत्र की अनुमति तुम्हारे चेरी धर्म ग्रहण करने में है ?"

"देव, दासी का पुत्र भी अनुमति देने योग्य नहीं !"—दारा ने पुनः अस्वीकृति में सिर हिलाया।

स्थविर उसी प्रकार निश्चल थे। उन्होंने पुनः प्रश्न किया—"यदि तुम दासी हो तो क्या अपने स्वामी की अनुमति से चेरी धर्म ग्रहण करने की इच्छा करती हो ?"

"नहीं देव !"—दारा ने पुनः सिर हिला कातर स्वर में उत्तर दिया—"दासी शरण के लिये प्रार्थना करती है।"

स्थविर ने अपने झुके नेत्र उठाये दारा की ओर देख वे बोले—"देवी, धर्म के नियमानुसार स्त्री के अभिभावक की अनुमति बिना संघ स्त्री को शरण नहीं दे सकता।

दारा अपने दुर्भाग्य से हत चेतन हो स्थविर के मुख की ओर देखती रह गई। उन्हें आसन से उठते देख, हाथ जोड़ उसने निवेदन किया—"परन्तु देव, भगवान् तथागत ने तो वेश्या अम्बपाली को भी संघ में शरण दी थी !"

"वेश्या स्वतंत्र नारी है, देवी !"—उत्तर दे स्थविर उठ गये।

हतचेतन दारा मुक्त ओष्ठ स्थविर की ओर देखती रह गई। स्थविर द्वार से अदृश्य हो गये। युवक भिक्षु भी कुशासन समेट पटों के पीछे चला गया। द्वार के पट मुंद गये। ताप से हू-हू करती संतप्त वायु अश्वत्थ वृक्ष के पत्रों में आश्रय खोजती रही। दारा उसी प्रकार मुक्त ओष्ठ, शाकुल को लिये, चौंतरे पर बैठी रही। उसका जड़ मस्तिष्क कुछ भी सोचने-समझने में असमर्थ था। उसे केवल सुनाई दे रहा था—वेश्या स्वतंत्र नारी है, देवी!

शाकुल ने रो कर दारा को सचेत किया। शिशु का क्रन्दन रोकने के लिये उसने स्तन उसके मुख में दे दिया। शुष्क स्तन को काट कर भी दूध पाने में असमर्थ बालक और भी चीत्कार कर उठा। अधिक समय तक आत्म-विस्मृत अथवा हतचेतन न रहने की सुविधा दारा को न थी। अपने पेट में कुछ डाल कर बालक की क्षुधा का उपाय करना आवश्यक था। स्वयम् उसे क्षुधा की चेतना न थी परन्तु बालक की क्षुधा से उसके उदर की आँते अकुला उठीं।

वह चौंतरे से उठी। श्रान्ति और असामर्थ्य से उसके पाँव डगमगाये। बाहुओं ने शाकुल के भार से निर्बलता अनुभव की; जैसे शिशु उसकी गोद से गिर पड़ेगा। पल भर में उसने अपना शरीर वश में किया। अश्वत्थ की छाया छोड़ वह फिर सूर्य की प्रखर किरणों से झुलसती पृथ्वी पर, तपी धूल से भरी, हू-हू करती ऊष्ण वायु के झोंकों में शाकुल को हृदय से चिपटाये चल पड़ी।

शरण की आशा में दौड़ती जिस मार्ग से वह आई थी उसी मार्ग पर वह शिथिल पदों से लौट रही थी। भय के कारण अपने शाकुल के लिये शरण ढूंडने वह पुरोहित के घर से निकल पड़ी थी। अब वह और उसका शाकुल दोनो ही अशरण थे।

दारुण व्यथा और आघात से जड़ उसके मस्तिष्क में केवल एक ही बात स्पष्ट थी—वेश्या स्वतंत्र नारी है। परतंत्र होने के कारण

उसके लिये कहीं शरण और स्थान नहीं। दासी होकर वह परतंत्र होगई !·····वह स्वतंत्र थी ही कब !·····अपनी सन्तान को पा सकने की स्वतंत्रता के लिये ही उसने दासत्व स्वीकार किया। अपना शरीर बेच उसने इच्छा को स्वतंत्र करना चाहा ! परन्तु स्वतंत्रता मिली कहाँ ? कुल नारी के लिये स्वतंत्रता कहाँ है !·····केवल वेश्या स्वतंत्र नारी है।·····अपनी सन्तान के लिये वह स्वतंत्र होगी।

दिन के चौथे पहर सूर्य मथुरापुरी की विशाल अट्टालिकाओं की ओट होजाने से पथों और वीथियों पर छाया होगई। शाकुल को श्रान्त बाहुओं से शुष्क स्तनों पर चिपटाये क्लान्त, विरूप दारा पुनः नगर के पथों और वीथियों पर भटक रही थी। अट्टालिकाओं की छाया में शरण पा पथ और वीथियाँ जाग उठी थीं। पथ पर आते-जाते नागरिकों में से एक को दारा ने सम्बोधन किया—नागरिक, "वेश्याओं का मार्ग किस ओर है ?"

समीप से जाते दूसरे नागरिक ने परिहास किया—"नारी को वेश्याओं से क्या प्रयोजन ?"

अपनी श्रान्त बाहों से फिसलतीं सन्तान के बोझ को सम्भालने की चेष्टा कर दारा ने उत्तर दिया—"मैं वेश्या बनूँगी !"

परिहास करने वाला नागरिक दारा के मुख का भाव देख मौन रह गया। परन्तु समीप से जाते दूसरे दो नागरिकों में से एक ने दारा के कंकाल मुख, बिखरे केशों, धंसे नेत्रों और फटे मलिन वस्त्रों की ओर संकेत कर अट्टाहास से कहा—"आहा, क्या ही तो रूप-लावण्य है और क्या गुण और कैसी शोभा ?" यह वेश्या बनेगी तो मथुरापुरी का रसिक समाज अपने नेत्रों की मणि रत्नप्रभा को भी भूल जायगा।"

प्रथम परिहास करने वाले युवक ने दारा के समीप आ भर्त्सना के स्वर में कहा—"तू वेश्या बनना चाहती है ? माता का सम्मानित पद पा, तू वेश्या बन समाज की शत्रु बनना चाहती है ? धन के लोभ

में अपना शरीर और अपनी मातृत्व की शक्ति बेचना चाहती है !··· ···हतभागी तू वेश्या बनने योग्य भी नहीं। विलासी के द्रव्य के मूल्य में तू क्या देगी ? तू लुट चुकी है। किसी ने तेरा रस चूस, फल्गुमात्र छोड़ दिया है। तेरी आकर्षक शोभा लुट चुकी है, केवल दुर्भाग्य शेष रहगया है। चूसी जाकर, जीवन के अयोग्य होकर जीवित रहने का मोह छोड़ दे !·····असमर्थ को जीने का अधिकार नहीं। जा ! यमुना की शीतल धारा में विश्राम ले !"

यात्रा की उपेक्षा में बढ़े हुये श्मश्रुओं के कारण आरम्भ में दारा नागरिक को पहचान न सकी थी परन्तु उसके स्वर से पहचान पाई। वह उसका नाम ले पुकार उठना चाहती थी परन्तु युवक उसे बोलने का अवसर न दे, विकृत स्वर में कहता गया—"शिशु की क्षुधा शान्त करने के लिये वेश्या बनना चाहती है तो आगामी जा, यमुना तट पर जा। श्रेष्ठि पद्मनाभ तुझ जैसे दीनों का द्रव्य समेट, उन्हें क्षुधार्त बना, भोजन दे, अपने परलोक के लिये पुण्य संचय कर रहा है। जा, उसके यहाँ भोजन कर ! उसे पुण्य दे !"

दिव्या ने नागरिक का नाम पुकारने के लिये पुनः श्वास ले ओठ खोले परन्तु वह घृणा से मुख मोड़ अनेक पग आगे बढ़ चुका था। कुछ क्षण उसकी ओर देखती रह, हृदय में भरा निश्वास छोड़, बाहों में रो-रो कर सोगये शाकुल को सम्भाल, नागरिकों से यमुना तीर के क्षेत्र का मार्ग पूछती वह चल पड़ी। उसके बाहु और चरण प्रतिक्षण शिथिल होते जा रहे थे।

संध्या समय यमुना का प्रस्तर-मण्डित तट अत्यन्त जनाकीर्ण था। श्रेष्ठि पद्मनाभ के अन्नक्षेत्र के मध्य से यज्ञ का पवित्र धूम मण्डराता हुआ आकाश की ओर उठ रहा था। कंगालों का समूह अन्न-क्षेत्र को घेरे परस्पर एक-दूसरे को ठेलता अन्न-क्षेत्र के द्वार पर एकत्र था। बाहुओं में निरंतर चीत्कार करते शिशु और अपने शिथिल शरीर का बोझ

उठाये कम्पित चरणों से दारा उस कंकाल समूह में से द्वार की ओर बढ़ने की चेष्टा कर रही थी। सहसा पीठ पीछे से उसने ललकार सुनी—"पकड़ो, पकड़ो, भगोड़ी दासी जा रही है पकड़ो!"

दारा ने पहचाना, उसके पुरोहित स्वामी का ही स्वर था। पुरोहित निरंतर भगोड़ी दासी को पकड़ने के लिये ललकार रहा था। पुरोहित चक्रधर की पुकार से सहानुभूति में और लोग भी भगोड़ी दासी को घेर कर पकड़ने के लिये ललकारने लगे। दारा को अपने पीछे, दायें, बायें सब ओर पकड़ने वाले अनुभव होने लगे। केवल सम्मुख जलधार की ओर किसी पकड़ने वाले को न देख, वह उसी ओर शाकुल को हृदय से चिपटाये दौड़ी। पुरोहित की ललकार निरंतर उसका पीछा कर रही थी। घबरा कर शाकुल को हृदय से चिपटाये पुरोहित के दासत्व की अपेक्षा मृत्यु श्रेय जान, वह ऊँचे तट से जलमें कूद पड़ी।

* * *

ज्येष्ठ के प्रखर सूर्य के उत्ताप से तप्त भवनों की ऊष्मा से त्राण और शीतलता का सुख पाने के लिये मथुरापुरी के अनेक सामन्त, राजपुरुष और श्रेष्ठि नदी तट पर बजरों में जल विहार कर रहे थे। ऊँचे तट के जिस स्थान पर भगोड़ी दासी जल में कूद पड़ी, वहाँ शूरसेन प्रदेश की जनपदकल्याणी, राजनर्तकी देवी रत्नप्रभा का बजरा सबसे समीप था। स्वामिनी के आदेश से सेवकों ने डूबती स्त्री को तुरन्त जल से निकाल बजरे पर लिटा दिया। उस समय भी उसका शिशु उसके शुष्क स्तनों पर कृष बाहुओं से बंधा था।

रत्नप्रभा ने मूर्छिता स्त्री के बाहु-पाश से शिशु को अपनी बाहों में ले लिया। शिशु निश्प्राण हो चुका था। उसे एक ओर रख, व्यथा का निश्वास ले रत्नप्रभा ने दासी का जल और शैवाल से भरा सिर, अपने बहुमूल्य कौशेय शाटक की चिन्ता न कर, गोद में ले लिया। दासी और सेवक स्त्री को सचेत करने के लिये सुगन्ध सुंघाने और व्यजन

से वातास करने लगे। नदी तल की सभी नौकायें और बजरे रत्नप्रभा के बजरे के चारों ओर घिर आये। तट पर और नौकाओं में कोलहल भर गया।

देवी रत्नप्रभा और उसके सेवकों के यत्न से दारा सचेत हुई। नेत्र उघारते ही उसने अवरुद्ध व्याकुल स्वर में पुकारा—"मेरा शिशु !··· मेरा शाकुल !"

दारा के सिर पर स्नेह का हाथ रख रत्नप्रभा ने मुस्करा कर सांत्वना दी—'भद्रे, शान्त हो ! तुम्हारा शिशु सुरक्षित है।'

इस अप्रत्याशित व्यवहार से दारा रत्नप्रभा की ओर देखती रह गई है। नेत्र फैला उसने चारों ओर देखा, क्या वह तात धर्मस्थ के प्रासाद में पहुँच गई है ?·····क्या वह स्वप्न देख रही है !

नदी तट पर चिल्लाते पुरोहित चक्रधर का शब्द उसके कानों में पड़ा—"यह भगोड़ी दासी मेरी सम्पत्ति है। इसे मुझे लौटा दो ! मैं इसे बाँधकर राजस्थान में दण्ड के लिये ले जाऊँगा। यह चोर है। मैंने इसे दास व्यवसायी भूधर से पचास स्वर्ण मुद्रा में क्रय किया है।"

भय से कांप दारा ने दोनों हाथों से रत्नप्रभा का बाहुमूल थाम विह्वल स्वर में प्रार्थना की—"आर्ये, रक्षा करो। इस वधिक पुरोहित से रक्षा करो ! यह मेरी सन्तान के प्राण लेगा ! मेरे प्राण लेगा ! आर्ये, मैं वेश्या बनूँगी। वेश्या बनकर ब्राह्मण का ऋण दूँगी। आर्ये मैं कला-विद हूँ—मैं वेश्या बनूँगी।·····आर्ये दासत्व असह्य है।"

पुरोहित चक्रधर नदी तट से निरंतर ऊँचे स्वर में भगोड़ी दासी लौटाई जाने की पुकार कर रहा था। नदी तट और बजरों के कोलाहल के ऊपर, आकाश को बेंधता हुआ राजसी तूर्य का शब्द सुनाई दिया। सब ओर सम्भ्रम से नीरवता छा गई। उस शान्ति में घोषणा सुनाई दी :—"नागरिक जन सावधान ! परम भट्टारक, प्रजापालक, धर्मरक्षक, महाउपरिक, पराक्रमी रविशर्मा पधार रहे हैं।"

सूचना से बजरों ने सम्भ्रम से मार्ग छोड़ दिया। तट का कोलाहल शान्त हो गया:। स्वर्ण छत्र से छाया, सोलह नाविकों द्वारा चालित बजरा देवी रत्नप्रभा के बजरे के समीप आ खड़ा हुआ। नदी के तट और तल पर एकत्र जन ने झुक कर महाउपरिक का अभिवादन कर जय घोष किया। स्वर्ण छत्र की छाया में शुभ्र उपधान के आश्रय बैठे रवि शर्मा ने स्मित वदन से देवी रत्नप्रभा का अभिवादन कर मङ्गल क्षम पूछा।

महाउपरिक के बजरे के अग्रभाग पर खड़े, रक्त उष्णीशधारी चारण ने पुन: घोषणा की—"परम भट्टारक, प्रजापालक, धर्मरक्षक, महापराक्रमी, महाउपरिक ने प्रजाजन में अशान्ति और असन्तोष देख इस स्थल पर पधारने की कृपा की है। प्रजापालक धर्मरक्षक की आज्ञा है—जो जन पीड़ित हो, जो न्याय चाहता है, परम भट्टारक के धर्मास्थान में निर्भय न्याय की प्रार्थना करे!"

तट पर खड़े ब्राह्मण ने मस्तक झुका कर जोड़ निवेदन किया—"मैं यज्ञनिष्ठ विप्र वरुणधर-आपत्य यज्ञनिष्ठ चक्रधर इन्द्रदेव की शपथ ग्रहण कर निवेदन करता हूँ, धर्मरक्षक महाराज के सम्मुख देवी रत्नप्रभा की नौका में उपस्थित दारा नामक काशमीरी यवन दासी यज्ञ की बलि से क्रीत मेरी दासी है। दारा कर्तव्य विमुख हो मेरे घर से पलायन कर आई है। परम भट्टारक, धर्मरक्षक महाराज दारा दासी मुझे सौंपी जाने की आज्ञा दें।"

अपने आसन पर खड़ी हो देवी रत्नप्रभा ने मस्तक झुका निवेदन किया—"परम भट्टारक धर्मरक्षक महाराज के धर्मास्थान में मैं शूरसेन प्रदेश की जनपदकल्याणी दासी रत्नप्रभा इस पीड़ित दासी का मूल्य ब्राह्मण को दे, इसे क्रय करना चाहती हूँ।"

दृष्टि रत्नप्रभा की ओर कर महाउपरिक ने उत्तर दिया—"देवी

किसी की सम्पत्ति को बलात् मूल्य दे क्रय नहीं किया जा सकता। धर्मास्थान में धनी और रंक समान हैं।"

पुरोहित चक्रधर ने बाहु आकाश की ओर उठा आशीर्वाद दिया—"धर्मावतार परम भट्टारक की जय हो ! यह दासी यज्ञनिष्ठ दीन ब्राह्मण की रोगी स्त्री की सन्तान की धाता है। द्विजपालक धर्मावतार ब्राह्मण सन्तान को प्राणदान दें। यही दासी ब्राह्मण सन्तान के प्राण का अवलम्ब है।"

रत्नप्रभा ने पुनः करबद्ध हो निवेदन किया—"परम भट्टारक, धर्म रक्षक के धर्मास्थान में यह दासी नर्तकी ब्राह्मण सन्तान के लिये अन्य दासी धाता क्रय करने के लिये यथेष्ट मूल्य देने के लिये प्रस्तुत है।"

महाउपरिक ने हाथ उठा रत्नप्रभा को उत्तर दिया—"देवी, न्याय व्यक्ति की इच्छा का अनुसरण नहीं करता। उसका उद्देश्य धर्म की रक्षा है। दासी ने स्वामीगृह से पलायन कर अपराध किया है। ब्राह्मण ने दासी से सेवा प्राप्त करने के लिये उसके मूल्य में स्वर्ण दिया है। उस सेवा से दासी का विमुख होना चौर कर्म है। दासी ब्राह्मण की सम्पत्ति है। दासी ने आत्महत्या का प्रयत्न कर, स्वामी को उसकी सम्पत्ति से वंचित करने का यत्न किया है।"

"सत्य है धर्मरक्षक, धर्मावतार ! परम भट्टारक की जय हो !" पुरोहित ने पुनः बाहु उठा आशीर्वाद दिया।

महा उपरिक ने रत्नप्रभा के बजरे के काठ पर जानु टिकाये, कर जोड़े दासी दारा को सम्बोधन किया—"दासी, तुम ब्राह्मण को उसकी सम्पत्ति से वंचित करने के यत्न के कारण के कारण चौर कर्म की अपराधी हो।"

दारा ने बजरे के काठ पर सिर टिका दुहाई दी—"धर्मावतार, दासी के अपराध के लिये दासी को पुत्र सहित मृत्युदण्ड की आज्ञा हो। दासी कृतार्थ होगी।"

महाउपरिक ने अस्वीकृति में सिर हिला कर उत्तर दिया—"नहीं दासी, दण्ड अपराधी की इच्छा से नहीं हो सकता। ब्राह्मण की दासी और उसकी सन्तान दोनो ही ब्राह्मण की सम्पत्ति हैं। सम्पत्ति की इच्छा से सम्पत्ति का उपयोग नहीं होता।"

पुरोहित ने पुनः बाहु उठा आशीर्वाद दिया—"सत्य है न्याय-मूर्ति, धर्मरक्षक, धर्मावतार। परमभट्टारक की जय हो!"

महाउपरिक ने दासी को पुनः सम्बोधन किया—"दासी ने आत्म-हत्या के पाप का प्रयत्न क्यों किया?"

"पुरोहित के दासत्व से पीड़ित होकर धर्मावतार!"—कपोलों पर आँसुओं की धार बहाते हुये दारा ने कर जोड़ निवेदन किया।

रत्नप्रभा कर जोड़े करुणा विगलित स्वर में बोली—"देव, धर्म-रक्षक दासी दारा के अपराध के लिये यह नर्तकी दासी स्वर्ण दण्ड के रूप में जो आज्ञा हो, पूर्ण करने के लिये प्रस्तुत है।"

महाउपरिक ने नर्तकी की ओर प्रतीक्षा के संकेत में हाथ उठा, पुरोहित को सम्बोधन किया—"शास्त्र और न्याय के ज्ञाता ब्राह्मण, इस दासी का सन्तान सहित आत्महत्या करने का प्रयत्न इसके पीड़ित होने का प्रमाण है। ब्राह्मण तुम धर्मास्थान के सम्मुख दास-पीड़न के अपराधी हो!"

पुरोहित का मुख पीला पड़ उसका स्वर शिथिल होगया—"पीड़न नहीं धर्मावतार!·····यह दासी सेवा से विमुख और स्वामी की विरोधी है।" ब्राह्मण ने निवेदन किया।

"ब्राह्मण, सेवा ग्रहण करना स्वामी का अधिकार है, प्राण ग्रहण करना नहीं! कठोर स्वर में महाउपरिक बोले—"देवता जीवों को प्राण दान देते हैं। वे ही प्राण ग्रहण कर सकते हैं। पृथ्वी पर राजा देवता का प्रतिनिधि है और केवल राजा को ही प्राण ग्रहण करने का अधिकार है। दास भी द्विज के समान राजा की प्रजा है।"

"इस दासी की सन्तान कहाँ है ?—महाउपरिक ने प्रश्न किया।

सिर झुकाये रत्नप्रभा ने उत्तर दिया—"धर्मावतार, अभागी दासी की सन्तान निर्जीव है।"

दासी मूर्छित हो बजरे के काष्ठ पर लुढ़कगई। रत्नप्रभा और उसके सेवकों ने उसे जल में गिरने से सम्भाल लिया। इस काण्ड से उपस्थित जन सिहिर उठे। केवल महाउपरिक स्थिर और मौन बने रहे।

उन्होंने पुनः सम्बोधन किया—"ब्राह्मण तुमने इस दासी का क्या मूल्य दिया था ?"

"धर्मावतार, पचास स्वर्ण मुद्रा।"

ब्राह्मण, दासी पुत्र की हत्या के अपराध में तुम्हें दो सौ स्वर्ण मुद्रा राज-दण्ड रूप राज्यकोष में देना होगा। यह दासी राजस्थान के अधिकृत रहे। उसका पुनः राज्य की ओर से विक्रय हो।"

चक्रधर भय से काँप उठा। आर्तनाद से उसने प्रार्थना की—"धर्मावतार दीन ब्राह्मण पर दया हो! यज्ञबलि से जीविका पाने वाला ब्राह्मण इतना धन इस जन्म में न पा सकेगा।"

"तुम नर-हत्या के अपराधी हो"—महाउपरिक का स्वर कठोर हो गया—"शास्त्र ब्राह्मण को मृत्यु और कारावास दण्ड नहीं देता। तुम मुख में तृण ले, नगर-ग्राम में भिक्षा माँग राज्य-दण्ड पूरा करोगे। तुम्हारी सन्तान के पालन के लिये राज्य कोष से दान दिया जायगा।"

मूर्छित दासी की ओर दृष्टि कर उन्होंने कहा—"और दासी को स्वामी गृह से पलायन के अपराध में धर्मास्थान से पीठ पर चार कषा (कोड़े) दण्ड दिये जायँ।" उपस्थित जन इस आज्ञा से काँप उठा।

रत्नप्रभा के नेत्रों से अश्रुधार बह उठी।

महाउपरिक गम्भीर स्वर में बोले—"दासी की रुग्णावस्था के कारण उसे कषा का दण्ड चंवर के केशों से दिया जाय!"

अशुमाला

दारा को अपनाकर रत्नप्रभा ने विश्वास किया था, उसने कीचड़ में से काँच पाया। परन्तु दारा मणि निकला।

संध्या समय समाज में रत्नप्रभा की प्रधान शिष्या मुक्तावली मयूरी लय पर नृत्य कर रही थी। दारा ताम्बूल-आधार लिये स्वामिनी की सेवा में उपस्थित थी।

दृष्टि मुक्तावली की ओर लगाये ही रत्नप्रभा ने ताम्बूल के लिये दारा की ओर हाथ बढ़ाया। हाथ में ताम्बूल न पाने से उसने देखा। दासी अत्यन्त तन्मय हो मुक्तावली की गति की ओर दृष्टि लगाये थी। दृष्टि की अत्यन्त एकाग्रता के कारण उसकी भृकुटी पलकों पर झुक आई थी। रत्नप्रभा विनोद में मुक्तावली को भूल, दारा की एकाग्रता देखती रही।

सहसा दारा के मुख से निकला—"आह, भंग होगया।"

ताम्बूल आधार उसके हाथों से गिर पड़ा। मुक्तावली थम गई। पात्र की झनझनाहट से दारा को चेत हुआ। अत्यंत संकुचित और त्रस्त हो उसने स्वामिनी और मुक्तावली दोनो से ही क्षमा याचना की।

उस शिष्टाचार की उपेक्षा कर रत्नप्रभा ने दारा को मयूरी नृत्य शुद्ध रूप में पूर्ण करने का आदेश दिया। दारा ने अत्यन्त विनय से असामर्थ्य और अज्ञान प्रकट कर अभद्रता के लिये पुनः क्षमा माँगी।

रत्नप्रभा ने आग्रह किया—"नहीं दारा, नृत्य-कला से तुम परिचित हो, यह निसन्देह है।" सहसा स्मरण होने से उसने कहा—"अहा, उस दिन तुमने कहा था, तुम कलाविद हो·····नर्तकी बनोगी ?"

स्वामिनी के हठ से विवश हो, दारा संकोच और मनकी विरक्ति से अप्रतिम सी नृत्य के लिये प्रस्तुत हुई। वीणा और मृदंग बजने लगे। दारा के पदों ने लय पर गति आरम्भ की। वयोवृद्ध वादक रोहित नर्तकी के पदाक्षेप से तुरंत उसकी क्षमता भांप गया। उसने लय को द्रुत और विलम्बित अनेक गतियों में बजाया। दारा कहीं न उखड़ी। कुछ समय नृत्य करने के पश्चात् दारा उसमें आत्म-विस्मृत हो गई। अपने प्राणों में लय भर, वह इतने वेग से नाची कि वृद्ध रोहित की अंगुलियाँ पिछड़ने लगीं। उनके मस्तक से स्वेद की धारायें बह निकलीं। दर्शक चित्रित मूर्तियों की भाँति अवाक रह गये।

रत्नप्रभा विस्मय विजड़ित सी बैठी थी। नृत्य समाप्त कर दारा ने स्वामिनी के सम्मुख प्रणाम् किया। विस्मय का सम्मोहन समाप्त होने पर रत्नप्रभा अपने आसन से उठी। अपने कण्ठ की मणिमाला दारा को पहना उसे आलिंगन ले में बोली—"सखी, सागल, मगध, और तक्षशिला के अतिरिक्त यह पूर्णता कहीं सम्भव नहीं। सखी, यह गुण गुरू की कृपा और देवी सरस्वती के वरदान बिना सम्भव नहीं। सखी, तुम में मेरी गुरू-देवी मल्लिका का अंश है। सत्य कहो, यह रत्न कहाँ पाया ?"

विनय से सिर झुका दारा ने कृतज्ञता से गद्गद स्वर में उत्तर दिया—"सरस्वती की वरद पुत्री उन्हीं देवी को नमस्कार है।"

रत्नप्रभा दारा के प्रति दयालु थी। उसका गुण और रहस्य जान वह उस पर आदर से अनुरक्त होगई ! उसने दारा का नाम रखा—अँशुमाला ! नाम बदलने के साथ पुनः दिव्या का संसार बदल गया। द्रव्य और विलास के प्रवाह में, संगीत और नृत्य के भंवर में वह हंस

शावक की भाँति अविच्छिन्न तैरने लगी। परन्तु उसके दुख के दुर्भेद्य कवच के भीतर उस विलास और विनोद के भवँर के जलकी एक भी बूँद न गई।

उसकी मुस्कान और लास्य केवल कला का कर्तव्य मात्र था। समाज से पृथक होते ही वह निस्संग और तटस्थ होजाती; जैसे जल से बाहर निकल आने पर हंस शावक अपने पर झाड़ कर जल की बूँद से रहित हो जाता है। उसका मन दारुण और वीभत्स स्मृतियों के दुर्भेद्य आवरण में वेष्टित था। उसके मन में शाकुल का वियोग व्याप्त था।

रसिक समाज उसके मोहक लास्य और चमत्कारपूर्ण कला पर निछावर हो विभोर हो उठता। अमूल्य उपहारों की भेंट रत्नप्रभा के आसन के सम्मुख एकत्र होजाती। अंशुमाला यह सब न देखती। उसकी अन्तर्गत दृष्टि के सम्मुख शाकुल के विनोद प्रिय भोले नेत्र उपस्थित रहते। उसे रिझाने के सन्तोष से अंशु के नेत्र उज्ज्वल हो उठते। शाकुल के वियोग में उसकी पीड़ा की पुकार श्रोताओं के हृदय में प्रवेश कर गीत के श्लेष को अनुभूत स्थूल सत्य का उग्र रूप दे देती। नृत्य में उसकी आत्मरति अदृष्ट पूर्व और अश्रुत पूर्व थी।

रत्नप्रभा का प्रासाद केवल मथुरा नगरी ही नहीं, सम्पूर्ण शूरसेन प्रदेश और उससे अधिक दूर के प्रदेशों के लिये भी कला का तीर्थ था। अब उसकी ख्याति मगध, कौरव, कंठ और मद्र तक पहुँच गई। संध्या समय उसके समाज में स्थान के लिये रसिकों में संघर्ष होने लगता। जिस समारोह में अंशुमाला कला का प्रदर्शन करती, मार्गों की रक्षा और व्यवस्था के लिये राजपुरुषों की उपस्थिति आवश्यक होजाती। अंशुमाला की लोक प्रियता के कारण रत्नप्रभा के यहाँ पहले से दूना धन आने लगा। रत्नप्रभा और मुक्तावली के संगीत-नृत्य पर जहाँ पुष्प मालाओं और रजत मुद्राओं की भेंट चढ़ती थी अब स्वर्ण

मुद्रायें रत्न और मणि मालायें बरसने लगीं नाम था रत्नप्रभा का, वास्तविकता थी अंशुमाला।

* * *

रत्नप्रभा के प्रासाद में अंशुमाला की आकर्षण शक्ति का दूसरा परिणाम भी सम्मुख आया। श्रेष्ठि युवक, सामन्तगण और राजपुरुष पुष्पमालायें लेकर आते। यथेष्ट द्रव्य रत्नप्रभा के सम्मुख अर्पण कर अंशुमाला को जल-विहार अथवा कानन-विहार के लिये ले जाना चाहते। उसकी कृपा और अनुग्रह के प्रार्थी अब उसके प्रासाद में आ, अंशुमाला के लिये व्याकुल रहते। बिना चिन्ता और प्रयत्न के बहते चले आने वाले द्रव्य के लिये रत्नप्रभा का आकर्षण प्रबल न रहा। अपने आकर्षण की शक्ति खो बैठने से, एक नीरसता उसे सब ओर अनुभव होने लगी।

वह स्वयम् पूजा की प्रतिमा न रह कर नयी प्रतिमा की संरक्षिका, स्वामिनी और अधिष्ठाता बन गई। अंशुमाला की स्तुति और अनुराग की भेंट आने वाला सब द्रव्य उसी का था। आत्मसात् मुस्कराकर वह मन को समझाती—मेरे जीवन में आकर्षण का प्रयोजन और फल और है ही क्या? द्रव्य हो तो! फिर न्यूनता क्या है? अभाव क्या है? परन्तु मन न मानता। न्यूनता की अनुभूति कहती—धन का उपयोग क्या है? धन का उपयोग है, भोग में। वह उसे किस प्रकार भोगे? सुन्दर वस्त्र, आभूषण, भव्य भवन सब कुछ है परन्तु वे क्या संतोष देते हैं? वे जीवन का लक्ष नहीं, केवल उपकरण मात्र हैं। उन्हें देखता ही कौन है? ऐसे ही जैसे, पिंजरा स्वर्ण का रहने पर भी महत्व कुछ पक्षी की सारिका का ही है।

वह सोचने लगती—अठारह वर्ष पूर्व, जब वह अपनी शिक्षा मल्लिका के प्रासाद में पूर्ण कर मथुरापुरी लौटी थी, जन समाज उसकी ओर झुक पड़ा था। उस समय कौमुदी ने उससे कितनी ईर्षा की थी?

परन्तु कौमुदी की ईर्षा किस बात के लिये थी ? उसने ऐसा क्या पाया था जो उसका ही हो कर रह गया ? यही है वेश्या के जीवन का विद्रूप। यही है उसकी सफलता, समृद्धि और आत्मनिर्भरता ? वेश्या अपने आपको देती है और पाती है, केवल द्रव्य। परन्तु पराश्रिता कुलवधु अपने समर्पण के मूल्य दूसरे पुरुष को पाती है, किसी दूसरे पर भी अधिकार पाती है।···वेश्या का जीवन मोटी बत्ती और रालमिले तेल से पूर्ण दीपक की–प्रतिकूल परिस्थितियों में झुंझलाती–लौ की भाँति या उल्कापात की भाँति क्षणिक तीव्र प्रकाश कर शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। कुल-वधु का जीवन मध्यम प्रकाश से टिमटिमाते दीपक की भाँति है। ममता भरी शरण के हाथ प्रतिकूल परिस्थितियों के झंझावात में उसकी रक्षा करते हैं। वह निर्वाण से पूर्व अपने शरीर से दूसरे दीप जला, अपना प्रकाश उनमें देख पाती है। उसके स्वयम् निर्वाण हो जाने पर भी उसका प्रकाश बना रहता है। "····· वह परम्पराही मनुष्य की अमरता है।"—मारिश के वे शब्द उसे प्रायः ही स्मरण हो आते।

मूर्तिकार, चारवाक मारिश के वे शब्द प्रायः ही रत्नप्रभा को स्मरण हो आते और उन शब्दों से सम्बद्ध स्मृतियाँ भी। पहले-पहल, तीन वर्ष पूर्व वह युवक सिर पर असमय में पके केश लिये, दक्षिणापथ से सागल लौटता हुआ उसके यहाँ आया था। वह समाज में उपस्थित हुआ। उसके रूप और वेश ने रत्नप्रभा का ध्यान आकर्षित नहीं किया। समाज के अनन्तर भी वह प्रासाद में उपस्थित रहा। रत्नप्रभा के विश्राम के समय उसने साक्षात्कार के लिये अनुरोध किया। रत्नप्रभा की अस्वीकृति से अनुत्साहित हो उसने खिन्न स्वर में उत्तर दिया—"हाँ, नर्तकी का व्यवहार उचित ही है। उसकी संगति से संतोष की इच्छा मैं करता हूँ परन्तु उसके सन्तोष का मूल्य द्रव्य से नहीं चुका सकता।"

मारिश के इस संवाद से हतप्रतिभ हो रत्नप्रभा ने अनिच्छा से उसे साक्षात्कार का अवसर दिया। मारिश के व्यवहार में कुछ ऐसा था कि रत्नप्रभा उसकी उपेक्षा न कर सकी। वह कई पक्ष तक उसका अतिथि बना रहा। उसका अद्भुत प्रलाप आरम्भ में रत्नप्रभा के लिये केवल कौतूहल का हेतु था परन्तु कुछ ही समय में वह उस प्रलाप पर गम्भीरता से मनन करने लगी। वह और भी अधिक गम्भीर होगयी।

रत्नप्रभा के हृदय में संतोष न था परन्तु विश्वास और आशा थी। अपने व्यवसाय से संचित द्रव्य का यथेष्ट भाग वह यज्ञबलि में अर्पण करती थी। उसे विश्वास था, पूर्व जन्म के कर्मफल से वह इस जन्म में जीवन की पूर्णता से वंचित रही। इस जन्म के पुण्य से वह उस पूर्णता को परलोक और पुनर्जन्म में पायेगी।

परिहास पूर्ण उपेक्षा से मारिश ने कहा—"देवी, क्या सिर के पीछे से हाथ घुमा कर नाक पकड़ने के प्रयत्न में अधिक सुख मिलेगा?"

"ऐसा क्यों कहते हो?"—रत्नप्रभा ने विस्मय से पूछा।

"इस लिये कि"—मारिश ने उत्तर दिया—"परलोक में अधिक भोग का अवसर पाने की कामना से किया गया यह त्याग त्याग नहीं तुम्हारी आशा और विश्वास के अनुसार यह त्याग भोग का मूल्य है। भोग की इच्छा है तो साधन रहते भोग करो! आत्म प्रवंचना कर वंचित होने से क्या लाभ? परलोक केवल अनुमान और कल्पना है, प्रत्यक्ष नहीं। जो तुम्हें परलोक का विश्वास दिलाता है? उसने परलोक को दूसरे के शब्द मात्र से जाना है और उसने किसी और के शब्द से। परलोक को स्वयम देख कर किसी ने उसके सत्य होने की साक्षी नहीं दी। नित्य के व्यवहार में ऐसे प्रमाण पर कोई विश्वास न करेगा। ऐसे प्रमाण के आधार पर प्रकट स्थूल जीवन को न्योछावर कर देना क्या बुद्धिमानी है?"

रत्नप्रभा मारिश की ओर मौन देखती रह गई। उस तर्क का उत्तर न दे सकी। मारिश कहता गया—"मृत्यु के बाद तुम परलोक किस

प्रकार प्राप्त करोगी ? जीवात्मा से ? ब्रह्मवादियों का जीवात्मा देवी कुछ नहीं है वह भी केवल अनुमान और कल्पना है। मनुष्य की विचार और अनुभव की शक्ति इस स्थूल शरीर की सूक्ष्म क्रिया है। जैसे स्थूल पुष्प में सूक्ष्म सुगंध वास करती है। जैसे तेल और बत्ती के जलने की कृपा प्रकाश है। निर्वाण के पश्चात दीपक का प्रकाश कहाँ जाता है ? दीपक या सूर्य से पृथक होने पर प्रकाश का अस्तित्व कहाँ रह जाता है ? देवी इसी प्रकार जीवात्मा को जानो ! जीव से पृथक आत्मा कहाँ है ?"

"देवी—" मारिश ने उत्तेजित स्वर में कहा—"जिस स्थूल, प्रत्यक्ष जगत और शरीर का अनुभव सम्पूर्ण जन करता है उसे भ्रम मानना और जिस ब्रह्म और जीवात्मा की कल्पना केवल ब्रह्मवादी करता है उसे सत्य मानना, क्या युक्तियुक्त और बुद्धि संगत है ?..... देवी, दूसरे के शब्द पर अन्ध विश्वास करने की अपेक्षा अपनी अनुभूति और तर्क का आश्रय लो ! यह जीवन ही सत्य है। यह संसार ही सत्य है। जो पाना है सो जीवन में पाओ !"

अनेक क्षण मारिश की ओर अपलक देखती रहकर चिन्ता के बोझ से दबे स्वर में रत्नप्रभा ने प्रश्न किया—"परन्तु आर्य, यह शरीर नश्वर है और इस शरीर द्वारा प्राप्य सुख भी नश्वर और अस्थायी है।"

मारिश अधमुंदे नेत्रों से विद्रूपमयी तीव्र दृष्टि रत्नप्रभा के जिज्ञासा से फैले नेत्रों में डाल मुस्करा दिया—"शरीर नश्वर और अस्थायी है ? देवी अमरता चाहती हो ?.....अपने चारों ओर जितने पदार्थ देख पाती हो उनमें से कितने सदा एक रूप, एक रस, एक गंध रहते हैं ? देवी जिसे तुम नाश कहती हो, वह केवल परिवर्तन है। अमरता का अर्थ है अपरिवर्तन ! कल्पना करो, संसार में कोई भी

परिवर्तन हो ? उस संसार में क्या सुख होगा ?"—मारिश उसकी ओर देखता रहा।

कुछ क्षण विचार में मौन रह रत्नप्रभा बोली—"आर्य सत्य कहते हैं, अपरिवर्तनशील संसार सुखदायक न होगा !"

मारिश बोला—"और फिर मनुष्य अमर ही है। एक सहस्रवर्ष पूर्व मनुष्य जीवित था, आज भी है। एक सहस्र वर्ष उपरान्त भी रहेगा। मनुष्य की परम्परा ही उसकी अमरता है।"

रत्नप्रभा परलोक और अमरता की कामना से विरत हो जीवन की सार्थकता की बात सोचने लगी। यथेष्ट द्रव्य पा समाज के लिये भोग्य बने रहने में उसे जीवन की सार्थकता न जान पड़ती। कुलवधु के जीवन की कल्पना उसे अत्यन्त आकर्षक जान पड़ती परन्तु वह जैसे हाथ से निकल गया था। अपने स्वामी के रूप में वह किसे ग्रहण करती ? किसके हाथों में वह अपने आपको अर्पण कर सकती थी ? अपना जीवन उसे केवल जीवन के लिये कामना और उत्तेजना उत्पन्न करने का साधन मात्र जान पड़ता। स्वयम् उसके लिये संतोष न था।

वेश्या की जीविका के साधनों के रूप में विशेष समर्थ होकर भी अंशुमाला में गर्व न था। वह अपने प्रति निरपेक्ष थी। रत्नप्रभा के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ, अनुरक्त और आश्रित। परिचय के आरम्भ से ही रत्नप्रभा ने उसके प्रति करुणा और ममता अनुभव की थी। उसे अपनी गुरु मल्लिका की शिष्या जान और अपने प्रति उसकी अनुरक्ति और निर्भरता देख वह अत्यन्त वत्सल हो उठी। अंशुमाला के स्वामिनी पुकारने पर भी वह उसे बहिन और सखी ही सम्बोधन करती। चालीसवें वर्ष में पहुँची रत्नप्रभा को अंशुमाला में अपने पद और स्थान की स्पर्धा करने वाली प्रतिद्वन्दी नहीं अपितु अपनी परम्परा की रक्षा करने वाली उत्तराधिकारिणी दिखाई दी। वह गर्व, सन्तोष और स्नेह से उसे अंशुमाला न पुकार अंशुप्रभा पुकारने लगी।

रत्नप्रभा के प्रासाद में अंशुमाला के प्रकट होने से मथुरा का रसिक समाज उसी प्रकार विभोर हो उठा, जैसे निरन्तर घटाटोप मेघों और वर्षा से क्लान्त जन समाज अंशुमाली के उदय से आश्वासन पाता है। परन्तु अंशु उस स्तुति से पुलकित न हुई। उसकी विरक्ति और अन्तसवृत्ति में अन्तर न आया।

अंशु की उपेक्षा ने अनुरागी रसिकों को व्यग्र कर दिया। भेटों के रूप में रसिकों ने अंशु की विरक्ति और उपेक्षा के वर्म पर सामर्थ्य भर आघात किये। इस पर भी अपने प्रयत्न में विफल रह रसिक असफलता के संकोच से उपराम होने लगे।

समाज में अपवाद फैलने लगा—अंशुमाला वेश्या नहीं, केवल नृत्य की काष्ठ पुत्तलिका है।·····प्रस्तर के देवता के सम्मुख नृत्य का अनुष्ठान करने योग्य नृत्य का यंत्र। उसका लास्य, स्मित और कटाक्ष केवल कला का अनुष्ठान मात्र है, मनुष्य के संतोष की वस्तु नहीं। उसके अपने जीवन में कुछ नहीं, वह किसी के लिये कुछ नहीं। कामना के रूप में जीवन की ऊष्मा से वह हीन है। वह रत्नप्रभा की काष्ठ पुत्तलिका मात्र है।

देवी रत्नप्रभा यह अपवाद सुनती और स्वयम भी देखती। वह अंशु के मन के अवसाद की बात सोचती और उसके व्यवसाय के भविष्य की चिंता करती। अंशु को कुछ कह सकना कठिन था और मौन रह जाना भी। एक ओर उसका मन दुखाने का भय था दूसरी ओर उसके भविष्य की हानि।

प्रख्यात यांत्रिक वभ्रु से रत्नप्रभा ने अंशु के मन का अवसाद दूर करने के लिये अनेक उपचार करवाये परन्तु सफल न हुई। संकोच से रत्नप्रभा ने समझाया—मृत्यु तो एक दिन आयेगी ही। जीवित रहते मृतवत व्यवहार करने से क्या लाभ! जिनसे हम जीवन के साधन पाती हैं, उनकी अवज्ञा क्या उचित है! जन अवसाद से मुक्ति पाने के

लिये हमारे समीप आते हैं। हम भी उन्हें विरक्ति और अवसाद ही दें तो हम किस मुख से उनसे क्या आशा करेंगी ? प्रयोजन से हीन कला मोहक रूप-रंग, लिये मिट्टी के फल के समान है; जो तृप्ति नहीं दे सकती। अनुराग ले कर अनुराग की आशा से आने वाले का तिरस्कार क्यों किया जाय ? अनुराग आदर का चरितार्थ रूप है। वेश्या बन आत्म-निर्भर नारी होने का तुम्हारा विचार था।·····अपने व्यवसाय के प्रति आदर और निष्ठा व्यक्ति का कर्तव्य है। रत्नप्रभा जो कुछ और जैसे कहना चाहती थी, कह न पायी।

अंशुमाला ने कर जोड़, सजल नेत्रों से अपराधी के समान कम्पित स्वर में उत्तर दिया—"स्वामिनी यह तन तुमने क्रय किया है। मन स्वयम मेरे वश नहीं। तुम्हारी करुणा से आधीन मैं उसे भी तुम्हें अर्पण कर देना चाहती हूँ। मैं आभारी हूँ आज्ञा का पालन करूँगी।"

अपनी शुभकामना से अंशुमाला को दुखित हुआ देख रत्नप्रभा कुण्ठित हो गई। यदि मारिश होता; उसने सोचा-अपने तर्क से अंशु की विरक्ति और अवसाद का वर्म सम्भवतः भंग कर सकता। उसकी बात वह ध्यान से सुनती। सम्भवतः उसका मन बदल जाता। मारिश की स्मृति उसके मन में बनी थी अब वह उसकी आवश्यकता अनुभव करने लगी।

मारिश कभी अनिश्चित परदेसी पक्षी की भाँति उसके प्रासाद पर से उड़ान भर जाता। सागल में ठुकराया जाकर वह शूरसेन के मार्ग से मगध चला जाता। मगध से प्रताड़ित हो शूरसेन पहुँचता और शूरसेन से विरक्त हो वह पुनः सागल की ओर चल देता।

* * *

श्रावण मास में प्रति वर्ष मथुरापुरी के उपान्त, वृन्दावन में 'दोल' महोत्सव होता था। सभी नगरों और प्रदेशों से आबाल-वनिता रसिक समूह और कलाविद एकत्र होते। जन विनोद के लिये और कलाविद

कला के विमर्ष के लिये। ज्ञान वृद्ध और वयःवृद्ध कलावन्तों की कण्ठ-साधना के सूक्ष्म तत्व और लोल नर्तकियों के अंगलास्य, कला के सभी अंग वहाँ प्रस्तुत होते। रसिकों की सभा सर्वश्रेष्ठ कलावंत को सम्मानित करती। कलावन्त के यश से उसका प्रदेश सम्मानित होता। वह सम्मान कभी मगध कभी कौरव, कभी मद्र देश और कभी मल्लदेश प्राप्त करता। परन्तु रत्नप्रभा के अखाड़े में अंशु के प्रकट होने से तीनों वर्ष वह सम्मान मथुरापुरी के भाग्य आया। दोलोत्सव से अंशुप्रभा की ख्याति दिगन्त पर्यन्त फैल गई।

दोलोत्सव के प्रसंग से मथुरापुरी आये रसिक प्रवासियों के कारण पावस ऋतु में रत्नप्रभा के चतुश्शाल में, अभ्यागतों के लिये स्थान का अभाव हो जाता। संध्या समय साधारण वर्षा होने पर भी समाज में व्याघात न हो पाता। श्रावण बीत जाने पर भाद्रपद में भी कभी संध्या घोर वर्षा से घिरी रहती। ऐसी असुविधा जनक संध्या में, वर्षा के कारण मार्ग दुर्लाघ्य हो जाने पर ही रत्नप्रभा और अंशु विश्राम पा सकती थीं।

ऐसी ही एक संध्या अलिन्द में अकेली बैठी रत्नप्रभा अपने जीवन और अपनी प्रिय सखि अंशुमाला के भविष्य के सम्बन्ध में विचार कर रही थी। मार्ग दिखाती हुई दासी के पीछे आ सहसा मारिश ने रत्नप्रभा का अभिवादन किया। चिरप्रतीक्षित मित्र को देख रत्नप्रभा के नेत्र आह्लाद से चमक उठे। तत्काल ही उसके मस्तिष्क में विचार कौंद गया—यदि मारिश अंशु का अवसाद दूर कर सके? उसने मारिश से आसन ग्रहण करने का अनुरोध किया।

निरंतर वर्षा हो रही थी। अलिन्द में रत्नप्रभा और मारिश उपधानों के आश्रय बैठे थे। वर्षा की अधिकता ने अधर में गिरते जल को भितियों का रूप दे दिया था। रत्नप्रभा के चतुश्शाल में मृदंग और मुरज मौन थे। आकाश में इठलाते, घने कृष्ण मेघ अल्हड़पन में

इस मौन के प्रति व्यंग कर उस शब्द की प्रतिध्वनि कर रहे थे। मन्द वायु से गुदगुदाई जाकर प्रकृति मेघों की ताल पर थिरक नृत्य का व्यंग कर रही थी। रत्नप्रभा ने चंवरधारी दासी को अंशुमाला का संदेश देने और सुरा-आधार प्रस्तुत करने का आदेश दिया।

अंशुमाला का प्रसंग आने पर मारिश ने कौतुहल प्रकट किया —"देवी, किस अवसर से तुम्हें ऐसी शिष्या मिली कि चतुर्दिक तुम्हारा यश फैलगया। अवश्य ही मैं उसके दर्शन और कला के आनन्द से कृतार्थ होऊँगा।"

—"आर्य के साक्षात्कार के लिये ही मैंने अंशु का स्मरण किया है। परन्तु मित्र उस वीतराग नर्तकी से निराश न हों। मनमें समाये विषाद के कारण लास्य-विलास उसके लिये केवल भृत्ति कार्य है।"—मारिश विस्मित था।

अंशुमाला मूल्यवान परन्तु उपेक्षा से धारण किये अत्यन्त शुभ्रवस्त्रों में अलिन्द में प्रस्तुत हुई। उसके शरीर पर कोई आभूषण न था, एक पुष्प भी नहीं। अलस उदासीनता में, उपेक्षित शुभ्रवस्त्रों से फूटी पड़ती अपने शरीर की कमनीयता के प्रति वह इस प्रकार निरपेक्ष थी जैसे वह उसके वश का विषय नहीं।

पल्लव ओष्ठों के क्षीण स्फुरण से उदास मुख पर शिष्टाचार की मुस्कान लाने का प्रयत्न कर, हाथ जोड़ अंशुमाला ने निवेदन किया— "देवी रत्नप्रभा की अनुचर नर्तकी अंशुमाला आर्य अभ्यागत का अभिवादन करती है।"

मारिश अंशु की ओर अपलक दृष्टि लगाये था। सहसा उसकी स्मृति जाग उठी। शुभ्रवस्त्रधारी संकुचित, उदास नर्तकी के पीछे उसे अधर में तीन वर्ष पूर्व देखा व्यथित मराली का नृत्य दिखाई देने लगा।

रत्नप्रभा के संकेत से अंशु विष्टर पर बैठ गई और पुनः स्वामिनी

का संकेत पा सुरा पात्र से एक चषक पूर्ण कर, दोनो करों से अभ्यागत के सम्मुख प्रस्तुत कर निवेदन किया—"आर्य, स्वीकार करें !"

मारिश अब भी अपलक दृष्टि से श्वास रोके अंशु की ओर देख रहा था। उस दृष्टि की तीव्रता से, हाथों में चषक लिये अंशु बिजड़ित सी रह गई। परिस्थिति भांप, रत्नप्रभा ने अपनी बाहु सांत्वना के भाव से अंशु की पीठ पर रख दी। मारिश की दृष्टि में अत्यन्त व्यग्रता का भाव देख, मुस्करा कर रत्नप्रभा ने अंशु के सम्मुख अपने उत्तरीय के आंचल की ओट कर दी और कौतुक के स्वर में मारिश को सम्बोधन किया-आर्य, ऐसी कठिन दृष्टि से मेरी सुकुमार सखी त्रस्त हो जायगी।"

स्मृति में विस्मृत मारिश की दृष्टि अपलक और स्थिर रही। उसके ओठ हिले—"कुमारी दिव्या !"

अंशु के नेत्र झुक गये। उत्तर न दे सकी।

रत्नप्रभा ने मारिश की ओर देखा और अंशु की ओर भी देखा। दोनो के ही मुख पर बरसने से पूर्व उमड़ते मेघ की गम्भीरता थी। कुछ क्षण वह स्वयम् किंकर्तव्य विमूढ़ रह गई। और फिर विह्वर से उठ, चंवरधारी दासी को किसी कार्य के लिये आदेश देती हुई साथ ले चली गई।

कुछ क्षण मौन रह मारिश ने पुनः सम्बोधन किया—"कुमारी दिव्या !"

अंशु सुरा का चषक दोनों हाथों में थामे निश्चल थी। उसका मस्तक अधिक झुक गया। क्षीण स्वर में उसने उत्तर दिया—"आर्य अब मैं दिव्या नहीं हूँ। अब कुमारी भी नहीं हूँ। देवी रत्नप्रभा की क्रीत दासी, वेश्या नर्तकी अंशुमाला हूँ। आर्य सुरा ग्रहण करें।"

दीर्घ निश्वास ले मारिश ने अंशु के हाथ से चषक थाम आधार पर रख दिया। एक और श्वास वक्ष में भर पुनः स्मृति के पंखों का

आश्रय ले, उसका मन अतीत की ओर चला गया। कुछ समय उसी अवस्था में रह उसने पुनः अंशु को सम्बोधन किया—"भद्रे, इस दूर देश में, इस स्थान पर भद्रे का आना किस प्रकार हुआ?"

"आर्य, भाग्य से अथवा कर्मफल से।"—अंशु ने घने मेघ छायी संध्या के अस्पष्ट प्रकाश में अपने नेत्र मारिश की ओर उठा साहस से उत्तर दिया।

भाग्य और कर्मफल का प्रसंग सुन मारिश जैसे विचार तंद्रा में चुटकी काटे जाने से व्यग्र हो उठा—"भद्रे, भाग्य और कर्मफल से क्या अभिप्राय? भाग्य का अर्थ है मनुष्य की विवशता और कर्मफल का अर्थ है, कष्ट और विवशता के कारण का अज्ञान! भद्रे, इसके अतिरिक्त भाग्य और कर्मफल कुछ नहीं!"

अपनी उंगली के नखों पर दृष्टि झुका अंशु ने उत्तर दिया—"आर्य दासी का अभिप्राय विवशता और विवशता के कारण का अज्ञान ही समझें!"

अंशु के उत्तर में अपने विचार का अनुमोदन पा मारिश ने सान्त्वना का श्वास लिया परन्तु अंशु के अनुमोदन से प्रसंग का मार्ग पुनः रुक गया। मारिश मौन रह आधार पर रखे सुरापात्र की ओर दृष्टि किये बैठा था। अंशु ने कर्तव्य के विचार से पुनः आधार अतिथि के सम्मुख कर अनुरोध किया—"आर्य, पान ग्रहण करें!"

दृष्टि उठाये बिना मारिश ने अनुरोध रक्षा के लिये चषक उठा सुरा को औषध की भाँति पी लिया और फिर अलिन्द के सम्मुख, भूमि और आकाश के अन्तर को जल बिन्दुओं से पूर्ण किये वर्ष की ओर देखने लगा। उसी ओर दृष्टि किये वह बोला—"तीन वर्ष पूर्व सागल में पुण्यस्मृति महा पण्डित धर्मस्थ के देहान्त के समय अनेक असम्बद्ध प्रसंग सुने थे।·····महापण्डित की प्रपौत्री का पूर्ण यौवन में अत्यन्त रुग्ण हो कर काल कवलित हो जाना·····आत्महत्या का सन्देह!···

आज भद्रे को यहाँ इस अवस्था में प्रत्यक्ष पाया। यह स्वप्न है·····। अथवा वह स्वप्न था !·····दोनों ही यथार्थ है।"

मूक रोदन का आभास पा मारिश ने अंशु की ओर देखा। उसका मुख उत्तरीय के पीछे छिपा था। मारिश का स्वर आर्द्र हो गया—"यह प्रसंग भद्रे के लिये अवसाद का कारण है·····मैं इस विषय में कुछ न कहूँगा।"

अपने उद्वेग का निग्रह कर अंशु ने विनय के स्वर में कहा—"आर्य, आत्मीय का वियोग दुख का कारण होता है·····तात ही दासी के एक मात्र आश्रय थे।"

"परन्तु भद्रे, मृत्यु शरीर का धर्म है·····तात का वियोग सागल का दुख था। एक-सौ-बीस वर्ष तक वे न्याय की भावना के रूप सागल का गौरव बने रहे। उनकी पुण्य-स्मृति भी सागल का गौरव रहेगी। भद्रे, उनके व्यापक स्नेह ने सागल को व्यापक दुख दिया। भद्रे, ऐसा दुख भी सौभाग्य से ही होता है। जैसे सन्तान के स्वास्थ्य की चिन्ता के दुख के मूल में सन्तानवान होने का सुख अन्तर्निहित है।" मारिश और अंशु पुनः मौन बैठे रहे।

दो घड़ी पश्चात् रत्नप्रभा दासी के हाथ में आलोक लिये लौटी। मारिश और अंशु को निश्चल और मौन देख उसने हृदय में कंटक अनुभव किया परन्तु परिहास के स्वर में बोली—"जो अन्तर्यामी बिन कहे और सुने ही दूसरे के मन की बात जान सकते हैं और अपनी प्रकट कर सकते हैं उन्हें रात्रि में विलम्ब कर समीप बैठने से क्या प्रयोजन !"

दोनो को ही निरुत्तर देख, रत्नप्रभा ने अंशु की पीठ छू कर कहा—"उठो सखी, विलम्ब हो गया। आर्य के विश्राम की व्यवस्था अतिथिशाला में है। वे दिन की यात्रा से श्रान्त है।"

अंशुमाला के लिये गत जीवन की स्मृति वीभत्स और दारुण थी। भविष्य की कल्पना शून्य। गत जीवन के दुखों की स्मृति से वह

आँसू न बहाती। यदि बहाती तो किस-किस दुख को लेकर? सुख की आशा और कामना भी वह न करती। सुख है क्या?—उसने सोचा—"सम्पन्न परिवार, अनुरक्त पति सुन्दर सन्तान? वह सब पाया और नहीं रहा। और उस सब के परिणाम में पाया दुख! स्थविर चौबुक ठीक कहते थे—सुख और दुख अन्योन्याश्रय हैं। सुख की इच्छा से ही दुख होता है। संसार में जितना सुख है उससे बहुत अधिक दुख है। और जब संसार ही दुख पूर्ण है तो वह उससे भाग कर कहाँ जायगी? सहिष्णुता की जड़ता में वह अपने प्रति निरपेक्ष हो कर शान्त थी। उसके जीवन की चेष्टा प्रयोजन रहित थी। उसका मस्तिष्क अपने प्राकृतिक स्वभाव के कारण विचार अवश्य करता परन्तु उस विचार में प्रयत्न और निर्माण की प्रवृत्ति न रही थी, केवल विरक्ति और अनासक्ति का भाव था। एक तर्क जो सब ओर व्यर्थता खोजता था।

परन्तु मारिश के सम्मुख दो घड़ी मौन बैठने के पश्चात् वह रात भर विच्छिन्न रही। जड़ता के परिणाम में पायी उसकी मानसिक स्थिरता इस सम्पर्क से क्षुब्ध होगई। जैसे क्षुब्ध ताल में उठी लहरें तल में बैठे कीच और काही को ऊपर ले आती हैं, उसी प्रकार मारिश के साक्षात्कार ने गत जीवन की स्मृतियों को सचेत कर दिया। दो वर्ष में प्राप्त स्थिरता कुछ ही क्षण में छिन्न-भिन्न होगई।

दासी को कक्ष से आलोक हटा देने का आदेश दे, दो घड़ी कोमल पर्यङ्क पर अनिद्रा में करवटें ले अंशुमाला की कल्पना में पुरोहित चक्रधर के घर की स्मृति जाग उठी। पुरोहित के घर में वह नग्न शिलाओं पर निद्रा से अवश हो जाती थी। स्वामिनी के अनेक बेर पुकारने पर अथवा शाकुल के चीत्कार करने पर जब उसकी निद्रा भंग होती तो निद्रा में मृतवत हो जाने के अपराध में उसे स्वामिनी की प्रतारणा और लांछना सुननी पड़ती।

गवाक्षों और द्वार से निरंतर घोर वर्षा का अर्थहीन शब्द कानों में

भर जाने के कारण नीरवता अनुभव हो रही थी। वह तर्क करने लगी—आकाश से गिरनेवाले प्रत्येक जल बिन्दु का शब्द है। इन असंख्य शब्दों में भेद न कर पाने से वह समुच्चय शब्द ध्यान नहीं पाता। ऐसे ही असंख्य दुखों की एक साथ अनुभूति मनुष्य को किसी एक दुख को अनुभव करने योग्य नहीं रहने देती, वह दुख हीन हो जाता है।

आर्य मारिश मौन बैठे रहे जैसे वे मेरे दुख से दुखी हैं। मेरे दुर्भाग्य से वे दुखी क्यों हैं? शतशः रसिक समाज यहाँ रस और विनोद के लिये आता है। उन्हें मेरे उसी अस्तित्व से प्रयोजन है जो उनके सम्मुख रहता है। परन्तु आर्य मारिश प्रकट के पीछे छिपे वास्तविक की उपेक्षा न कर सके।

पाँच वर्ष पूर्व आर्य मारिश ने मधुपर्व उत्सव पर उसकी सफलता के आदर से कहा था—"भद्रे, तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण शक्ति का निखार मात्र है जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।" उस समय मारिश के भाव और वचनों में उच्छृङ्खलता जान पड़ने से उसने कुण्ठा और विरक्ति अनुभव की थी। आर्य मारिश की वह अभिशाप-मयी भविष्यद्वाणी तथ्य थी और सत्य प्रमाणित हुई।·····यह सब रसिक समाज स्वामिनी के प्रासाद में किस लिये आता है? सागल में देवी मल्लिका के प्रासाद में समारोह का प्रयोजन क्या था? नारी के आकर्षण-सृष्टि की उस आदि शक्ति-से विनोद के लिये!·····रसिक समाज आता है अपना विनोद कर चला जाता है। परन्तु मारिश विनोद की हाट में अवसाद खोज रहे हैं। उन्हें विनोद से नहीं सम-वेदना अर्थात् वेदना से संतोष हुआ।·····सब व्यर्थ है, सब व्यर्थता है। अंशुमाला घोर वर्षा के घने अन्धकार में कोमल पर्यंक पर लेटी विचारों में उलझी अनिद्रित रही।

प्रायः निरपेक्ष और तटस्थ रहने वाला मारिश रत्नप्रभा के प्रासाद में दिव्या को अकस्मात पा विचलित हो गया। रात्रि के अधिकांश भाग

में वह निद्रा न पा सका। दिव्या की दुख के बोझ से परास्त, निराश वीतराग मूर्ति निरंतर उस की कल्पना में उपस्थित रही। शुभ्र वस्त्र धारणा किये, उपेक्षा की मुद्रा में दिव्या मारिश के अन्तस्तल में समा गई। एक श्वास में दिव्या की रत्नप्रभा के अलिन्द में दिखाई पड़ी निराश मूर्ति उसकी कल्पना की दृष्टि के सम्मुख रहती और दूसरे श्वास में, सागल में महापण्डित धर्मस्थ के प्रासाद में जीवन के उत्साह और आशा की नवविकसित मञ्जरी की भाँति रूप, सौरभ और स्फूर्तिका स्पन्दन बरसाती दिव्या की मूर्ति उसकी कल्पना में जाग उठती। समवेदना में उसका हृदय पिघल कर अवश हो जाता जैसे पिघल जाने पर मोम हाथ में नहीं समा सकता।

सागल में मारिश ने दिव्या के प्रति आकर्षण अनुभव किया था। परन्तु वह आकर्षण कामना का नहीं, केवल स्तुति का था। मारिश अपने असामर्थ्य और हीन स्थिति के प्रति अचेत न था। दिव्या और स्वयम् उसके बीच गहरी खाई के व्यवधान से वह परिचित था। परन्तु रत्नप्रभा के प्रासाद में दिव्या गर्व और गौरव के दुधर्ष शिखिर से उतर, समता की भूमि पर मारिश के हाथ की पहुँच में आ गई। मारिश समवेदना का हाथ बढ़ा उसे स्पर्ष कर सकता था।

समवेदना का अवलम्ब पा मारिश का आकर्षण प्रबल हो गया। वह दिव्या को देख पाने और उसके समीप हो सकने के लिए व्याकुल हो उठा। परन्तु अतीत के प्रसंग से दिव्या ने क्षोभ और व्यथा अनुभव की थी। अपने सन्तोष के लिये वह उसे व्यथित न करना चाहता था। उसके मन में शूल सा गड़ रहा था :—क्या शेष जीवन दिव्या इसी प्रकार रहेगी? संध्या पर्यंत विचार और दुविधा में उद्विग्न रह मारिश रत्नप्रभा के समाज में पहुँचा।

रत्नप्रभा के समीप आसन से उठ अंशुमाला ने गायन और नृत्य किया। उसका प्रसाधन सुरुचिपूर्ण और लावण्यमय था। उसके

ओंठों और नेत्रों में संगीत के भाव के अनुकूल सजीवता और मुस्कान थी। एक ओर बैठा मारिश संगीत और नृत्य में तन्मय न हो सोचता रहा—क्या इस कृत्रिम किल्लोलमयी अंशुमाला की अपेक्षा गत संध्या की अवसाद पूर्ण शुभ्रवसना और आभरणहीन दिव्या कहीं अधिक कमनीय न थी ? गत संध्या वह अपने मन का दुख प्रकट करने के लिये स्वतंत्र थी। इस समय वह विनोद का साधन बनने के लिये विवश है। व्यसनी समाज अपने नेत्रों से इसका लावण्य भोग रहा है। वह परवश हो भोग के लिये उपस्थित है। समाज की स्तुति के उत्तर में अंशुमाला का सस्मित विनय उसे असह्य जान पड़ा। वह व्यग्र हो रहा था, कब समाज का अन्त हो।

नृत्य और गायन से श्रांत अंशुमाला अपने कक्ष में दासी वृन्दा की सहायता से प्रसाधन से निवृत्ति ले रही थी। द्वाररक्षक दासी मोरपंख का व्यजन उसके स्वेद सिक्त शरीर को वातास द्वारा शीतल कर रही थी। वृन्दा ने अंशु का कंचुक खोल दिया और उसकी फैली हुई बाहु विश्राम के लिये अपने कंधे पर रख, बाहुमूल से अंगद खोल रही थी।

मारिश के सूचना दिये बिना सहसा कक्ष में आजाने से अंशु लज्जा और संकोच से विभिट और कांप कर बैठ गई। दासी ने समीप पड़ा उत्तरीय उसके कंधों पर उड़ा दिया। उसके नेत्र अधमुंदे से होगये और गालों पर अरुणाई गहरी होगई।

मारिश ठिठका और विमूढ़ हो ग्रीवा झुका लौट गया। अलिन्द तक पीछे लौट उसने सुना—"आर्य! स्वामिनी नमस्कार निवेदन करती हैं।" मारिश विचार-विमूढ़ सा कक्ष में लौट आया।

अंशु यथास्थान वस्त्र धारण कर चुकी थी। लाज संकोच और शिष्टाचार की मुस्कान से उसका मुख और नेत्र दीप्त हो रहे थे। कर जोड़, मस्तक झुका उसने निवेदन किया—"आर्य पधारिये!"

उसके केशों से अब भी मुक्ता गुच्छ झूल रहे थे। मस्तक पर चंद्रिका

तिलक और ओठों पर राग था। शंख के समान ग्रीवा का मार्दव मुक्तावलियों से घिर कर और अधिक उद्भासित हो रहा था। रक्त कौशेय में पीठ पीछे खिंच कर पूर्ण गोलार्ध बने उरोज बंधन में आकर, बागुरा खिंचे अश्व की भाँति और अधिक मुखर हो रहे थे। धानी रंग का अत्यन्त चिकना शाटक कटि से नीचे वीणा के कूष्माण्ड की भाँति नितम्बों को ओट में ले कर अधिक आकर्षक बनाये था और श्रान्ति के कारण अस्पष्ट रूप से थिरकती, लम्बी तूम्बी के समान जंघाओं की आकृति उसमें से व्यक्त हो रही थी। कंचुक और शाटक के मध्य अनावृत्त त्रिवलि अपनी स्वाभाविक कमनीयता से दोनो ओर के कौशेय को लजा रही थी।

चित्त उद्विग्न हो जाने के कारण मारिश अंशु के शिष्टाचार का उत्तर उचित शालीनता से न दे सका। अंशु को मारिश के शिष्टाचार की न्यूनता न खली। खली गाम्भीर्य का आवरण लिये उसकी उद्विग्नता। पीठिका की ओर संकेत कर उसने अनुरोध किया—"आर्य, आसन ग्रहण करें।"

मारिश ने आसन ग्रहण किया परन्तु अभ्यर्थना की स्वीकृति में उत्तर न दे पाया। आभरण उतारती दासी की उपेक्षा कर मारिश के समीप हो, अंशुमाला ने पुनः प्रश्न किया—"आर्य का मन और शरीर स्वस्थ है?"

"भद्रे, मैं स्वस्थ हूँ। मेरे अकस्मात प्रवेश से भद्रे को असुविधा हुई…" आत्म संवरण की चेष्टा से स्वयम् मारिश के मुख पर असुविधा के चिह्न प्रकट हो रहे थे। मारिश की असुविधा का कण्टक अंशु ने मन में अनुभव किया परन्तु मुख पर मुस्कान बनाये रखने का यत्न कर उसने आश्वासन दिया—"असुविधा नहीं आर्य, दासी सेवा के लिये प्रस्तुत है।"

क्षण भर मौन रह अत्यन्त गम्भीर स्वर में मारिश बोला—

"आर्ये निवेदन की इच्छा अदमनीय हो जाने पर ही उपस्थित हुआ हूँ।

अंशु का मस्तक ऐसे गूँज उठा जैसे मृदंग पर सहसा पूरी थाप आ पड़ी हो। विचार को संयत रखने के लिये दोनों हाथों की अंगुलियाँ परस्पर बाँध उसने कहा—"आर्य, कक्ष में ऊष्मा है। यदि असुविधा न हो, उद्यान की मुक्त वायु में बैठ कर वार्तालाप करें।"

देवी के अन्तष्कक्ष में अभ्यागत के अकस्मात प्रवेश से स्तब्ध हो गयी व्यजनधारी दासी अपना कर्तव्य भूल गई थी। संकेत पा, वह तुरत व्यजन डुलाने लगी। उसकी ओर देख अंशु ने कहा—"नहीं, व्यजन की आवश्यकता नहीं। आर्य को मौलश्री के नीचे शिलापीठ का मार्ग दिखाओ!" उसने मारिश को सम्बोधन किया "आर्य दासी तुरंत उपस्थित होगी!"

मौलश्री के नीचे शिलापीठ पर बैठा मारिश विचार रहा था, दिव्या से वह क्या और कैसे कहेगा? आवेश में वह उसके अन्तश्कक्ष में चला गया था। उस भूल की स्मृति ने आवेश के स्थान पर तर्क को उद्बोधित किया! सम्मुख दिव्या आती दिखाई दी। कला-व्यवसाय के वस्त्राभूषण उतार वह अब फिर श्वेत वस्त्र धारण किये निराभरण थी। उसके मुख की मुस्कान भी विलीन हो चुकी थी। शिलापीठ पर मारिश के समीप बैठ, कुछ क्षण उसके प्रश्न की प्रतीक्षा कर वह स्वयम् बोली—"आर्य, आज्ञा करें!"

अंशु की ओर दृष्टि उठा मारिश ने प्रश्न किया-"भद्रे क्या यही उचित है? क्या तुमने यही स्वीकार किया?"

कुछ पल प्रश्न का अभिप्राय अवगत कर अंशु ने उत्तर दिया—"आर्य, उचित-अनुचित का विचार कर यह स्वीकार नहीं किया····· यह भाग्य है।"

मारिश सचेत हो गया—"भाग्य!·····देवी, भाग्य का अर्थ है विवशता!"

"हाँ आर्य-विवशता"—अंशु ने स्वीकार किया।

"भाग्य का अर्थ है—असामर्थ्य !"-मारिश पुनः बोला।

"हाँ, आर्य असामर्थ्य"—पुनः अंशु ने स्वीकार किया।

अंशु की स्वीकृति से मारिश निरुत्तर हो गया। विचार कर पुनः कुछ उत्तेजना से उसने कहा—"असामर्थ्य का अर्थ है, प्रयत्न और चेष्टा न करना !"

अंशु इस भर्त्सना से अप्रतिभ न हुई। नीलिमा लिये उसके विशाल नेत्र झुके नहीं। "नहीं आर्य !" उसने उत्तर दिया-"प्रयत्न किया और चेष्टा की। सामर्थ्य की सीमा पर्यंत प्रयत्न किया और चेष्टा की और असमर्थ हो असामर्थ्य को स्वीकार किया।"

मारिश ने कुछ क्षण ग्रीवा झुका कर अंशु के उत्तर पर विचार किया और बोला—"भद्रे, प्रयत्न और चेष्ठा जीवन का स्वभाव और गुण है। जब तक जीवन है, प्रयत्न और चेष्ठा रहना स्वाभाविक है।" मारिश के स्वर में उत्तेजना और तीव्रता दूर हो आर्द्रता आगई-"भद्रे, जीवन में एक समय प्रयत्न की असफलता मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन नहीं है। जीवन का हम अन्त नहीं देख पाते। वह निस्सीम है। वैसे ही मनुष्य का प्रयत्न और चेष्टा भी सीमित क्यों न हो ? असामर्थ्य स्वीकार करने का अर्थ है, जीवन में प्रयत्न हीन हो जाना ; जीवन से उपराम हो जाना।"

मारिश के स्वर की आर्द्रता और उत्तर के भाव से अंशु के नेत्र झुक गये। ग्रीवा झुका वह बोली-"आर्य इसी प्रेरणा से अजाने पथ पर पांव रखने में भी संकोच नहीं किया था। पथ को दुर्गम जान कर भी पग बढाया था.....अपने सार्थ्य को हीन पाया।" अंशु ने दीर्घ निश्वास लिया—"आर्य जो होना था वह होगया।...अब दुख क्या ?"

"क्या होना था...क्या होगया ? देवी !" मारिश ने प्रश्न किया।

"इस क्षुद्र जीवन का जो कुछ होना था, आर्य"-अंशु ने दृष्टि

फेरली–"आशा और इच्छा दुख मूल हैं, ज्ञानी ऐसा कहते हैं। आर्य ऐसा ही पाया!"

अंशु की निराशा से अधिक द्रवित हो मारिश ने आग्रह किया–"भद्रे, ऐसा क्या होगया? वह जीवन का एक परिवर्तन था। जब तक जीवन है, उसमें परिवर्तन और प्रयत्न के लिये अवसर और सम्भावना है।" अपने आग्रह में बल देने के लिये मारिश ने अंशु के नेत्रों में देखकर कहा–"कुमारी दिव्या, जीवन अनन्त है और मनुष्य का सामर्थ्य भी अनन्त है।"

मारिश के दिव्या सम्बोधन से अंशु का शरीर रोमांचित होगया। उस आवेश को वश करने का यत्नकर उसने उत्तर दिया—"आर्य, धर्मस्थ की गर्विता प्रपौत्री दिव्या मर चुकी है। उसके शव में कला-जीवी नर्तकी वेश्या अंशुमाला जीवन का शेष समय निर्वाह कर रही है। मैं आर्य की समवेदना के लिये अति कृतज्ञ हूँ।"

कण्ठ का अवरोध निगल मारिश बोला–"भद्रे, केवल समवेदना के कारण मैं ऐसा नहीं कह रहा हूँ!"

"तो फिर नर्तकी आर्य की उपकार की भावना के प्रति कृतज्ञ है!"

"नहीं देवी, मैं अनुराग के कारण ऐसा कह रहा हूँ।"–मारिश ने उत्तर दिया।

अंशुमाला का शरीर कण्टकित हो ग्रीवा झुक गई। भाद्रपद के शुक्लपक्ष की रात्रि के प्रथम पहर में नवमी का चद्रमा मेघों से चित्रित आकाश में कभी उज्ज्वल और कभी श्यामल हो रहा था। वर्षा के जल से तृप्त भूमि से निकल अनेक झिल्ली और झींगुर मनुष्य के शब्द से शून्य होगये वातावरण को अपनी तीखी झंकारों से पूर्ण किये थे। उन सब स्वरों से अधिक तीव्र अंशु के कानों को मारिश के शब्द जान पड़े और अनेक क्षण तक वह तीव्रता उसके कानों को व्याकुल कर मस्तिष्क को विजड़ित किये रही।

रत्नप्रभा के प्रासाद में अत्यन्त लोक प्रियता का सम्मान पाने के अवसर से कितने ही प्रणय निवेदन अंशुमाला ने सुने थे। उनसे साधारण विरक्ति सी अनुभव कर व्यवसायिक शिष्टाचार से उसने उन्हें टाल दिया था। वे प्रणय निवेदन आकर्षक नर्तकी अंशुमाला के प्रति थे और मारिश दिव्या को पहचान, दिव्या को ही स्पर्श कर रहा था। उसकी उपेक्षा सम्भव न थी। उस उपेक्षा से अधिक कठिन था, उस प्रणय निवेदन के यथार्थ को स्वीकार करना।

आकाश में चन्द्रमा मेघों से क्रीड़ा व्यस्त था। पृथ्वी पर वनस्पति मन्द वातास से क्रीड़ा रत थी। वातावरण तृप्त, उल्लसित झिल्ली और झींगुर की झंकार से व्याप्त था। अंशु मारिश के प्रणय निवेदन से संत्रस्त सिर झुकाये बैठी थी। कल्पना में उसे मारिश अपनी ओर भुजा फैलाये बढ़ता दिखाई दे रहा था। वह आत्मरक्षा के लिये संकुचित हो रही थी। मारिश वैसे ही बढ़ा आ रहा था जैसे एक दिन ऐसी आर्द्र रात्रि में पृथुसेन।·····वीभत्स स्मृति से अंशु के स्नायु शिथिल हो गये, मुख में कटुता भर गई। प्रणयी की शक्ति को उत्साहित करने के लिये नारी का आत्मरक्षा का मधुर भाव प्रतिहिंसा में परिणित हो गया। मस्तिष्क की मूढ़ता जाती रही। कण्ठ की आर्द्रता भी जाती रही।

उसके मुख पर विद्रूप की मुस्कान आ गई—"नर्तकी वेश्या अंशुमाला रसिकों के अनुराग-विनोद के लिये प्रस्तुत है। आर्य संतोष प्राप्त करें!

अंशुमाला के विद्रूप को न मान मारिश ने आग्रह किया—"नर्तकी वेश्या से अनुराग विनोद का नहीं नारी के सार्थक अनुराग का प्रार्थी हूँ!"

"नारी! वह तो मर चुकी आर्य"—सहसा मेघ से मुक्त हुई उज्ज्वल चन्द्रिका में मारिश के नेत्रों की ओर दृष्टि उठा अंशुमाला ने कहा—"आर्य को स्मरण है, तीन वर्ष पूर्व ग्रीष्म के एक संतप्त दिवस की

संध्या, नगर के दक्षिण उपान्त के मार्ग पर आर्य ने आँचल में सन्तान लिये वेश्या बनने के लिये तत्पर एक कंगाल नारी की भर्त्सना की थी—जा यमुना के शीतल तल में शरण ले! उसी संध्या उस नारी ने यमुना के शीतल तल में शरण ली थी परन्तु यमुना ने उसे उगल दिया। वह जल से नर्तकी वेश्या बन कर निकली।

"वेश्या के प्रति आर्य की उस घृणा के कारण वेश्या से अनुराग कर आर्य को क्या संतोष होगा? यह नर्तकी वेश्या अंशुमाला वही मृत नारी है। वह नारी दिव्या थी।"

विस्मयाहत हो मारिश ने मेघावृत्त चन्द्रमा के धूमिल प्रकाश में नेत्र फैला कर अंशु की ओर देखा। अंशु के नेत्र पुनः झुक गये। मारिश अनेक क्षण श्वास रोके उसी अवस्था में निश्चल रह गया।

विमूढ़ता दूर होने पर जब मारिश ने चेतना का दीर्घ निश्वास लिया, अंशु ने विनय के स्वर में चेतावनी दी—"रात्रि के दो प्रहर व्यतीत हो चुके हैं। आर्य, इस समय विश्राम करें!"

मारिश से विश्राम करने का अनुरोध कर अंशु उसके नेत्रों की निद्रा और मन का चैन छीन ले गई और अपनी निद्रा और चैन उसके हाथ सौंप गई। मारिश के अनुराग की प्रार्थना पर विद्रूप कर हिंसक पुरुष को अप्रतिभ करने की प्रतिहिंसा का सन्तोष उसने अनुभव किया। परन्तु शैय्या पर पहुँचने से पहले ही वह अपनी प्रतारणा करने लगी—क्यों उसने ऐसा किया? क्यों उसने सन्तानवती, प्रश्रय खोजती, कंगाल नारी की स्मृति मारिश के मस्तिष्क में जगाई? मारिश के अनुराग-आदर का यह प्रतिफल क्या उचित है? निराश्रय को आश्रय देने के लिये समवेदना और आदर से फैलाई गई बाहु के प्रति क्या यही उत्तर है?

आश्रय की आशा और संकेत का विचार आते ही उसके नेत्र मधुर शैथिल्य में मुंद जाते। आश्रय देने में समर्थ भुजाओं में अपने

आपको शिथिल कर देना ही उसके नारित्व की परम गति है। आश्रय को आकर्षित कर सकना ही उसके नारित्व की परम सार्थकता है। विरक्ति और वैराग्य की यंत्रणा से वहीं उसकी मुक्ति है।·····क्यों उसने आर्य का मन कुण्ठित किया। उसका मन चाहता था—रो दे। उसकी सार्थकता मारिश के हृदय में समवेदना और अनुराग जगा सकने में ही है। मारिश की विह्वलता ही उसके नारित्व की विजय है। वह उसे आश्रय दे सकती है। आह, ऐसे ही एक दिन पृथुसेन ने अत्यन्त विह्वल और असहाय हो उससे आश्रय मांगा था·····।

अंशु ने अनुभव किया, उसके शरीर पर स्वेद की तरलता छा गई है। उसने कोमल पृथुसेन, गम्भीर रुद्रधीर, माताल वृक और विश मारिश को अपनी ओर बढ़ते देखा और सोचा, नारी रूप से वह सभी पुरुषों के सम्मुख भोग्य है। यही उसका आकर्षण है,···भोग्या! अनेक करवटें ले उसने मन को समझाया—आश्रय के जाल में वह न फंसेगी।

उसने मन का उद्‌बोधन किया—उसके जीवन में विरक्ति भी क्यों हो?·····देवी मल्लिका की भाँति कला को आराधना जीवन का लक्ष्य बना वह अपना जीवन उसके अर्पण करेगी। पराश्रित और भोग्य न हो, वह आत्मनिर्भर बनेगी! उसने मन को सान्त्वना दी—उचित ही हुआ! उसने रक्षा पाई। तर्क ने माना परन्तु मन सन्तुष्ट और शान्त न हुआ।

अंशुमाला अस्वस्थ रहने के कारण दो दिन अपने कक्ष से न निकली। वह समाज में भाग न ले सकी। उसके मूक क्रन्दन का समाचार पा, रत्नप्रभा आकर घड़ी भर उसके पर्यंक पर बैठी और अंशु के सिर पर हाथ रखे वह सोचती रही—मन में रुके दुख ने सम्भवतः इस आघात से बहने का मार्ग पाया है।·····सम्भवतः हृदय से निरंतर दुख का भाव दूर हो, वह प्रकृतिस्थ हो सके।

मारिश भी अपनी वाचालता भूल, आत्मविस्मृत और चिन्ता मग्न रहा।

प्रायः एक पक्ष बीत पाया था। मध्याह्न से आरम्भ हुई घोर वर्षा सूर्यास्त के उपरान्त भी न थमी। रसिकों के लिये रत्नप्रभा के प्रासाद का मार्ग दुर्गम होगया। आलस्य का अवसर पा रत्नप्रभा अपने अलिन्द में विश्टर पर उपधान के सहारे बैठी थी। विमर्ष-विनोद के लिये उसने मारिश और अंशु को भी बुला भेजा। तिक्त मदिरा के प्रभाव से जड़ होते मस्तिष्क को सचेत करने के लिये रत्नप्रभा ने मारिश के लोकायत सिद्धान्त के प्रति जिज्ञासा की—"मित्र, यदि मृत्यु जीवन का पूर्णान्त है, इस लोक और परलोक में किसी दूसरे जन्म अथवा जीवन की आशा नहीं तो इस जीवन के प्रति भी उत्साह व्यर्थ है। यह जीवन केवल एक आकस्मिक घटना मात्र है कारण रहित, परिणाम रहित, हुआ, हुआ! न हुआ, न हुआ!"

रत्नप्रभा का प्रश्न अपनी विरक्त मानसिक स्थिति के अनुकूल अनुभव कर अंशुमाला ने जिज्ञासा से मारिश की ओर नेत्र उठाये—"क्या स्वामिनी सत्य नहीं कह रही!.....नश्वर और निस्सार में क्या तत्व!"

प्रश्न के प्रति विशेष उत्साह न प्रकट कर मारिश ने उत्तर में संक्षेप से और उपेक्षा के स्वर में प्रश्न किया—"स्वयम मृत्यु अनुभव किये बिना हम मृत्यु को निश्चय रूप से कैसे जानते हैं!"

"अपने ही समान दूसरे जीवों की मृत्यु देखकर, आर्य"—उपधान का आश्रय लिये रत्नप्रभा ने उत्तर दिया।

"इसका अर्थ है, हम भी उसी जीव परम्परा का अङ्ग मात्र हैं।" मारिश ने पुनः प्रश्न किया।

"निस्सन्देह!"—रत्नप्रभा ने स्वीकार किया।

"जीव और समाज की यह परम्परा हमारे जन्म के अस्तित्व से पूर्व थी और उसके पश्चात् भी रहेगी!"—अपने श्रान्त नेत्र रत्नप्रभा के नेत्रों में गड़ा कर फिर मारिश ने प्रश्न ही किया।

"यह भी सत्य है !"—रत्नप्रभा ने स्वीकार किया।

"तो फिर मरना जीना व्यक्ति का है। जीव और समाज की परम्परा मनुष्य की कल्पना की सीमा तक अमर है व्यक्ति के जीवन का कारण और परिणाम इसी परम्परा में है।"

"यह सत्य है मित्र, परन्तु मृत्यु भय का कारण है, यह भी अनुभूत सत्य है। उस भय से मुक्ति पाये बिना जीवन से अनुराग व्यर्थ है, नहीं क्या ?" रत्नप्रभा ने मुस्करा दिया।

"तो क्या अमर होने से जीवन निर्भय और सुखमय हो सकेगा ?" मारिश के नेत्रों में विनोद का भाव आ गया।

"अमरता की कामना स्वाभाविक है। ब्रह्मज्ञानियों ने उसी को परमसुख कहा है। वही अभय है।"

उपधान का आश्रय छोड़, सीधे बैठ मारिश ने प्रश्न किया—"देवी, सजीव और निर्जीव में क्या अन्तर है ?"

पल भर विचार कर रत्नप्रभा ने कहा—"सजीव गतिमान है और निर्जीव गतिहीन अथवा जड़।"

"सत्य है,"—मारिश ने स्वीकार किया—"और गति का अर्थ है, एक समय और स्थान से दूसरे समय और स्थान में प्रवेश करना अर्थात्, परिवर्तन ! यह परिवर्तन ही गति है। गति ही जीवन है। अमरता का अर्थ है—अपरिवर्तन, गतिहीनता। देवी, यदि सूर्य जैसे और जहाँ है, वहीं स्थिर हो जायँ ? यदि जल वायु जैसे और जहाँ है, सब स्थिर और अपरिवर्तनशील हो जाँय, सम्पूर्ण प्रकृति जड़ हो जाय ? तो क्या जीवन काम्य और सुखमय होगा ?

रत्नप्रभा और अंशुमाला के नेत्रों में विस्मयजन्य स्तब्धता देख मारिश बोला—"देवी यदि सब परिवर्तन काम्य हैं तो मृत्यु भी परिवर्तन के क्रम का अंग है। जीर्ण के स्थान में नवीन का आना !"

आलस्य के भाव से मुस्कराकर रत्नप्रभा ने स्वीकार किया–"आर्य ने कठोर सत्य को और कठिन बना दिया। यदि अनुमति हो····· विश्राम की इच्छा है!"

रत्नप्रभा के चले जाने के कुछ क्षण पश्चात् मारिश बोला–"यदि भद्रे को अप्रीतिकर न हो, उस संध्या के प्रसंग में निवेदन करना चाहता हूँ।"

"आर्य को जैसा इष्ट हो!"–विनय से अंशु ने उत्तर दिया।

"उस प्रसंग पर भद्रे ने विचार किया?"

"अनेक बेर आर्य, बहुत समय तक; प्रायः निरंतर।"

"भद्रे की क्या भावना है?"

"आर्य मैं त्रस्त हूँ। जीवन की सार्थकता मेरे भाग्य में नहीं। यह जीवन स्वामिनी की सेवा में, समर्थ भाग्यशालियों के विनोद के लिये कला की सेवा को उपजीविका में, व्यतीत हो जाय।"

जीवन के प्रति अंशुमाला की विरक्ति और वैराग्य से मारिश का समवेदना पूर्ण हृदय द्रवित हो उठा। उसके कातर नेत्रों की व्यथा से बचने के लिये वर्षा कणों के शेखरों से पूर्ण अंबर की ओर दृष्टि कर वह स्वगत जैसा बोला–"कला, कला क्या है?" और स्वयम ही उसने उत्तर दिया–"कला केवल उपकरण मात्र है। जीवन की पूर्ति का उपकरण और साधन मात्र। उसकी उपयोगिता जीवन की पूर्ति में ही है। जीवन से विरक्ति और जीवन के उपकरण से अनुराग का क्या अर्थ?·····किसी का जीवन अन्य की तृप्ति और जीवन की पूर्ति का साधन मात्र हो कर रह जाय? वह जीवन सृष्टि में अपनी सार्थकता से, सृष्टि में नारी के जीवन की मौलिक सार्थकता से वंचित रह जाय!···जैसे सेवा के साधन दास का जीवन!···भयंकर प्रवंचना!"

अपनी समस्या पर निरंतर चिन्तन करने से अंशुमाला का

मस्तिष्क उलझ रहा था। रूप लोलुप व्यसनी रसिकों के आग्रह से उसे भय न था। परन्तु मारिश की समवेदना उसे परास्त और अवश सा किये दे रही थी। वह परास्त और विचलित न होने का निश्चय कर चुकी थी। फैले नेत्रों में कातरता का भाव होने पर भी उसने जिज्ञासा की–"सृष्टि में नारी के जीवन की मौलिक सार्थकता से आर्य का अभिप्राय ?"

अंशु के साहस से तनिक अप्रतिभ; अनुभव कर उसके नेत्रों में देख मारिश ने उत्तर दिया–"भद्रे, नारी सृष्टि का साधन है। सृष्टि की आदि शक्ति का क्षेत्र ! वह समाज और कुल का केन्द्र है। पुरुष उसके चारों ओर घूमता है ; जैसे कोल्हू का बैल !"

मारिश की बात से अंशु की स्मृति में मधुपर्व उत्सव में उसकी सफलता और उस सफलता पर मारिश की स्तुति ने पुनः सजीव हो उसे अधीर कर दिया। मन के आवेग का निग्रह कर उसने पुनः कहा–"आर्य वह सब नारी के जीवन की सार्थकता अवश्य है। वह नारी की दुर्दमनीय प्रकृति और स्वभाव भी है। परन्तु उस सार्थकता को नारी पा सकती है केवल अपने अस्तित्व के मूल्य में। ·····केवल पुरुष की भोग्य बन कर ! स्वयम् दूसरे के लिये भोग्य बन कर कोई स्वयम् क्या सार्थकता पायेगा आर्य ?"

रक्त का वेग बढ़कर अंशुमाला के मस्तक पर स्वेद छलक आया और स्वर में तीव्रता आ गई। संध्या और मेघ की श्यामला के कारण मारिश अंशु की उत्तेजना न जान सका। केवल स्वर की तीव्रता से ही उसे संतोष हुआ कि अंशु ने उसके कथन को ग्रहण किया।

अनेक क्षण विचार मग्न रह मारिश पुनः बोला–"भद्रे, का कथन अंशतः सत्य है और अंशतः असत्य।" विचार की गम्भीरता के कारण उसका स्वर संयत था–"कल्याणी, अनेक परस्पर विरोधी तत्वों का समुच्चय ही जीवन है। एक ही प्रयोजन से मनुष्य परस्पर विरोधी

व्यवहार करता है। नारी के प्रति अनुराग से, उसके आश्रय की कामना से ही पुरुष उसे अपने आधीन कर आत्मनिर्भर नहीं रहने देता। नारी प्रकृति के विधान से नहीं समाज के विधान से भोग्य है। प्रकृति में और समाज में भी स्त्री और पुरुष अन्योन्याश्रय हैं। पुरुष का प्रश्रय पाने से ही नारी परवश है। परन्तु भद्रे, नारी के जीवन की सार्थकता के लिये पुरुष का आश्रय आवश्यक है और नारी पुरुष का आश्रय भी है।"

उत्तेजित स्वर में अंशुमाला ने पुनः उत्तर दिया—"आर्य, इस प्रश्रय में नारी के जीवन की सार्थकता क्या है; पुरुष द्वारा उसका भोग और उपयोग ? जैसे पान की इच्छा होने पर पान पात्र की सार्थकता है। आर्य, उस प्रश्रय की इच्छा न करने पर ही नारी स्वतंत्र है। वेश्या स्वतंत्र नारी है।" उसके श्वास की गति तीव्र हो गई और वह मेघों की ओर दृष्टि किये मारिश की ओर देखने लगी।

अंशु को उत्तर देने के लिये मारिश ने उसकी ओर दृष्टि की और उत्तेजनाहीन, गम्भीर स्वर में प्रश्न किया—"भद्रे, वेश्या की, जनपद-कल्याणी की स्वतंत्रता की सार्थकता क्या है ? अपनी स्वतंत्रता से वह क्या प्राप्त करती है ? देवी रत्नप्रभा ने क्या पाया ? यदि कुलवधु एक पुरुष की भोग्य है तो जनपदकल्याणी वेश्या सम्पूर्ण जनपद और समाज की तृप्ति का साधन है। वह जन को कामना का संकेत देती है और उसके मूल्य में जीवन के भोगों का साधन केवल धन पाती है·····इसके अतिरिक्त और क्या ? वेश्या के जीवन की गति अर्थात् काम का उत्तेजक साधन है परन्तु परिणाम में स्वयम् उसका काम अर्थहीन और वंचित रहता है। उसकी कला दूसरों के जीवन में वासना की पूर्ति के अनुष्ठान के रूप में उपयोगी है। परन्तु वह स्वयम् क्या पाती है ? वह काम के यज्ञ का साधन मात्र है। वह स्वयम् पूर्ति के हविष्य से वंचित है। उसकी स्वतंत्रता का भोग जन करता है, वह स्वयम् नहीं। वह केवल वंचना पाती है।"

अंशु ग्रीवा झुकाये मारिश के उत्तेजना रहित परन्तु कठोर शब्दों

को सुनती रही। उसका परास्त और विचलित न होने का निश्चय तथ्य जान पड़ते तर्क के सम्पर्क से, जल की शीतल धारा से कटकर नदी में गिरते रेत के कगार की भाँति प्रवाह में गिरा पड़ रहा था और जैसे वह मारिश की प्रतीक्षा में खुली आश्रय के लिये आमंत्रित करती भुजाओं में गिर पड़ा चाहती है। प्रकाश की न्यूनता में शरण पाये, वह ओठ दबाये बैठी रही। नेत्रों में आ गई आर्द्रता वह मारिश के सम्मुख प्रकट न होने देना चाहती थी। इस कारण नेत्र पोंछ लेने की भी सुविधा न थी। ग्रीवा झुकी रहने के कारण वह यह भी न जान सकती थी, मारिश उसकी ओर देख रहा है अथवा मेघों की ओर ?

अलिन्द में सहसा प्रकाश होगया। प्रकाश हाथ में लिये दासी दग्धा ने आ निवेदन किया—"स्वामिनी भोजन के लिये आर्य और देवी की प्रतीक्षा कर रही हैं।" निराश्रय मँझधार में बही जाती अंशु ने त्राण पाया।

इससे पूर्व अनेक बेर देवी रत्नप्रभा के प्रासाद में अतिथ्य ग्रहण करने पर उच्छृङ्खल मारिश कभी इतने दिन टिक न पाया था। विरक्त और मौन बने रहकर वायु में हिलते वृक्षों के पत्र देखते रहने से उसका समय न कटा। प्रासाद के उद्यान में मौलश्री वृक्ष के नीचे, जलकुण्ड के समीप एक शिलाखण्ड ले उसने मूर्ति गढ़ना आरम्भ किया। भाद्रपद के मेघरहित आकाश के प्रचण्ड सूर्य की किरणों में माथे से स्वेद की धारायें बहाते और वर्षा में भीगते वह हथौड़ा और छेनी लिये विशाल शिलाखण्ड में अपनी कल्पना का रूप निखारने के कठोर परिश्रम में व्यस्त रहने लगा।

रत्नप्रभा कभी प्रातः और कभी संध्या, नित्य ही उस शिलाखण्ड में आते परिवर्तन को देखने जाती। रत्नप्रभा के पूछने पर मारिश उत्तर देता—"अपनी कल्पना को, मन के सत्य को चरितार्थ कर रहा हूँ।"

मारिश को सम्बोधन करते समय रत्नप्रभा के ओठों पर और नेत्रों में

प्रकट मुस्कान के पीछे हृदय में वेदना का एक शूल-सा खटकता रहता। जीवन के सम्पूर्ण प्रयत्न से उसने जनपदकल्याणी की प्रतिष्ठा और वैभव का मन्दिर खड़ा किया था। परन्तु इस मन्दिर में अर्चना के देवता का स्थान शून्य ही रह गया। इस अभाव से उस वैभव और सफलता की कुछ सार्थकता न हो पाई। क्या मारिश पुरुष देवता के रूप में उस अभाव को पूर्ण नहीं कर सकता?

परन्तु पुरुष के देवत्व की भिक्षा मारिश से माँग वह उसे क्या देगी? अपना ऊसर वार्धक्य? उस उच्छृङ्खल युवक पर अब वह केवल अपना वात्सल्य ही निछावर कर सकती थी। और अंशुमाला?..... कछुये की भाँति अपने आप में सिमटी वह अनुराग के प्रहारों को सह रही थी। इस चतुर आखेटक ने उसके मर्म स्थान पर चेतना का बाण मार उसे व्याकुल कर दिया। आत्म-रक्षा के लिये वह गहरे जल के एकान्त में छिपकर त्राण खोज रही है! मूर्ख, रत्नप्रभा मन-ही-मन दुलार से कहती—श्वास रोके कब तक तू गहन तल के एकान्त में पड़ी रहेगी? तेरे सम्मुख जीवन का मार्ग है। और तेरी प्राण शक्ति तुझे उस ओर ले जा रही है। स्वयम् अपने से तू कब तक युद्ध करेगी? जाने नक्षत्रों की क्या इच्छा है?

परास्त और विचलित न होने का निश्चय किये अंशु अपने आपसे लड़ रही थी। मध्याह्न की नीरवता में अपने कक्ष में अकेली रहने पर मारिश के छेनी और हथौड़ा लेकर शिलाखण्ड पर निरंतर आघात करने का शब्द सुनाई देता रहता। उसे अनुभव होता, वह प्रहार स्वयम् उसके अपने हृदय पर हो रहे हैं। फिर भी उन्हें सुनने की प्रवृत्ति होती। कोई आक्रोश या प्रतिहिंसा उन प्रहारों के प्रति उसमें न थी। उसे आक्रोश था, अपने प्रति। क्यों वह विचलित हो रही है?

उस दिन मेघाच्छन्न शीतल दिवस में भी मारिश शिलाखण्ड

और अपने यंत्रों को भुलाये निश्चेष्ट बैठा था। रत्नप्रभा ने जिज्ञासा की—"आयुष्मान, आज कला से विरक्त क्यों हैं?"

"देवी, वह भाव पूर्ण होगया।"—मारिश के उत्तर से रत्नप्रभा विस्मित रह गई। बीच में केवल एक ही दिन वह उस शिलाखण्ड के समीप न जा सकी थी। उसने सोचा—इतने अल्प समय में वह विशाल शिलाखण्ड किस चमत्कार से मूर्ति में परिणित होगया होगा?

"क्या आयुष्मान कला का वह उत्कृष्ट रत्न स्वयम् चल कर दिखायेंगे?"—उसने मारिश से आग्रह किया।

मारिश के अनुमति प्रकट करने पर रत्नप्रभा ने दासी दम्पा को आदेश दिया—"सखि अंशुमाला को और मुक्तावली को भी आयुष्मान की कलाकृति का दर्शन-सुख पाने के लिये निमंत्रित करो!"

जलकुण्ड के समीप खड़े शिलाखण्ड को रत्नप्रभा, अंशुमाला और मुक्तावली ध्यान से देख रही थीं। शिलाखण्ड का ऊपर और नीचे का भाग अछूता था। केवल मध्य में, दक्षिण के आधे भाग में, जैसे गवाक्ष खोल कर नारी का पार्श्व पूर्ण यौवन से उन्नत एक स्तन और त्रिवली पर भीतर झुक, कटि पर वर्तुल में फैलता उदर दिखाई दे रहा था। रत्नप्रभा अपनी सखियों सहित अनेक क्षण चिबुक पर तर्जनी रखे ध्यान से उस कृति का मनन करती रही और मारिश भी मौन खड़ा रहा।

"आयुष्मान!"—रत्नप्रभा ने सम्बोधन किया—"क्या यह कृति पूर्ण है?"

"देवी मेरे मत से यह पूर्ण है।"—मारिश ने उत्तर दिया।

रत्नप्रभा ने मुस्कान से आग्रह किया—"आयुष्मान मेरे मत में यह नारी का अङ्ग मात्र है; पूर्ण नारी नहीं।"

"अपने रूखे केशों में अंगुली से खुजा कर मारिश ने उत्तर दिया—"देवी का कथन उचित है। परन्तु यही अङ्ग नारी के नारित्व

को सार्थकता के लिये पुरुष का आह्वान करता है और फिर उस फली-भूत सार्थकता का पोषण करता है। यही नारी है देवी।"

रत्नप्रभा ने गम्भीर मारिश की ओर मुस्कान से देखा—"आयुष्मान, पाषाण के चिरस्थायी स्वर में यह नारी के जीवन का सूत्र है।" उसके स्वर में स्तुति थी। मुक्तावली ने लजाकर ओठों पर आगई मुस्कान छिपाने के लिये मुख फेर लिया। अंशु ध्यान से शिलाखण्ड में कटे गवाक्ष की ओर देखती रही। उसके कान में मारिश के वे ही शब्द गूँज रहे थे—"···जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।"

रात्रि में अंशु पुनः अनिद्रा से पर्यंक पर करवटें ले उभरे उरोजों के नीचे अधीर होते हृदय को दोनों हाथों से सम्भाले, जीवन की सार्थकता और उस सार्थकता के मूल्य की मीमांसा करती रही। प्रत्येक कुछ क्षण पश्चात् दीर्घ निश्वास ले वह निश्चय करती, वह अविचलित रहेगी।

दूसरे दिन प्रातः, रात्रि में अनिद्रा के कारण मस्तिष्क पर छागई जड़ता से मुक्ति पाने के लिये अंशु सूर्योदय के समय ही अपने कक्ष से उठ उद्यान में फूले कदम्ब के नीचे जा बैठी। मारिश को अपनी ओर आते देख उसे अपने ऊपर क्रोध अनुभव हुआ परन्तु शालीनता से उसने अभ्यर्थना की—"आर्य का मन और शरीर स्वस्थ है?"

कदम्ब वृक्ष के तने का आश्रय ले मारिश अंशु के समीप खड़ा होगया। उसके नेत्र अनिद्रा के कारण आरक्त और उभरे हुए थे। अंशु के बोझल और श्रान्त नेत्रों की ओर देख उत्तर में उसने प्रश्न किया—"भद्रे, क्या मन की दुविधा वश करने के प्रयत्न में अनिद्रा जनित शैथिल्य से मुक्तिलाभ करने की चेष्टा में हैं?"

"आर्य का अनुमान सत्य है।"—मुस्कान का शिष्टाचार भूल अंशुमाला ने गम्भीरता से स्वीकार किया।

"परन्तु भद्रे, समस्या का समाधान हुये बिना दुविधा का अन्त

नहीं होता। समस्या है, प्राणों और जीवन की स्वाभाविक गति और प्रवृत्ति। आत्महनन समस्या का समाधान नहीं है।"

"आर्य परन्तु मेरे लिये आत्महनन के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं"—निरुत्साह से अंशु ने उत्तर दिया।

"इस निश्चय का कारण भद्रे !"—

"आर्य, मैं त्रस्त हूँ। अपने जीवन के अनुभवों से त्रस्त हूँ !"—अंशु के नेत्रों और स्वर में कातरता आगई।

कदम्ब के वृक्ष का आश्रय छोड़ अपने पाँव पर खड़े हो मारिश बोला—भद्रे, जीवन का कोई अनुभव स्थायी और चिरंतन नहीं। जीवन की स्थिति समय में है और समय प्रवाह है। प्रवाह में साधु-असाधु, प्रिय-अप्रिय सभी कुछ आता है। प्रवाह का यह क्रम ही सृष्टि और प्रकृति की नित्यता है। जीवन के प्रवाह में एक समय असाधु-अप्रिय अनुभव आया, इसलिये उस प्रवाह से विरक्त होकर जीवन की तृषा तृप्त न करना केवल हठ है।"

"आर्य उस प्रयत्न में विफल हो चुकी हूँ।"—

"भद्रे, जिन परिस्थितियों में वह प्रयत्न विफल हुआ, वह शाश्वत न थीं। और फिर प्रयत्न जीवन का लक्षण है। जीवन के एक प्रयत्न या एक अंश की विफलता सम्पूर्ण जीवन की विफलता नहीं है भद्रे !"

मारिश को उत्तर की प्रतीक्षा में मौन देख अंशुमाला झुके हुये नेत्र उसकी ओर उठा बोली—"आर्य, यह भी सत्य है परन्तु मैं त्रस्त हूँ। प्रश्रय के मूल्य जीवन की सार्थकता नहीं चाहती। जीवन की विफलता में भी मुझे वेश्या की आत्म-निर्भरता स्वीकार है। आर्य, यही मेरा निश्चय है।"—अपने आपको नितान्त अवश अनुभव कर उसने उत्तरीय से नेत्र ढक, ग्रीवा झुका ली।

एक दीर्घ निश्वास से अपने आपको संयत कर मारिश ने कहा—"भद्रे, सुख पाने और सुख देने की आशा से तुम्हें क्लेशित किया।

देवी का निश्चय जान आज मारिश मथुरापुरी से प्रस्थान कर जायगा। भद्रे उसका शुभ संकल्प स्वीकार करें।

* *

मारिश को मथुरापुरी से गये डेढ़ वर्ष व्यतीत होगया। रत्नप्रभा प्रायः उसके प्रसंग से बात करती। अंशु ने वार्तालाप में उस स्मृति को कभी न जगाया। शनैः-शनैः उसके प्रकट व्यवहार में परिवर्तन आने लगा। निरंतर अवसाद की जड़ता से मुक्ति पा कला के अध्यवसाय में वह विशेष उत्साह पाने लगी। उस वर्ष वृन्दावन के दोलोत्सव में उसने गुरुपूजा के अभिनय में नृत्य-संगीत का एक नवीन समन्वय 'सरस्वती-मल्लिका' नाम से उपस्थित किया। उसकी ख्याति जनश्रुति की लहरों पर दूर देशों की ओर फैलने लगी।

मथुरापुरी के रसिक समाज ने संतोष अनुभव किया—"नगर की शोभा, जनपदकल्याणी रत्नप्रभा के उद्यान में कला की अस्फुट कलिका अंशुमाला अपने दल विकसित कर सौरभ उन्मुक्त करने लगी। सुन्दर देश सागल में स्थित कला की अधिष्ठातृ सरस्वती मल्लिका की उन्होंने केवल कीर्ति सुनी थी। अंशुमाला को वे स्वयम् देख रहे थे। अंशुमाला से अधिक सरस कला की कल्पना उनके लिये सम्भव न थी।

निराशा और विरक्ति में बीतने वाला अंशुमाला का एकान्त समय कला के रहस्यों के चिन्तन और साधना में बीतने लगा। वह मारिश की स्मृति से मुक्ति पाने का संघर्ष न करती। जैसे तात, प्रबुद्धशर्मा, धाता और छाया की स्मृति थी वैसे ही मारिश की भी। उनसे कुछ अधिक समीप। कभी वह आशा करती, पुनः आने पर आर्य देखेंगे, मैंने जीवन में संतोष का एक अवलम्ब पाया है।

शिशिर के आरम्भ में एक दिन एक रात्रि के पहले पहर की समाप्ती पर समाज का अन्त हुआ। नृत्य के श्रम से छलक आये स्वेद-बिन्दुओं पर शीतल वायु का सुखद स्पर्ष पाने के लिये अंशुमाला

चतुश्शाल से निकल शुक्लपक्ष की चाँदनी में चटके मालतीकुञ्ज की ओर चली गई। कुछ समय पश्चात् एक दासी ने आकर निवेदन किया—"देवी, एक विदेशी अभ्यागत साक्षात्कार के लिये चतुश्शाल में इस समय तक प्रतीक्षा कर रहा है।"

अंशु की कल्पना में मारिश की स्मृति कौंध गई। परन्तु दासियाँ आर्य मारिश से परिचित थीं। सूने होगये चतुश्शाल में अभ्यागत दीप के प्रकाश में अकेला बैठा प्रतीक्षा कर रहा था। अलिन्द से ही सविनय अभिवादन कर समीप जा अंशु ने ध्यान से देखा, विस्मय से मुक्त रह गये। उसके ओष्ठों से निकला—"आर्य रुद्रधीर।"

अनेक आकृतियों में मँडरा कर घिर आये अतीत स्मृतियों के मेघों से अंशुमाला का मस्तिष्क और दृष्टि कुछ क्षण के लिये धुँधली हो गई। प्रकृतिस्थ हो उसने प्रश्न किया—"आर्य कुशल क्षेम से हैं? तात् बंधुवर्ग और कुल नारियाँ कुशल हैं? आर्य ने इस नगरी पर कब कृपा की?"

अंशुमाला की शिष्टाचार की मुस्कान का प्रभाव रुद्रधीर की गम्भीरता पर न पड़ा। उसने उत्तर दिया—"भद्रे को स्मरण होगा, धर्मास्थान से पाये दो सहस्र दिवस के निर्वासन-दण्ड के कारण इतने काल तक मैं सागल में नहीं, मद्र की सीमा से दूर, शूरसेन देश लांघ कर मगध में था। इस व्यवधान में केवल संवाद द्वारा ही सागल का वृत्तान्त जान पाया हूँ। मगध प्रवास के समय देवी अंशुमाला की ख्याति सुन, स्वदेश के मार्ग में देवी के दर्शन की इच्छा से चला आया। जो देख रहा हूँ, कल्पनातीत था।"

रुद्रधीर के संकेत से मन पर आते अवसाद का प्रतिकार कर और मुख पर मुस्कान बनाये रखने का यत्न कर अंशुमाला ने उत्तर दिया—"आर्य, स्रोत से निकलते समय जल नहीं जानता किस दिशा में, किस नदी और किस सागर में वह बह जायगा।"

अंशुमाला की तटस्थ सरलता से कुण्ठित हो, उसका मन कुरेदने के अभिप्राय से रुद्रधीर ने कहा—"दास-पुत्र पृथुसेन और गणपति की पौत्री सीरो के विवाह का समाचार मगध में सुना था और कुमारी के विषय में अकाल मृत्यु का अपवाद भी। क्या यह भद्रे का उसी शरीर में पुनर्जन्म है ?"

अंशुमाला विचलित न हुई—"आर्य का अनुमान सत्य है।"—उसने मुस्करा दिया। अंशु की तटस्थता रुद्रधीर के लिये असह्य हो गई।

"ऐसा ही होगा"—उसकी ग्रीवा झुक गई। और फिर सहसा नेत्र उठा अंशु के नेत्रों में देख वह बोला—"प्रपौत्री के शोक में तात धर्मस्थ के स्वर्गारोहण का संवाद भी सुना था।"—स्वयम ही लज्जा अनुभव कर उसकी दृष्टि पुनः झुक गई और क्षीण स्वर में उसने कहा—"तात् आचार्य भी उदर-रोग से संसार मुक्त हो चुके हैं।"

अंशुमाला कुछ क्षण मौन रह गई। उसका स्वर आर्द्र हो गया—"तात आचार्य और तात धर्मस्थ अत्यन्त वत्सल थे। वे सभी के प्रिय थे। वे देवताओं के आदर के योग्य थे। इसलिये स्वर्ग में भी उनका आह्वान हुआ।.....आर्य को विदेश में और यात्रा में असुविधा तो नहीं हुई ?.....मगध साम्राज्य की राजधानी है। उसकी विशेष ख्याति और महिमा है परन्तु मातृभूमि का आकर्षण स्वभावतः प्रबल होता है। स्वदेश के लिये आर्य की यात्रा मंगलमय हो !"

चिरकाल पश्चात सहसा दिव्या को देख जैसा भावोद्रेक रुद्रधीर ने अनुभव किया, वैसा आवेग दिव्या के व्यवहार में न था। वह मन ही मन अत्यंत अनुत्साहित और कुण्ठित हो रहा था। वह परिस्थिति टालने के लिये उसने कहा—"इस समय विलम्ब हो जाने के कारण भद्रे अवकाश दें। यदि मथुरापुरी में कुछ समय रहा तो पुनः दर्शन की इच्छा करूँगा।"

"कृपा होगी आर्य!"—हाथ जोड़ विनीत शिष्टाचार से अंशुमाला

ने उत्तर दिया—"अभ्यागतों का अनुग्रह ही इस प्रासाद का सौभाग्य है। दासी प्रतीक्षा करेगी।"

मथुरापुरी में रुद्रवीर ने महापण्डित, आचार्य सुचित्त के प्रासाद में आतिथ्य ग्रहण किया था। मगध में ही शूरसेन की जनपदकल्याणी रत्नप्रभा की शिष्या अंशुमाला की ख्याति सुन कौतूहल से देवी का दर्शन करने वह रत्नप्रभा के प्रासाद में गया। वहाँ अकस्मात अपने विश्वास में मृत दिव्या को सजीव पा दिव्या के प्रति उसका अतीत अनुराग सहसा उमड़ आया। परन्तु दिव्या के व्यवहार में शिष्टाचार का आवरण लिये विरक्ति से वह हतप्रतिभ अनुभव कर रहा था। अंशुमाला की निसंकोच शालीनता उसे वेश्या का व्यवसायिक शिष्टाचार जान पड़ा जो कुलकन्या के लिये निर्लज्जता और धृष्टता थी। अनुराग और विरक्ति के द्वन्द से उसका मस्तिष्क विक्षिप्त हो उठा।

रत्नप्रभा के समाज में दिव्या को पहचान रुद्रवीर अनेक क्षण विस्मय से जड़वत रह गया। मस्तिष्क सुस्थ होने पर सागल का अतीत जीवन उसकी कल्पना में सजीव हो उठा। अंशुमाला और मुक्तावली का नृत्य और रत्नप्रभा का संगीत उसके लिये निरर्थक और निष्प्रयोजन था। अपनी कल्पना में वह तात धर्मस्थ तथा अन्य सामन्तगण के प्रासादों और देवी मल्लिका के समाज में स्थान-स्थान पर दिव्या को देखने लगा।

अब वह फिर उसी सागल की ओर लौट रहा था। म्लेछों, दासों और शूद्रों के हाथ से मद्र के द्विजकुल की राज्यलक्ष्मी का उद्धार करने की उसकी प्रतिज्ञा थी। उस मार्ग में मद्र के द्विजकुल के अपमान के संकेत, दासपुत्र पृथुसेन द्वारा वंचित प्रताड़ित दिव्या का उद्धार कर वह पृथुसेन और मद्र के जन-समाज को दिखायेगा, विजय किसकी है।

परन्तु दिव्या के व्यवहार और शब्दों ने उसकी कल्पना के प्रासाद की भित्ति ढहा दी। मन में उमंग उठी आशा को दीर्घ निश्वास से

निकाल फेंकने का यत्न कर वह मन को समझाने लगा—जिस संकोच-शील, भीरु कुलकन्या कुमारी दिव्या की कामना उसने की थी, वह संसार से लोप हो चुकी है। परन्तु प्रत्यक्ष देखे सत्य को उसका यह मानसिक प्रयास परास्त न कर सका।

महापण्डित, आचार्य सुचित्त के विशाल प्रासाद में मध्यरात्रि की देव पूजा के अनुष्ठान में घंटा, घड़ियाल और शंख का नाद हो नीरवता छा गई। अपनी निद्रा के प्रतिकार के लिये पहरियों की सचेत और सावधान रहने की ललकार के अतिरिक्त और कोई शब्द सुनाई न देता था। उस ललकार की रक्षा में, विशाल प्रासाद के प्रत्येक कक्ष से उठ निद्रागतों का समश्वास आकाश में भर रहा था। परन्तु रुद्रधीर के नेत्रों में निद्रा न थी। गृहपति के विशेष अनुगृहीत आयोजन से अत्यन्त कोमल पर्यंक पाकर भी वह मानसिक उलझन के कारण करवटें ही ले रहा था। निद्रा के सभी संचारी उपकरण व्यर्थ हो रहे थे। सुस्वादु भोजन, और सौरभ पूर्ण, मधुर सुरा उसे रुचि नहीं। यात्रा से श्रान्त शरीर ने कोमलांगी, सेवाचतुर दासी द्वारा सेवा पाकर भी विश्राम अनुभव न किया।

अतीत की उपेक्षा कर दिव्या का व्यवसायिक शिष्टाचार बेर-बेर स्मरण हो आता। बेर-बेर उसके शब्द मस्तिष्क में जाग उठते—"अभ्यागतों का अनुग्रह ही इस प्रासाद का सौभाग्य है। दासी प्रतीक्षा करेगी।" साधारण अभ्यागत के प्रति आदर का यह व्यवहार रुद्रधीर को अपना असह्य उपेक्षा और अपमान अनुभव हुआ। इन शब्दों में वेश्या का आत्मा और उसकी वृत्ति की प्रतिध्वनि गूँज रही थी। कोमल, पुनीत कुलकन्या दिव्या के मृत शरीर पर उसे वारांगना अंशुमाला ताण्डव करती दिखाई दे रही थी। भ्रान्ति से कुमार्ग पर पड़ गये अपने पदों को लौटा कर वह अपने ध्येय की ओर चलने के लिये मन को समझा रहा था।

आचार्य सुचित्त की गोष्ठी में उसने अंशुमाला की विशेष स्तुति सुनी। वेश्या के गुणों को कुल नारी के लिये अपवाद स्वरूप ग्रहण कर वह मन को समझा रहा था, वेश्या है, वेश्या। मोहन उसका व्यवसाय है। परन्तु वृद्ध आचार्य के पुत्र, उसके समवस्यक अनिरुद्ध ने अंशुमाला के प्रति विरक्ति से कहा था—"अंशुमाला दूर से देखने की वस्तु है। वह कला की काष्ठ पुतलिका है। उसका भाव-विलास केवल कला का अनुष्ठान है। वह निर्लिप्त नर्तकी है। वह कला की भृत्ति करती है। मन को संतोष देने वाली वेश्या नहीं।" अंशुमाला के प्रति अपवाद के इस आघात ने रुद्रधीर के कानों पर पड़, अनिच्छा होने पर भी इसे जागने के लिये विवश कर दिया और उसकी कल्पना में सिसकती अंशुमाला के शव पर छली दासपुत्र द्वारा पीड़ित और त्रस्त पुनीत कुमारी दिव्या अपने सौम्य रूप में उठ खड़ी हुई। रुद्रधीर विचलित हो उठा।

यात्रा की श्रान्ति दूर करने के लिये मथुरापुरी में केवल दो दिवस विश्राम करने का निश्चय रुद्रधीर ने किया था। परन्तु एक पक्ष पूरा बीत गया। नित्य वह संध्या समय रत्नप्रभा के प्रासाद में जा समाज में सम्मिलित होता। समाज के पश्चात् भी प्रासाद में विलम्ब कर वह अंशुमाला से वार्तालाप करता। अंशुमाला विनीत शिष्ट और निस्संकोच आदर के लिये प्रस्तुत रहती। आत्मीयता से शून्य शिष्टाचार से पूर्ण अंशुमाला का व्यवहार रुद्रधीर के लिये संतोष का नहीं, व्यथा का ही कारण था। वह सागल के प्रासादों में, समाज के समय अपने सम्मुख आजाने से, भाव में संकोच की भीरुता, नेत्रों में लज्जा की कातरता ले ग्रीवा झुका देने वाली दिव्या के व्यवहार में पुनः अपनी तेजस्विता की स्वीकृति देख पाने के लिये व्याकुल और व्यग्र हो रहा था।

रुद्रधीर के विचार और कल्पना में अतीत की स्मृति के सम्बंध से

अंशुमाला के समीप उसका विशेष स्थान और अधिकार था। परन्तु रत्नप्रभा के समाज में सम्मिलित होने वाले शतशः अभिजात वंशीय प्रतिष्ठितों में वह केवल एक साधारण व्यक्ति ही था। अधिक द्रव्य भेंट कर सकने वाले अतिथियों का आदर अपनी अपेक्षा अधिक देखना, उसकी तेजस्विता का निरादर था। समूह में उपेक्षित और अनिर्दिष्ट रह जाना उसके लिये हृदय पर शूल के आघात के समान था। उस व्यवहार से विरक्ति अनुभव कर वह अपने आतिथ्य के स्थान पर पहुँचता।

रात्रि के एकान्त में विचार करते-करते अनिरुद्ध शर्मा के मुख से सुना अपवाद कानों में गूँजता रहता—"अंशुमाला कला की काष्ठ-पुत्तलिका है। उसका भाव-विलास केवल कला का अनुष्ठान है। वह निर्जिव नर्तकी है। वह कला की भृत्ति करती है। वह मन को संतोष देने वाली वेश्या नहीं·····" और रुद्रधीर मनही मन आगे कहता—"वह विप्र-कुल की कन्या है, अभिजात सामन्त वंश की वधु-लक्ष्मी। उसका नारित्व सुरक्षित है।" विरक्ति प्रबल आसक्ति में परिणित होजाती—वह निश्चय ही दिव्या को पुनः प्राप्त करेगा। रत्नप्रभा के समाज में किसी संध्या भी रुद्रधीर के लिये अनुपस्थित होना असम्भव होगया।

रुद्रधीर ने निश्चय किया—यदि वेश्या के आसन पर स्थित दिव्या की दृष्टि में, अपने लोभ के लिये न सही, स्वामिनी की सेवा के लिये ही, द्रव्य का ही सम्मान है तो द्रव्य भी वह देगा। द्रव्यहीन वह भी नहीं। वह मद्र-गण-राज्य की परिषद के संवाहक का पुत्र, दश ग्राम के अग्रहार का उत्तराधिकारी, विप्र सामन्त है।

विदेश में यात्रा करते समय रुद्रधीर विशेष द्रव्य लेकर न चला था। सागल से विदेश के लिये प्रस्थान करते समय आचार्य प्रवर्द्धन ने अभाव और आड़े समय से पुत्र की रक्षा करने के लिये सिंहल के बड़े-बड़े मुक्ताओं का एक सातलड़ी का हार रुद्रधीर के गले में

अपने हाथ से पहना दिया था। वह हार बहुमूल्य, प्रायः एक ग्राम की सम्पत्ति के मूल्य का और आचार्य वंश की पारिवारिक सम्पत्ति का अंग था। रुद्रधीर उस हार को अपने वस्त्रों के नीचे सदा हृदय पर पहने रहता।

अंशुमाला अस्तोन्मुख चन्द्रमा के प्रति चक्रवाक की व्याकुलता का रूपक नाच रही थी, निश्चलक समाज अत्यन्त तन्मयता से उसकी प्रत्येक भाव-भंगी को देख रहा था। अंशु की फैली बाहों में अंगुलियाँ, नेत्र, ओष्ठ सूक्ष्म कम्पन से चक्रवाक की व्यग्रता प्रकट कर रहे थे। अभिनय भावोद्रेक की चरम सीमा पर पहुँच गया। समाज अवरुद्ध श्वास, स्तब्ध था।

मुद्रा पूर्ण कर अंशुमाला ने श्वास लिया। वादक अपने यंत्रों को एक ओर रख मस्तक से स्वेद पोछने लगे। नर्तकी की मोहक कला पर निछावर रसिक समाज अपनी भावना की अभिव्यक्ति में स्वर्ण मुद्रा, आभूषण और रत्न रत्नप्रभा के आसन के सम्मुख भेंट करने लगे। अंशु मुस्कान से रसिकों का आदर स्वीकार कर रही थी। सहसा मुक्ता का एक भारी हार समाज से फेंका जाकर अंशुमाला के चरणों के समीप गिरा।

उस माला को देख समाज विस्मित रह गया। श्रेष्ठि विनायक के नेत्र फैल गये। उनके मुख से सहसा निकला—"एक सहस्र स्वर्ण-मुद्रा!" समाज माला फेंकने वाले विदेशी की ओर विस्मय से देखने लगा। अंशु ने देखा, माला फेंक रुद्रधीर ग्रीवा ऊँची किये ललकार की मुद्रा में खड़ा था। समाज से पायी भेंट वह देवी रत्नप्रभा के सम्मुख रखती जा रही थी परन्तु उस माला को मस्तक से लगा वह हाथ में थामे रही।

समाज समाप्त होने पर भी रुद्रधीर अंशुमाला की ओर न गया। गम्भीर मुद्रा में वह अपने आसन पर ही बैठा रहा। मुक्तामाला हाथ

में लिये कृतज्ञता से मुस्कराती अंशुमाला उसके आसन की ओर गई। मन में रुद्रधीर ने कहा—आज अपना मूल्य पा तुम संतुष्ट हुई हो।

समीप आ अंशुमाला विनय से बोली—"कला के प्रति अनुराग से आर्य की इस अमूल्य भेंट के लिये दासी सदा कृतज्ञ रहेगी।"

रुद्रधीर ने संतोष का श्वास ले, उपेक्षा के भाव से मुस्करा दिया। अंशुमाला ने प्रार्थना की—"सागल में आर्य ऐसी शतशः भेंट निछावर कर सकते थे परन्तु विदेश में संकट के समय सहायक हो सकने योग्य इस वस्तु को आर्य अपने से पृथक न करें।"

कुण्ठित भाव से निराशा अनुभव कर रुद्रधीर ने प्रश्न किया—"क्यों, क्या यह क्षुद्र भेंट देवी की स्वीकृति के योग्य नहीं"? उसके स्वर में कठोरता आ गई—"वेश्या का आसन स्वीकार कर लेने पर क्या द्रव्य का परिमाण ही अनुराग का मूल्य निश्चय करता है?"

"नहीं आर्य"—अंशुमाला अब भी मुस्करा रही थी—"दासी आर्य की भावना से कृतार्थ है। भावना को शिरोधार्य कर"—उसने माला मस्तक से छुआकर कहा—"केवल भावना का पात्र मुक्तामाला लौटा रही हूँ जैसे अर्घ्यपात्र से अर्घ्य ग्रहण किया जाता है। ऐसा भी आर्य की विदेश की परिस्थिति के कारण है!"

व्यवसाय की मुस्कान लिये, निस्संकोच धृष्ट अंशुमाला ने रुद्रधीर की दृष्टि में सहसा विराट गरिमा धारण करली। उसके रोम सिहर उठे। भावावेश से उसका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। मुस्कराती हुई अंशुमाला के शीतल बाहुमूल पर अपना भावावेग से ऊष्ण हाथ रख, अधीर स्वर में रुद्रधीर बोला—"भद्रे, मेरे समीप तुम आज भी श्रेष्ठ विप्र कुल की कुमारी हो। तुम्हारा स्थान विप्रकुल की वधु लक्ष्मी के आसन पर है। छः वर्ष पूर्व आचार्य, अग्रहार रुद्रधीर तुम्हारे पाणि के लिये तुम्हारे परिवार के सम्मुख प्रार्थी था। देवी, आज तुम स्वतंत्र हो। इसलिये रुद्रधीर तुम्हारे पाणि के लिये तुम्हारे सम्मुख

प्रार्थी हैं। रुद्रधीर सागल की कुलश्री को पुनः सागल पहुँचा, सागल को भाग्यवान करेगा।"

दिव्या के ओठों पर मुस्कान अब भी चित्र लिखित सी स्थिर थी। अंशुमाला के बाहुमूल पर रुद्रधीर की अंगुलियाँ कठिन हो गईं। "आर्ये!" रुद्रधीर ने सम्बोधन किया—"तुम्हें आचार्यपत्नि के रूप में ग्रहण कर रुद्रधीर सागल लौटेगा। तुम्हारा स्थान आचार्य कुल की महादेवी के आसन पर है।"

अंशुमाला की मुस्कान अब भी विचलित न हुई। कोमल परन्तु स्थिर स्वर में उसने उत्तर दिया—"आर्य, सागल के शैविल्य वंश की कुमारी दिव्या मतिभ्रम से अथवा भाग्य से जीवन की सरिता के अजाने प्रवाह में प्रवेश कर गई। जब वह उसमें से निकली, वह वेश्या नर्तकी अंशुमाला थी। वह अपने कौमार्य की पवित्रता भी खो चुकी। एक द्विज स्वामी के लिये अर्पित न हो, वह समाज और जन की सम्पत्ति बन गई।"

अंशुमाला के और समीप हो रुद्रधीर ने उत्तेजित आर्द्र स्वर में आग्रह किया—"भद्रे, कांचन की खान से लौह उत्पन्न नहीं हो सकता। वंश और कुल मनुष्य की शक्ति से ऊपर देवता की कृति है। मनुष्य न कुल दे सकता है न छीन ही सकता है। तुम्हारी धमनियों में विप्र का रक्त है। कीचड़ में गिर कर भी स्वर्ण पत्थर नहीं हो सकता। रुद्रधीर प्रतिज्ञा करता है, सागल के आचार्य पद पर वह तुम्हें पत्नि रूप से ग्रहण करेगा।"-रुद्रधीर ने गम्भीरता से अंशुमाला के सरल मुस्कान भरे नेत्रों में देखा।

अंशु ने विनय से मुस्करा दिया—"आर्य की भावना के प्रति दासी अत्यन्त कृतज्ञ है। अपनी प्रवृत्ति के कारण दासी कुल वधु के सम्मान के योग्य नहीं। दुर्भाग्य की अग्नि में जल कर दासी ने स्वतंत्र नारी का कलंक पाया है। वही उसे प्रिय है।"

"क्या कहती हो कुमारी ! तुम विप्र कन्या हो !" रुद्रधीर का स्वर काँप रहा था।

"आर्य",—अंशुमाला ने मुस्कराकर ही उत्तर दिया—"नदी का जल एक बेर उच्छृङ्खल हो प्रदेश में फैल जाने पर पुनः लौट कर नदी के तटों में नहीं सिमिट सकता।"

रुद्रधीर अंशु की ओर दृष्टि लगाये निर्वाक रह गया। उसकी मूक कठोरता को अलक्ष्य कर, अंशुमाला ने चिन्ता प्रकट की—"विलम्ब के कारण आर्य को रात्रि के शीत से कष्ट होगा। आज्ञा हो, दासी आर्य के रथ में अर्घ उपस्थित करने के लिये सेवक को आदेश दे ?"

दो दिन नहीं, तीन मास और एक पक्ष तक रुद्रधीर मथुरापुरी में रहा। अनेक रूप से, अनेक तर्कों का आश्रय ले उसने अंशुमाला के सम्मुख आचार्य की पत्नि के रूप में सागल लौटने की प्रार्थना की। परन्तु अंशुमाला ने विनय पूर्ण मुस्कान से असामर्थ्य प्रकट कर क्षमा चाही।

असफल, निराश, विवश रुद्रधीर सागल प्रस्थान के लिये अंशुमाला से विदा लेने आया। उसके अन्तिम अस्फुट शब्द थे—"विप्रकुल की सन्तान आर्ये, आज भी तुम परम पुनीत हो। अग्नि मुख प्रवात वंशज आचार्य रुद्रधीर व्यवस्था देता है, तुम विप्रकुल की लक्ष्मी के आसन की अधिकारी हो। आचार्य के हृदय में तुम पत्नि रूप से आसीन हो। यह तुम्हारी पवित्रता का प्रमाण है। कुमारी व्यवस्थापक विप्र का मत ही प्रमाण है। लक्ष्मी, प्रतीक्षा करना एक दिन रुद्रधीर तुम्हें लेने आयेगा। सागल की कुल श्री पुनः सागल लौटेगी।

अंशुमाला ने विनय से मस्तक झुका मुस्कान से उत्तर दिया—"आर्य की आदर भावना के लिये दासी कृतज्ञ रहेगी।"

१०

सागल

छः वर्ष, चार मास और छः दिवस के प्रवास के पश्चात्, नक्षत्रज्ञ द्वारा निर्दिष्ट शुभ लग्न में, संध्या वेला आचार्य प्रवर्धन के पुत्र आचार्य रुद्रधीर ने पूर्व द्वार से पुनः सागल नगरी में प्रवेश किया। रुद्रधीर यात्रा के साधारण वस्त्र पहने, यात्रा से श्रान्त परन्तु बलिष्ठ अश्व पर आरूढ़ थे। उनके पीछे अश्वारोही दास अम्बक था।

सागल के बाह्य रूप में आचार्य ने विशेष परिवर्तन न देखा। हाट और पण्य जनाकीर्ण और व्यस्त थे। यातायात के कारण मार्ग से उठने वाली धूलि से बचने के लिये व्यापारियों ने अपने हाटों के सम्मुख जल छिड़क मार्ग को भिगो दिया था। सब ओर व्यस्तता थी। आमोद के संकेत का भी अभाव न था। पुष्पों के विक्रेता नवस्फुटित पुष्पों की मालायें और डलिया लिये पुकार लगा रसिकों का ध्यान आकर्षित कर रहे थे। गन्धियों की हाटों से उड़ कर अनेक प्रकार के सौरभ कोलाहल पूर्ण वातावरण में रच रहे थे। नागरिक सुन्दर वस्त्र और पुष्प धारण किये, सुगंध रचाये इठलाते चल रहे थे। समृद्ध जन शिविकाओं, रथों और अश्वों पर संध्या विनोद के लिये पुष्करणी, उद्यान अथवा नर्तकियों के स्थानों की ओर जा रहे थे। मुण्डी संन्यासियों की संख्या भी कम न थी। अपने कार्य और विनोद में

व्यस्त जन ने नवागन्तुक अश्वारोही की ओर ध्यान न दिया। उस अत्यन्त सामान्य स्थिति में पहचाने जाने की इच्छा भी रुद्रधीर को न थी।

राजपथ से आचार्य-प्रासाद के लिये मार्ग ग्रहण करते समय सहसा तूर्य का शब्द सुन रुद्रधीर ने घूम कर पीछे की ओर देखा। जनाकीर्ण मार्ग पर सैनिक वेशधारी एक अश्वारोही रजत का छोटा तूर्य बजाता चला आ रहा था। तूर्य का शब्द सुन पदाती मार्ग छोड़ एक ओर हटने लगे। अश्वारोही के पीछे, एक रंगीन वस्त्र धारण किये सोलह वाहकों के कंधों पर प्रकाण्ड शिविका थी। शिविका पर छत्र और चंवर के नीचे रत्नजटित आभूषणों से जगमगाती एक वेश्या जान पड़ी। शृंगार और प्रसाधन की अधिकता के कारण उसे पहचानने में रुद्रधीर को दुविधा हुई। शिविका के दक्षिण पार्श्व में सामन्त कार्त्तवीर का युवा पुत्र सकृद और वाम ओर यवन सामन्त, पण्डित ईक्रिद का युवा पुत्र महेन्द्र था।

आचार्य के मन में दुविधा थी—निश्चय ही यह देवी मल्लिका नहीं! प्रौढ़ावस्था को प्राप्त नारी को पुनः यौवन दे सकना आयुर्वेद के सामर्थ्य में नहीं। सागल नगरी को किस नवीन नर्तकी ने सौभाग्यवान किया है, जिसका समारोह मल्लिका से भी अधिक है?

जय घोष का कोलाहल कान में पड़ने से रुद्रधीर ने पुनः घूम कर पीछे देखा—हाटों, पण्यों और मार्ग पर खड़े लोग नमस्कार की मुद्रा में पुकार रहे थे—"महादेवी सीरो की जय! महा सेनापति पृथुसेन की जय!"

विस्मय से फैल गये अपने नेत्रों पर बल दे, रुद्रधीर ने पहचाना-सीरो! वितृष्णा से दाँत दबा उसने मुख फेर लिया। सागल में बीते जीवन के पैंतीस वर्षों में ऐसा काण्ड उसने न कभी देखा था न सुना ही था। राज्यसत्ता का चिह्न छत्र और चंवर मद्र के कुल-गण-राज्य में केवल गणपति का अधिकार था अथवा गण राज्य द्वारा सम्मानित कला की अधिष्ठातृ जनपदकल्याणी नगर श्री

राजनर्तकी का। वह सोचने लगे मद्र की मर्यादा के उलंघन की यह धृष्टता कैसे ? क्या दासपुत्र गणपति के आसन पर जा बैठे ?

आचार्य के स्वदेश लौट आने के समाचार से मित्र वर्ग और परिजन नर-नारियों से प्रासाद पूर्ण हो गया। उत्साह के समारोह में भी आचार्य रुद्रधीर गम्भीर मुद्रा से मुक्ति न पा सके। अपने प्रवासकाल में मद्र और सागल में हुये परिवर्तनों का वृत्तान्त और व्योरा वह चिन्ता से सुनते रहे। आचार्य ने शीघ्र ही परिस्थिति हृदयङ्गम करली।

सर्व साधारण जन समाज ने मद्र और सागल में कोई परिवर्तन अनुभव न किया। सागल का आकाश शत्रु के आक्रमण की आशंका के मेघों से शून्य था। गण-परिषद् में निरंतर चलने वाला कुलों की स्पर्धा का झंझावात भी शान्त था। व्यापार और समृद्धि बढ़ती दिखाई दे रहीं थी। विनोद और भोग के साधन बढ़ रहे थे। सर्वसाधारण जन निश्चिन्त व्यस्त और सुखी था।

सागल के समाज के उपवन में साधारण पेड़-पौधे, लता, कुंज और वनस्पति लहलहा रहे थे। परन्तु अभिजातवंश और कुल रूपी महावृक्ष स्तब्ध और संत्रस्त खड़े थे। महासेनापति गणपति मिथोद्रस पक्षाघात रोग से शैय्या पर पड़े थे। उदरशूल से पीड़ित, पुत्र के वियोग से निरुत्साह और श्रेष्ठि प्रेस्थ के छल से परास्त और हत प्रतिभ आचार्य प्रवर्धन के परलोक प्राप्त कर लेने पर दो वर्ष तक गणपरिषद् की सभा आमंत्रित ही न हुई।

युद्ध के संक्रमणकाल में महासेनापति, गणपति द्वारा ग्रहण किये गये सर्वाधिकार अब भी उन्हीं के अधिकार में थे। रोगग्रस्त गणपति शैय्या पर थे और उनकी राजकीय मुद्रा उनके परम विश्वस्त और जनता के परम आदरभाजन महा श्रेष्ठि प्रेस्थ के हाथ में। केन्द्रस के आक्रमण के समय गण के अग्रहार सामन्तों की अनुपार्जित सम्पत्ति की आय गण कोष में सम्मिलित कर लेने पर भी जब मद्र में पर्याप्त सैन्यदल के लिये धन संचय न हो सका, प्रेस्थ की मंत्रणा से गणपति

ने एक-सौ, दो सौ और पाँच-सौ सैनिकों का भरण-पोषण करने के लिये गण को धन की सहायता देने वाले धनिकों को भी गणपरिषद् में सदस्यता का आसन अर्पित कर उत्साहित और सम्मानित किया। गणपरिषद् के सदस्यों की संख्या दूनी हो गई। इस प्रकार के दस सदस्य महा श्रेष्ठि प्रेस्थ का प्रश्रय पाकर, गणपरिषद् में उपस्थित थे। उनके भाग का राजस्व धन महा श्रेष्ठि के कोष से जाता था।

सागल पर आये कठिन समय में श्रेष्ठि प्रेस्थ की कूट नीति से गण-परिषद की सदस्यता का आधार वंशधिकार से नहीं द्रव्य के आधार पर हो गया। द्रव्य घटता बढ़ता है। वह मनुष्य के प्रयत्न का फल है। कुल दैवाधीन है। उस पर मनुष्य का वश नहीं। द्रव्य के आधार पर उसी कुलसत्ता के अधिकार की स्पर्धा साधारण जन के करने से कुल का सम्मान मनुष्य के अधिकार से परे की वस्तु न रहा। वह क्षीण होने लगा। इस निरादर से विरक्त हो सामन्त गण और अभिजातवंशीय गणपरिषद् की उपेक्षा करने लगे।

गणपरिषद् और गण के शासन के प्रति अभिजात वंशजों और सामन्त कुलों की उपेक्षा देख रोग से हतोत्साह और वार्धक्य से शिथिल मति गणपति, महा सेनापति मिथोद्रस ने गणसंवाहक के पद पर महाश्रेष्ठि प्रेस्थ को नियत कर दिया।

परिस्थितियों की सहायता और अपनी नीति के बल से वे उसी परिषद् के संवाहक के आसन पर जा पहुँचे। वह आसन पाकर भी उनका व्यवहार अत्यन्त विनीत था। एक समय महाश्रेष्ठि प्रेस्थ के लिये कुल की हीनता के कारण गणपरिषद् में आसन पाना सम्भव न था। विप्रकुल के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिये महा श्रेष्ठि ने अनेक महा यज्ञों का बलि सहित अनुष्ठान कर कई सहस्र ब्राह्मणों का सत्कार किया। वे तथागत की सर्वभूत दया के प्रति भी कृपालु थे। अभिधर्म को भी वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल प्रतिष्ठा देने के लिये उन्होंने युद्ध काल

में गण द्वारा अधिकृत चैत्यों और विहारों की आय उन्हें लौटा दी। वर्णाश्रमधर्म और तथागत के अभिधर्म का द्वन्द सागल में पुनः प्रचण्ड हो उठा।

* * *

सेनापति पृथुसेन का विवाह अत्यन्त समारोह से गणपति की पौत्री सीरो से हुआ था। उस समारोह में सम्पूर्ण सागल नगरी उत्साह से जगमगाकर किलक उठी थी। उत्तराधिकारी हीन गणपति ने अपनी पौत्री के हाथ में रख, अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति वंश का सम्मान और पद भी मनोनीत जामाता को सौंप दिया। पृथुसेन हीन कुल में जन्म पाने के कलंक से मुक्त हो, मद्र का सबसे अधिक समृद्ध और सम्मानित सामन्त बन गया। परन्तु आत्महनन के परिणाम स्वरूप एक वितृष्णा और शैथिल्य का भाव उसके मन और मस्तिष्क पर छाया रहता। वह स्वयम् अपने और समाज दोनो के प्रति विरक्ति अनुभव कर निस्तेज रहने लगा। उसका यह भाव देख महाश्रेष्ठि ने स्नेह से प्रतारणा की—"पुत्र, संसार में तुम्हारे लिये अप्राप्य क्या है? जो प्राप्य है, उसका भोग करो! जो अप्राप्य है, उसे प्राप्त करने का सामर्थ्य प्राप्त करो! क्या एक स्त्री, सीरो या दिव्या ही तुम्हारे जीवन की परिधि है? अभी तुमने जीवन सोपान की आरम्भिक सीढ़ी पर पाँव रखा है। जीवन दीर्घ और विस्तृत है। सागर के गर्भ में छिपे असंख्य रत्नों की भाँति इसमें अवसर छिपे है। पुत्र किसी एक स्त्री के अभाव में जीवन को व्यर्थ समझना केवल कायरता है। यदि दिव्या जीवित होती वह भी तुम्हारे लिये प्राप्य होती। जो मृत और बीत गये की चिन्ता में अकर्मण्य होता है, नीतिवान उसे मूर्ख कहते हैं·····।"

सीरो मद्र के परम भट्टारक गणपति की पौत्री, गणपरिषद के संवाहक की पुत्रवधु और महा पराक्रमी सेनापति की अर्धांङ्गी थी। वह गर्व से माथा उठा कर चलती। समाज में सबसे सम्मानित आसन की वह अधिकारी थी और उससे अधिक की स्पर्धा उसके मन में थी। वह

सबसे अधिक काम्य भोगों को भोगती और सागल के सबसे अधिक सुन्दर युवा पुरुषों से आदर की आशा करती। उसके रागरंजित ओंठ केवल मदिरा से धुलते। रस वैचित्र्य उसे भिन्न-भिन्न ओठों में ही मिलता। स्पर्ष सुख उसके लिये युवा पुरुषों की वलिष्ठ भुजाओं और लोम पूर्ण कठोर वक्षस्थल के अतिरिक्त न था।

सीरो के लिये पृथुसेन ने अपना हनन किया था। सीरो के ही हठ के कारण उसने दिव्या को खोया। दिव्या को खो उसने अपने जीवन के चिरपोषित स्वप्नों को खो दिया। सीरो की उच्छृङ्खलता उसे सहन न हुई। पति के अधिकार से उसने पत्नि की प्रतारणा की।

सीरो ने रोकर पृथुसेन के अन्याय का विरोध किया। इस पर भी पति का व्यवहार असह्य जान पड़ने पर, क्रुद्ध सर्पिणी की भाँति फन उठा उसने विरोध किया—"मैं तुम्हारी क्रीत दासी नहीं हूँ। तुम मेरे आश्रित हो, मैं तुम्हारी आश्रित नहीं हूँ। मैं तुम्हारे पिंजरे में बद्ध सारिका नहीं हूँ। केवल तुम्हारी अङ्गसेवा के लिये दासी नहीं हूँ। ·····तुम वेश्याओं से विलास नहीं करते ? कितनी दासियाँ तुम्हारी पर्यंक सेवा के लिये हैं ! भोग के भिन्न-भिन्न सुखों और रसों के लिये तुम्हें कितनी नारियाँ चाहिये ? मेरे लिये भी संसार में केवल तुमही एक पुरुष नहीं हो ! तुम जैसे अनेक और तुमसे सुपुरुष अनेक !····· मैं द्विजकुल की पत्नि-दासीनहीं हूँ। मेरी धमनियों में यवन विजेता का रक्त है। मैं तुम्हारे वंश की धुरी खींचने के लिये बछड़े उत्पन्न करने वाली गैय्या नहीं हूँ। यदि तुम मेरा अपमान करोगे, मेरे लिये विस्तृत जन समाज है। तुम्हें सेनापति बना सकती हूँ तो दूसरे को महासेनापति बना सकती हूँ।·····तुम्हारा यह दुस्साहस ! अभी मेरे वत्सल पितामह संसार में हैं। हाय, पितामह के नेत्र मूंद लेने पर मेरे भाग्य का क्या होगा·····!" वह फूट-फूट कर रोने लगी।

पृथुसेन के नेत्र अङ्गारे की भाँति दहक उठे। उसकी अंगुलियाँ

सीरो का गला पकड़, उसे मरोड़ डालने के लिये तिलमिला उठी। उसे दो खण्ड कर देने के लिये उसका हाथ खड्ग की मूठ की ओर बढ़ जाना चाहता था परन्तु दूरदर्शिता की प्रतिमूर्ति शान्त पिता कल्पना में सम्मुख आ खड़े हुये और फिर वयोवृद्ध गणपति भी अनेक यवन सामन्तों से घिरे हुये। असमर्थ आवेग का श्वास शून्य में छोड़ वह शिथिल हो गया। सीरो अंगुलियों में मर्दन कर समाप्त कर देने योग्य निर्बल न थी। उसकी ग्रीवा की रक्षा के लिये कवच स्वरूप गणपति के आसन की विराट शक्ति थी। स्वयम दासत्व अङ्गीकार कर वह अशाक न थी। वह अपनी शक्ति से सतर्क थी और उस शक्ति को पुकारने के लिये तत्पर थी। सीरो की ग्रीवा मसल डालने का मूल्य सेनापति की अपनी स्थिति और जीवन होता। अवसर देख, द्विज कुलों के सहस्रों खड्ग पृथुसेन और उसके कुल के रक्त की तृष्णा में लपलपाती जिह्वा के रूप में निकल आते।

अनेक दिन शून्य में दृष्टि स्थिर किये और एकान्त में ग्रीवा झुकाये पृथुसेन गूढ़ विचार में मग्न रहा। उसने निश्चय किया—उसके दूरदर्शी महामति पिता का ही विचार उचित है। संसार में केवल एक सत्य है—शक्ति। केवल एक वस्तु काम्य है—शक्ति, सामर्थ्य! शेष संसार उसके अन्तर्गत है। यदि आज वह मौर्य कुल के छत्रपति की भाँति निरंकुश होता, सीरो के पापाचरण के लिये उसे चिता पर जीवित भस्म का सकता था। नहीं, स्थूण से बंधी सीरो अशाक देखती रहती और वह उसके स्थान पर दूसरी नारी को, दिव्या को, अनेक स्त्रियों को पट्टमहादेवी के आसन पर अपने अङ्क में स्थान देता····· सीरो उनकी चरण सेवा करती।

सीरो के प्रति उसका मन घृणा से भर गया। प्रकट वैभव और शक्ति के तल में अपनी वास्तविक विवशता से वह खिन्न हो उठा—उसकी सम्पूर्ण शक्ति और महिमा की प्रतीक वही सीरो थी।

सौरो के पति के रूप में वह मद्र के गणपति का उत्तराधिकारी महासामन्त था। अन्यथा, अभिजात कुल का सम्मान पाने की स्पर्धा के लिये निरादरितदास पुत्र!

पृथुसेन ने अपने अवसाद को मधुर और तिक्त मदिराओं के फेन में डुबा देना चाहा। उसने यत्न किया, वेश्याओं और नर्तकियों के नूपुर की झंकार से अपने कानों को पूर्ण कर दे और उनमें उसके अपने विचार से उठती विरोध की पुकार सुनाई न दे। परन्तु उसे शान्ति न मिली। वह आत्मविस्मृत न हो सका। उसका विचार कहता—यह केवल आत्म हनन है!·····कायर का आत्म हनन! उसका अन्तरआत्मा चीत्कार कर उठता—शक्ति! निरंकुश शक्ति। पिता की बुद्धि से! मेरी भुजा के पराक्रम से।

सौरो को उसने पत्नि रूप से भुला देना चाहा परन्तु गणपति के जामाता होने के गर्व को सम्भाले रहा। उत्तेजक मद्य के चषक और लोल कामिनी के अँगों का मर्दन उसके लिये आसक्ति और संतोष का विषय नहीं रहे। वे केवल श्रान्ति निवारण और शारीरिक स्फूर्ति का उपाय और सामाजिक कर्तव्य थे। अपने अन्तस्तल में वह इन वस्तुओं से उसी प्रकार विरक्त था जैसे निर्वाणकामी भिक्षु अपने शरीर से। जैसे अपने शरीर की चिन्ता भिक्षु शरीर को केवल अपनी सिद्धि का साधन मानकर ही करता है, वैसे यह सब भोग पृथुसेन की दृष्टि में थे। मन से वह योगी के समान अनासक्त हो गया। उसकी साधना थी-शक्ति! सुख वह केवल शक्ति के उन्माद की कल्पना में पाता। शक्ति संग्रह ही उसका लक्ष और स्वप्न था—मद्र का निरंकुश शासन! युद्ध विजय की सेवा के उपलक्ष में उसने गणराज्य से दश ग्राम का अग्रहार पाया था। उसे पाँच सौ सैनिक मद्र की रक्षा के लिये रखने का अधिकार था। शेष पाँच सौ सैनिक उसने महाश्रेष्ठि द्वारा पोषित गणपरिषद के सदस्यों के अधिकार से रख लिये थे। एक सहस्र चतुर सैनिकों का

स्वामित्व उसके लिये सब भोगों से अधिक संतोषजनक था।

सागल के जन समाज को शक्ति और सामर्थ्य का आदर करने का अभ्यास था। शक्ति के सम्मुख मस्तक झुकाने से उन्हें अपने सिर पर संरक्षक की छत्रछाया का आश्वासन अनुभव होता था।महाराज मिलिन्द के अभाव में जन गणपति, महासेनापति मिथोद्रस के सम्मुख मस्तक झुकाने लगा। गणपति पक्षाघात रोग से ग्रस्त होगये। उनका दर्शन कर, आदर से उनके सम्मुख सिर झुकाने के अवसर से जन वंचित होगया। जन समाज पुण्यात्मा, जन पालक, देवताओं की इच्छा से समृद्ध, गणपरिषद् के संवाहक महा श्रेष्ठि के पुत्र, गणपति के जामाता, दार्व के दस्यु दल के मर्दक, पराक्रमी, विजयी सेनापति पृथुसेन को ही महासेनापति सम्बोधन कर, उसे शासन और शक्ति का प्रतिनिधि जान उसका आदर करने लगा। उसका जयकार पुकारने लगा। उस आदर के प्रति सीरो अपना अधिकार पृथुसेन की अपेक्षा भी अधिक समझती थी।

सीरो गर्व, स्पर्धा और सम्मान की लिप्सा के कारण अपनी उच्छृङ्खलता से, उत्तरोत्तर बढ़ती अपनी महिमा का प्रदर्शन कर, जन को अपने आदर के लिये अभ्यस्त करती रहती। साधारण जन अपने संरक्षक के वैभव का चमत्कार और महिमा देख संतोष से पुलकित हो अधिक जयघोष करता। अभिजात वर्ग उस वैभव प्रदर्शन में अपनी हेठी अनुभव कर क्षुब्ध होता। परन्तु परिस्थिति से विवश, मौन धारण कर विरक्त रह जाता।

मन के संतोष के प्रयोजन से पृथुसेन की दृष्टि में सीरो केवल हेय शव मात्र थी। परन्तु गणपति के नाते जन की श्रद्धा अपनाये रखने के लिये अत्यंत उपयोगी। अपनी धृष्टता से वह जन समाज के सम्मुख पृथुसेन की महिमा बढ़ा रही थी। पृथुसेन उसे अनायास स्वीकार करता जा रहा था। पिता की अभिसंधि और आयोजना से एक ओर युद्ध

की घोषणा कर, महासेनापति का पद और निर्बाध निरंकुश अधिकार समेटने के षड्यंत्र में उसके विचार उलझे हुये थे। वह अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में था।

* * *

छः वर्ष चार मास और छः दिवस के व्यवधान के पश्चात् सागल के समाज और परिजन ने रुद्रधीर में पर्याप्त परिवर्तन देखा। दीर्घ काल तक मगध के ऊष्ण जल-वायु में रहने से उनका वर्ण तनिक ताम्र हो गया। पिता का देवलोकवास हो जाने से पिता के पद का गम्भीर्य उनकी मुद्रा और व्यवहार में आ गया। वे मितभाषी हो गये। उनकी दृष्टि पैनी और स्थिर हो गई। उनके मन में तीव्र ज्वाला धधक रही थी। अभिधर्म के राहु से मुक्त पुनः स्थापित वर्णाश्रम धर्म की शक्ति उन्होंने मगध में देखी थी। शक्ति प्राप्ति के लिये किस रौद्र मार्ग की साधना आवश्यक है, यह भी उन्होंने जाना था। उन्होंने भस्मीभूत महाविहारों के अवशेष देखे थे। सेनापति पुष्यमित्र के नेतृत्व में राजस्व शक्ति से तेजस्वी हुये वर्णाश्रमधर्म को देखा था। यज्ञ की उसी अग्निशिखा को हृदय में धारण किये, मद्र में उसे पुनः स्थापित कर, वर्णाश्रम के उद्धार का व्रत ग्रहण कर वे लौटे थे।

उन्होंने देखा—अपने पराभव से परास्त हुआ अभिजात समाज गण राज्य के विषय से विरक्त हो कर अपने प्रासादों की सीमा में सीमित रह कर भोगों में आत्मविस्मृत हो रहा है और देखा—गणपरिषद् के संवाहक का आसन पा श्रेष्ठि प्रेस्थ पक्षाघात रोग से पीड़ित, सप्राण शव मात्र गणपति के नाम से शासन चला, अपनी कुटिल नीति से द्विजकुल और अभिजात वर्ग को अधिकारच्युत करता जा रहा है। उन्होंने कुल वर्ग का उद्बोधन किया—संघर्ष से विरक्त हो, व्यक्तिगत आत्मरक्षा में संतोष खोजना आत्म हत्या है। भोग में आत्म विस्मृत हो मनुष्य भोग का अधिकार खो बैठता है। भोग का अधिकार संघर्ष में सफलता

से प्राप्त होता है। गण-मत और जन मत निर्वीर्य मुण्डियों द्वारा द्विजवर्ग के अधिकार को पददलित करने का प्रपंच मात्र है। द्विज देवता का अंश है, शक्ति उसका गुण है, उसका धर्म है, शासन उसका अधिकार है। जब अग्नि अपने गुण और धर्म से हीन हो जाती है कृमि भी उस पर पाँव रख कर गर्व करते हैं। इसी प्रकार शासन और शक्ति से च्युत द्विज हीनधर्म हो जाता है। राजा और प्रजा का धर्म एक नहीं। जो शूद्र द्विज से समानता की स्पर्धा करता है, वह पातक है और द्विज के लिये भी पाप का कारण है। मर्यादापुरुषोत्तम राम ने शूद्र शम्बूक को दण्ड दे, यह मर्यादा जम्बूद्वीप में स्थापित की है। दण्डनीति ही धर्म का आधार है।

सामन्त कार्त्तवीर, सामन्त सर्वार्थ और महा पण्डित विष्णुशर्मा के प्रासादों में अनेक दिन गुप्त मंत्रणा कर उन्होंने मद्र से म्लेच्छों और शूद्रों के शासन का अन्त करने की आयोजना पर विचार किया। उसका उपाय था-शत्रु का अचेत अवस्था में विध्वंस। उन्होंने कहा-"जागती हुई चींटी की शक्ति सोते हुये हाथी से अधिक है।"

मुण्डियों के प्राबल्य से मद्र के जन समाज में अपनी प्रतिष्ठा और शक्ति का ह्रास देख, निरुत्साहित द्विजवर्ग केवल अपने यज्ञ भाग से संतुष्ट हो बैठ गये थे। मद्र की सेना पद्घाघात रोग से निष्क्रय होगये गणपति के प्रतिनिधि बने, गणसंवाहक श्रेष्ठि प्रेस्थ तथा सेनापति यवन सामन्त ओक्रिस और पृथुसेन के अधिकार में थी। अभिजात वंश और द्विजसामन्त ऐसी सेना के प्रति उदासीन थे। अपने भाग के सैनिकों के पोषण के लिये गण से प्राप्त अग्रहार ग्रामों की आय वह सैनिकों की नियुक्ति में व्यय न कर, अपने भोग विलास में ही व्यय कर रहे थे। श्रेष्ठि प्रेस्थ और उनके सवर्गी यह तथ्य जानकर भी उदासीन थे। आचार्य रुद्रधीर ने इस रहस्य में श्रेष्ठि प्रेस्थ की कुटिल नीति और द्विज सामन्तों की अदूरदर्शिता दोनों को ही देखा।

आचार्य ने द्विज सामन्त गण को भोग का वाह्य आडम्बर बनाये रख कर अपने अग्रहार ग्रामों में गुप्त रूप से नवीन सैन्य संघान करने की मंत्रणा दी। शनैः-शनैः यह सैन्यदल साधारण नागरिकों के वेश धारण कर सागल नगरी में प्रवेश करने लगे। कुलों की समानता के अहंकार को दूर कर उन्होंने पौरव कुल के वंशधर, सामन्त सर्वार्थ को मद्र का गणपति घोषित करने का निश्चय किया।

आचार्य रुद्रधीर ने अपने गुप्तचरों से जाना—गणसंवाहक ने समाचार पाया है, गण की पश्चिम सीमा पर कठ प्रदेश की सेना आक्रमण की आयोजना कर रही है। आचार्य ने संवाद पर गूढ़ विचार किया। अपने मंत्रकारियों का आह्वान कर उन्होंने चेतावनी दी—"अब विलम्ब के लिये अवसर नहीं। निश्चय ही प्रेस्थ निकट भविष्य में रोगग्रस्त गणपति के शरीरान्त की कल्पना कर रहा है। शत्रु के आक्रमण की आशंका का आवरण ले वह अपने सैनिकों को नगर में लाना चाहता है। आशंकित जन का रक्षक बन, उनकी सहानुभूति अपने प्रति जागरित करने के लिये यह पृथुसेन का प्रपंच है।"

* * *

प्रवास से लौटे आचार्य रुद्रधीर को अपने प्रासाद में आया देख, देवी मल्लिका ने आसन से उठ उनकी अभ्यर्थना की। आचार्य को अपने आसन के समीप उपधान प्रदान कर देवी ने विशेष आदर से अर्घ्य, ताम्बूल और पानपात्र उपस्थित किया। उदरव्याधि से अकाल में तात् आचार्य के शरीरान्त हो जाने पर समवेदना प्रकट कर उन्होंने आचार्य के दीर्घ प्रवास के संबन्ध में कुशल-क्षेम पूछा।

आचार्य रुद्रधीर को कला से विशेष अनुराग न था। उसमें उनकी विशेष गति भी न थी। परन्तु अपने प्रवास के व्यवधान में देवी मल्लिका के समाज पर छा जानेवाली विरूपता उन्होंने भी अनुभव की। देवी मल्लिका स्वयम भी क्लान्त और हतोत्साह दिखाई दीं। आयु साठ

वर्ष के समीप पहुँच जाने के चिह्न सहसा उनके मुख और शरीर पर प्रकट हो आये थे। समाज में न रसिकों का ही वह समारोह था और न कला का ही वह रूप। देवी मल्लिका की अनेक शिष्यायें अपनी शिक्षा समाप्त कर विदा ले चुकी थीं। जो उपस्थित थीं, वे कला के मर्म और शक्ति से हीन थीं।

संगीत का अभ्यास हो रहा था। मल्लिका ने आचार्य से संगीत का रस लेने की प्रार्थना की। वृद्ध गायक माहुल शिष्याओं और श्रोताओं के सम्मुख स्वर का आरोहावरोह कर रहे थे। आचार्य की उपस्थिति से उत्साहित हो गायक ने अपना मुख उनकी दिशा में ही कर लिया—अ-अ-अ-अ-अ-आ-आ-आ-आ ·····म-मा-मा-आ-आ-मा-मा-मा क-दि-दि-दी-दिद-दी-दी···ई-ई-ई-ई-ई। दी-दि-दि-दी···आ-आ-आ म दि-मदि-मदि-मादी-मादीर-मदिर-मदीर-मदिर-मदिर·····मा···· दि·····र। म·····दि·····दीर मदिर, मदिर, मदिर, मदिर···।

वृद्ध माहुल की ग्रीवा ऊँची शाखा से पत्र तोड़ने के लिये फैली ऊँट की ग्रीवा के समान खिंची थी। तनाव से ग्रीवा और कनपटियों पर नाड़ियाँ उठ आई थीं। माथे पर स्वेद कण उभर आये। श्वास अवरोध से नेत्र आरक्त और सजल हो रहे थे। श्वास साधे वे यथा सम्भव विलम्ब तक अ-अ-आ करते रहे। नवीन श्वास अनिवार्य हो जाने पर वक्षस्थल में प्राण वायु भर, उनका श्वेत श्मश्रु आच्छादित, दान्तहीन, ताम्बूल-चर्चित मुख पुनः आ-आ-आ में खुल गया।

अवस्था के कारण कण्ठ काँपने से उनका षडज स्वर भी कर्ण-कटु हो रहा था। अपने प्रयत्न की पूर्णता के संतोष से उनके सजल नेत्र दीप्त हो रहे थे। उनकी काँपती हुई अंगुलियाँ अधर में हिल हिल कर उनके आ-आ-आ आलाप की सूक्ष्मता की ओर संकेत कर रही थीं।

मल्लिका और दूसरे दो-एक मर्मज्ञ सिर हिला-हिला कर उस स्वर

लहरी में बहे चले जा रहे थे। परन्तु आचार्य के लिये उस संगीत का समाप्त न होना असह्य यंत्रणा हो रहा था।

गायनाचार्य लगभग दो घड़ी आलापते रहे। आचार्य केवल एक शब्द समझ पाये "मदिर"! क्या मदिर ?·····नयन, ओष्ठ, अथवा स्पर्ष सो वे कुछ जान न पाये। इतने विलम्ब तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् जिज्ञासा का उत्साह भी न रहा। आलाप समाप्त होने पर मल्लिका और दूसरे मर्मज्ञों ने—"सुन्दर-सुन्दर! अत्यन्त सुन्दर!" पुकार संतोष प्रकट किया।

गायनाचार्य की कातर दृष्टि अपनी ओर लगी देख आचार्य ने भी मत प्रकट किया—"उत्तम, अत्यन्त सुन्दर!" उस प्रशंसा के परिणाम स्वरूप वृद्ध माहुल ने अपने जीर्ण वक्ष-पिंजर में पुनः श्वास भर, मुख फैला दिया—म-अ-अ-अ!

आचार्य ने खिन्नता अनुभव कर अपने शिष्टाचार के प्रति मन में पश्चात्ताप किया। वे मल्लिका के समाज के बीते वैभव का स्मरण करने लगे। जब सम्भ्रान्त रसिक नर-नारी चतुश्शाल में बैठने के लिये पर्याप्त स्थान न पा चारों ओर के अलिन्दों में घिरे रहते थे। जब कलकण्ठी सुमुखियों के दल में मल्लिका पूर्णिमा की रात्रि में तारा-खचित आकाश में चन्द्र की भाँति जान पड़ती थी। जब उसके चतुश्शाल में नृत्य-रत युवतियों के नूपुर की झंकार से सागल गूँज उठता था। जब कला का मर्म खोजना न पड़ता था। उसका रस स्वयम् ही मन को व्याप्त कर देता था। आचार्य को मल्लिका का चतुश्शाल पाले और पतझड़ से विरूप हो गये वसंतोद्यान के समान जान पड़ रहा था। गायक माहुल, ख्यात नाम नट उदुम्बर, वृद्धा नर्तकी पृथा और वादक पद्मपात्र के रूप में कला का ज्ञान ही शेष रह गया परन्तु उसकी शोभा और शक्ति विलीन हो चुकी थी।

समाज के पश्चात् आचार्य अलिन्द में मल्लिका के समीप बैठे।

वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने सहानुभूति के स्वर में प्रश्न किया—"देवी, सागल की शोभा और गौरव तुम्हारे समाज की यह क्या अवस्था हो गई ?"

निराश स्वर में मल्लिका ने उत्तर दिया—"आर्य, समय का चक्र है अथवा दैव की इच्छा। क्या कहूँ ; सागल का अथवा मेरा दुर्भाग्य। स्वयम् मेरी आयु !·····शरीर के सामर्थ्य की एक सीमा हैं आर्य। उत्तराधिकार द्वारा परम्परा की रक्षा करने योग्य किसी शिष्या का न मिलना। समाज का निरादर·····! आर्य ज्ञानी हैं, कला सूक्ष्म भावना द्वारा ही पोषित होती हैं। वह हीनजन के अधिकार की वस्तु नहीं। अनेक कारणों का संयोग है। दोष किसे दूँ ? इससे भाग्य ही समझिये !"

"परन्तु देवी की शिष्या मादुलिका···"—मादुलिका के सम्बन्ध में सुना समाचार स्मरण कर आचार्य ने आग्रह से प्रश्न किया—"धर्मस्थ की प्रपौत्री के उपरान्त मादुलिका पर ही विशेष देवी अनुरक्त थीं। ऐसी ख्याति भी थी कि वह देवी की यशोकीर्ति को सुरक्षित रख सकेगी ?"

"आचार्य की धारणा ठीक है—दीर्घ निश्वास से मल्लिका ने उत्तर दिया—"मादुलिका कला की पीठ को जीवित रख सकती थी। कालान्तर में कोई अधिक योग्य सरस्वती को वरद पुत्रि उसे और उज्ज्वल कर पाती। परन्तु आर्य, मादुलिका में वह संयम और निग्रह नहीं जो कला की साधना का आधार है। सम्भवतः उसका दोष भी न हो।"—देवी आगे कुछ कह न पाईं।

मल्लिका के स्वर में अवसाद और रहस्य का आभास पा, आचार्य ने देवी के अधिक समीप हो प्रश्न किया—"मादुलिका से ऐसा क्या अविचार हुआ देवी !"

प्रसंग से मन में जाग उठी अप्रिय स्मृति से खिन्न हो देवी ने

उत्तर दिया—"ज्ञानी आर्य जानते हैं, कला साधना है। जो साधना के लिये अपनी प्रवृत्तियों का दमन नहीं कर सकता, वह पूर्णता नहीं पा सकता। ऐसे अपात्र शिष्य के हाथ में कला का अपमान और ह्रास होता है। चौदह मास पूर्व सेनापति आर्य पृथुसेन का अनुराग मादुलिका के प्रति उच्छृङ्खल हो उठा। मादुलिका के अभाव में उन्हें तृप्ति न थी। मादुलिका उनकी संगति में शिक्षा-अभ्यास से अनुपस्थित रहने लगी। उन्मत्त अवस्था में वह सम-विषम स्वरों का भेद भूल जाती।

मल्लिका का स्वर उत्तेजित हो गया—"मैंने मादुलिका की प्रतारणा की—मादुलिके, आसक्ति और साधना का संयोग असम्भव है। उसे मैंने प्रासाद न छोड़ने की आज्ञा दी। आर्य पृथुसेन ने मेरे ही प्रासाद में आ, मेरी शिष्या पर मेरे अधिकार को ललकारा। मादुलिका के सम्मुख मेरा तिरस्कार कर उन्होंने कहा—"यदि मादुलिका के सम्मुख देवी मल्लिका के वैभव के उत्तराधिकारी का प्रश्न है, मैं उससे दूना धन मादुलिका को दूँगा। यदि मादुलिका को राजनर्तकी के पद का लोभ है, मैं उसे मद्र की जनपदकल्याणी का पद देने की क्षमता रखता हूँ। मद्र में ऐसा कौन है जो सेनापति पृथुसेनकी इच्छा का विरोध करेगा ?……"

"यह दम्भ ?"—देवी के प्रति समवेदना से उत्तेजित हो आचार्य बोल उठे।

मल्लिका का भी स्वर ऊँचा हो गया—"आचार्य, कला का इससे भीषण अपमान और क्या हो सकता था ? मैंने प्रतिहारियों को आज्ञा दी, मादुलिका को प्रासाद से बहिष्कृत कर दें। आर्य अपने हाथों यत्न से पोषण कर, उसे कला के कठिन रहस्यों से अवगत करा, मादुलिका को यों दूर कर देने का मुझे उतना ही दुख है जितना अपने गर्भ की कन्या रुचिरा के वियोग का। परन्तु आर्य, कला का अनादर मल्लिका नहीं सह सकती।"—उनके नेत्र सजल और आरक्त हो गये।

"देवी, अनधिकारी की स्पर्धा सदा औचित्य की सीमा का

उल्लंघन करती। देवी, यह अव्यवस्था और अनादर आज मद्र में जीवन के किस क्षेत्र में नहीं? किस का सम्मान आज निरापद है? कौन धर्म आज अक्षुण्ण है! देवी, हीनकुल वृषल यज्ञ-बलि के अश्व और कामधेनु को भी केवल उसके चर्म की तृष्णा से देखता है। क्या न्याय और प्रजा का कल्याण उसके हाथ सुरक्षित रह सकता है?"

मन का आवेग वश कर मल्लिका बोली—"आचार्य, कला व्यवस्थित चित्त की वस्तु है। परन्तु परिस्थितियों के कारण सागल में व्यवस्थित चित्त कोई रह नहीं गया। कला के पोषक कुल-वर्ग समाज से प्रताड़ित और संत्रस्त हो विरक्ति का आश्रय ले बैठे हैं। आर्य, आज सागल में शृगालों का राज्य है और सिंह अप्रतिभ हो कन्दरा में छिप रहे हैं। समृद्धि और अधिकार के प्रयोग से अभिज्ञ अकुलीन नये पाये सम्मान के उन्माद से विलास में लिप्त हैं। सूक्ष्म कला में उनकी गति कहाँ? और जन-समाज विलास के उस विकृत रूप से विरत हो, भोग को केवल अनाचार का मूल जान, विरक्ति में शान्ति लाभ करने की आशा से मुण्डि धर्म के निर्वाण की चिर शान्ति में आश्रय ढूँढता है। उसे केवल बुद्ध की शरण का निमंत्रण ही सांत्वना देता है। ऐसी आशंका और अव्यवस्था में आर्य, कला के लिये स्थान कहाँ?"

"प्रवंचना है सब देवी!"—आचार्य ने उत्तेजित हो समर्थन किया—"इससे मुक्त हुये बिना समाज का कल्याण नहीं। देवी, यह इहलोक और परलोक दोनों का क्षय है। मद्र में यज्ञ का हविष्य शूकर खा रहा है। इसी पाप से क्रुद्ध देवता का यह सब अभिशाप है। देवी, मद्र को उससे मुक्त करना आवश्यक है।"

परन्तु आचार्य यदि देवता की ऐसी इच्छा है। दैव का ऐसा ही विधान है तो मनुष्य क्या कर सकता है? निराशा से मल्लिका ने उत्तर दिया—"आचार्य ने देखा है, सरस्वती के इस मन्दिर में जब निष्ठा से

देवी का आराधन होता था, यहाँ देवी का वरदान था। कामदेव की मुस्कान से यहाँ सदा वसंत था। अब स्वयम् देवी की ही विरक्ति से सब ओर अभिशाप की रुक्षता है।"

अधीरता से उग्र स्वर में आचार्य बोले—"अग्नि-मुख ब्राह्मण पृथ्वी पर देवता का अंश है। देवी, वह देवता की प्रचण्ड शक्ति का प्रतिनिधि है। क्षत्रिय उस शक्ति की भुजा है। मनुष्य के शरीर को शिर नीचा कर हाथ के आश्रय चलाने से स्थान भ्रष्ट जंघा और पद भी विरूप और अव्यवस्थित होते हैं। शिर और भुजा भी दलित होते हैं। ब्राह्मण को शासन के सिंहासन पर स्थिर करना प्रजा का धर्म है। देवी, धर्म्म स्थापना में तुम्हारे सहयोग की आवश्यकता है।"

"सेविका आज्ञा के लिये प्रस्तुत है आर्य!"—विनय से मल्लिका बोली।

प्रकाश से दीप्त मल्लिका के नेत्रों में उग्र दृष्टि डाल आचार्य ने प्रश्न किया— 'यह देवी की प्रतिज्ञा है?"

मल्लिका आशंकित हुई "आर्य अपना अभिप्राय कहें!"

"धर्म की स्थापना और रक्षा के लिये देवी की सहायता और सहयोग।"—आचार्य का स्वर दृढ़ था।

कुछ क्षण चिंता मग्न रह मल्लिका ने प्रार्थना की—"आचार्य आज्ञा करें।"

सतर्क भाव से आचार्य ने जिज्ञासा की—"देवी क्या यह अलिन्द मंत्रणा के लिये निरापद स्थान है? देवी, आपदकाल में भित्तियों के भी कान हो आते हैं!" कोई उनकी मंत्रणा सुन नहीं सकता। इस विषय में आश्वासन पा आचार्य बहुत समय तक रहस्य के स्वर मे देवी मल्लिका से मंत्रणा करते रहे।

गम्भीर स्वर में देवी मल्लिका ने स्वीकार किया—"देव कार्य में आर्य की जो आज्ञा हो!"

११

पृथुसेन और रुद्रधीर

मद्र की जनपदकल्याणी, कला की अधिष्ठातृ, नगरश्री देवी मल्लिका बहुत समय से निरुत्साहित और विरत थीं और सागल का सम्भ्रान्त समाज कला के रस से वंचित। कला की उस पीठ में पर्व और तिथि के उपलक्ष में होनेवाला कला का अनुष्ठान केवल रीति की रक्षा मात्र रह गया था। प्राण और उत्साह का उसमें अभाव था।

शरत पूर्णिमा के अवसर पर देवी के प्रासाद में विशाल समारोह के समाचार से सागल का समाज उल्लसित और उत्साहित हो उठा। इस समाज के लिये नगर के अभिजात कुल वर्ग, गणपरिषद् के सदस्य, श्रेणी जेठ्ठक, कुलनारियाँ और नगर की सम्मानित नर्तकियाँ सभी आमंत्रित थे।

निरभ्र आकाश में उज्ज्वल चन्द्र की प्रखर, शीतल किरणों में शुभ्र आस्तरणों, शुभ्र बिष्टरों और शुभ्र उपधानों पर समाज का आयोजन हुआ। सब ओर श्वेत पुष्पों, श्वेत चँवर, अर्घ्य और पान के लिये भी स्फटिक और रजत के पात्र उपस्थित थे। दास और दासी भी श्वेत वस्त्रों में थे। स्वयम् मल्लिका, उसकी शिष्यायें, समाजी (वादक) और अन्य आमंत्रित नर्तकियाँ भी शुभ्र उत्तरीय, कंचुक, और शाटक धारण किये थीं। श्वेत पुष्पों और मुक्ता के ही आभूषणों से उन्होंने शृंगार भी किया था।

बहुत समय पश्चात् ऐसे समाज में एकत्र होने का अवसर पा अतिथि अत्यन्त पुलकित थे। अपने-अपने इष्ट मित्रों और सखाओं की गोष्ठी में अतिथियों ने आसन ग्रहण किये। आचार्य रुद्रधीर, सामन्त कार्तवीर, महापण्डित विष्णु शर्मा, सार्थवाह बलभद्र और धर्मजीत, महासामन्त सर्वार्थ को घेर कर एक ओर बैठे। आर्य सकृद, इन्द्रदीप, विनय शर्मा और वसुधीर आदि उनके समीप ही कुछ अन्तर से। महाश्रेष्ठि, प्रेस्थ सामन्त ओक्सि, सामन्त मार्थ, पण्डित इक्षिद, सामन्त वर्धक और गोपाल एक ओर। सेनापति पृथुसेन अपने मित्रों और सखा वर्ग सहित दूसरी ओर। कुल-नारियाँ भी अपने परिजन के समीप अपनी सखियों की गोष्ठि में बैठी। गणपरिषद् की नवीन सदस्यता पाये अनेक व्यवसायी आमंत्रित श्रेष्ठियों और अन्तरायण के जेठ्ठकों सहित एक ओर बैठे।

देवी मल्लिका ने इस वृद्धावस्था में, कला की सेवा में असमर्थ हो जाने पर भी अपने निमंत्रण का आदर करने के लिये अतिथियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की। शरीर असमर्थ और शिथिल हो जाने पर भी देवी ने समाज के आरम्भ में माँगलिक नृत्य में भाग लिया। अतिथियों के सत्कार के लिये उन्होंने दासों को विशेष मूल्यवान कापिशायिनी, कांधारी, मागधी, द्राक्षी आदि सुरायें प्रचुर मात्रा में उपस्थित करने की आज्ञा थी। चन्द्रमा के मध्याकाश में पहुँच जाने पर नर्तकियों के नृत्य देवार्चन के संकेत और सूक्ष्म भावों के मूर्त से वासना के इंगित और निमंत्रण पर उतर आये। अतिथि सुरा के चषकों का चोषण न कर, घूंट भरने और उन्हें मुख में उंडेलने लगे।

नृत्य और वाद्य की ताल पर अतिथियों के अंगों का स्फुरण आरम्भ होते देख मल्लिका ने कुल-जन और कुल-नारियों ने रास नृत्य का प्रस्ताव किया। मल्लिका के संकेत से नर्तकी कुसुमसेना नृत्य में पृथुसेन की भुजा का आश्रय लेने के लिये आगे बढ़ी। शेष

अभ्यागत भी अपने-अपने परिचय की नर्तकियों अथवा कुलनारियों के सम्पर्क में नृत्य के लिये आगे बढ़े। सामाजियों ने वीणाओं, वंशियों और मृदंगों तथा मुरजों से रास नृत्य के स्वर आरम्भ किये। समाज-स्थल ने एक चक्र का रूप धारण कर लिया।

नृत्य का प्रथम चक्र समाप्त होने पर कौशल से नृत्य करने वाले नर और नारियों की प्रशंसा होने लगी। मल्लिका ने पृथुसेन की सूक्ष्मता और पदलाघव की विशेष स्तुति की। नारियों में नर्तकी कुसुमसेना और वसुमित्रा के अतिरिक्त यवन सामन्त मार्थ की पत्नि जोला और आचार्य रुद्रधीर की अनुजा, आर्य इन्द्रदीप की पत्नि अमृता ने विशेष श्लाघा पाई। आर्या अमृता ने दिव्या आदि कुल-कन्याओं की संगति में देवी मल्लिका से नृत्य की शिक्षा पाई थी। उन्हें नृत्य में विशेष रस भी था।

नृत्य के श्रम से तृषार्त हो समाज ने पुनः अनेक चषक पान किये। ओठों पर लगे, सुरापात्र की ओट से सीरो का निमंत्रण पा, उसकी ओर बढ़ सामन्त ओक्रिस के पुत्र महेन्द्र ने कहा—"भद्रजन, देवी मल्लिका की कृपा से यह अवसर चिरकाल पश्चात् आया है! आज नृत्य के सुख में हम आत्म विस्मृत हो जायँ!"

इस प्रस्ताव का उत्तर आर्य इन्द्रदीप ने दिया—"निश्चय मित्र! शरत-पूर्णिमा की रात्रि में जब तक चन्द्रमा आकाश में दिखाई दे, पान और नृत्य में शिथिल होने वाला युवक कापुरुष है।"

वादकों के नवीन लय उठाने पर रास नृत्य का चक्र पुनः आरम्भ हुआ। देवी ज़ोला पृथुसेन के साथ नृत्य करने के लिये आगे बढ़ी। यह चक्र पहले चक्र से भी अधिक वेगवान हुआ। नृत्य की समाप्ति पर देवी मल्लिका की दासियों ने स्वच्छ, सुगंधित प्रौञ्छन वस्त्र ले अभ्यागतों के मस्तक और ग्रीवा का स्वेद पौछ सुगन्ध छिड़की और हंस के श्वेत व्यजनोंसे बातास करने लगीं। पुनः सुरापूर्ण चषक अतिथियों के हाथों में आ गये।

आर्य सकृद ने अपना चषक रिक्त कर दासी को थमाते हुये कहा—"मित्रो, क्या यह दुश्प्राप्य अवसर उपेक्षा और शैथिल्य में खोने योग्य है ? यह पर्व का दिन वर्ष में एक बार ही आता है। वृद्ध पण्डित ईक्रिद ने अपना चषक ओठों से हटा, विनोद से सहयोग दिया—"और यौवन भी जीवन में एक ही बार आता है।" उनकी बात केवल सामन्त ओक्रिस और महाश्रेष्ठि प्रेस्थ ने सुनी और वे मुस्करा दिये।

सकृद महेन्द्र से पहले ही सीरो की ओर बढ़ गया। सीरो ने हंस कर अपनी बाहु उसकी ओर बढ़ा दी परन्तु मद के शैथिल्य के कारण आसन से उठ न सकी। वह हिमशीतल सुरा का चषक चूसने लगी। पृथुसेन के नेत्र उस ओर उठे परन्तु उसने दृष्टि फिरा ली। उसने देखा नर्तकी चसुमित्रा उसकी संगति की आशा से उसकी ओर देख रही थी और आर्य अमृता भी इसी अभिप्राय से उसकी ओर पग बढ़ा रही थी। अमृता की ओर बढ़ पृथुसेन ने उसका हाथ थाम लिया। सहसा उसकी दृष्टि आचार्य रुद्रधीर की ओर गई। वह पल भर ठिठका और फिर नृत्य करने लगा।

प्रति कुछ पल पश्चात् वह कनखियों से सामन्त सर्वार्थ के चारों ओर बैठे आचार्य रुद्रधीर और द्विजकुल-वर्ग के गुरुजनों की ओर देख लेता। उसकी चेतना निरंतर उसी ओर लगी थी। अमृता का हाथ थामते समय उसे शंका हुई, आचार्य रुद्रधीर का अनुज वसुधीर खिन्न हो विरोध करना चाहता था परन्तु ज्येष्ठ के संकेत से वह विवश रह गया। पृथुसेन के रोम क्षण भर के लिये सतर्क हो गये। इस सतर्कता से मद से उठा उन्माद विच्छिन्न सा हो गया।

आर्य अमृता सुरा के प्रभाव और श्रान्ति के कारण शिथिल थी। परन्तु पृथुसेन संतोष अनुभव कर रहा था। नृत्य के रस की अपेक्षा उसे आचार्य रुद्रधीर और कुलवर्ग के मौन से ही अधिक तृप्ति अनुभव हो रही थी। सुरा के उन्माद से अस्थिर विचारों में वह

कल्पना करने लगा—एक समय अभिजात कुल की कुमारी की शिविका में कंधा देने के प्रयत्न में इसी रुद्रधीर ने मेरा अपमान किया था। आज स्वयम् उसकी अनुजा ,उसके नेत्रों के सम्मुख मेरी भुजाओं में, मेरे वक्षस्थल पर सुख पा रही है और वह देख कर भी मौन है। यह है शक्ति का अधिकार शक्ति के मद की मुस्कान उसके ओठों पर नाच उठी। वह परम संतोष से अमृता को आलिंगन में ले नृत्य करने लगा। परन्तु वह तृप्ति अमृता के शरीर के स्पर्ष से नहीं, शक्ति के गर्व की थी।

ज़ोला आर्य धृति शर्मा के साथ नृत्य कर रही थी परन्तु उसके नेत्र निरंतर पृथुसेन का ही अनुसरण कर रहे थे। नृत्य का चक्र समाप्त होते ही धृति शर्मा की भुजा से मुक्ति पा वह पृथुसेन की ओर बढ़ी और उसके विष्टर पर उपधान का आश्रय ले श्रान्ति से तीव्र श्वास लेने लगी। अपने प्रति कुलनारियों की अनुरक्ति देख पृथुसेन का हृदय गर्व से उमड़ रहा था।

ज्यों-ज्यों नृत्य और पान के कारण अतिथियों पर श्रान्ति और शैथिल्य का प्रभाव बढ़ रहा था देवी मल्लिका की दासियाँ विशेष तत्परता से सुरा के चषक प्रस्तुत कर रही थीं। पृथुसेन के मन में सान्त्वना थी सब से अधिक आकर्षण और सत्कार का केन्द्र वही था। दासियाँ चषक सब से प्रथम उसके सम्मुख ही प्रस्तुत करतीं। स्वयम् मल्लिका ने दो बेर उसके सम्मुख चषक उपस्थित किया। यह सम्मान केवल महासामन्तों को ही प्राप्त था।

दासियों द्वारा स्वेद पोंछ कर सुगन्ध लगा देने के पश्चात् अनेक अतिथि और कुलनारियाँ अत्यन्त श्रान्त और शिथिल हो, उपधानों के आश्रय विश्राम की मुद्रा में बैठी शीतल सुरा का चोषण करने लगे। कुछ विश्राम के लिये, समाज-स्थल के चारों ओर पुष्पित मालती के कुंजों की ओर सामन्त की खोज में चले गये।

वादकों के पुनः लय आरम्भ करने पर पृथुसेन ने अपने आश्रय शिथिल बैठी ज़ोला को उठने के संकेत से स्पर्ष किया। उसके निश्चल रहने पर झुक कर उसने ज़ोला के नेत्रों की ओर देखा। वह और नृत्य के लिये असमर्थ थी। पृथुसेन भी बैठा रहा। उसे शिथिल बैठे देख मल्लिका के संकेत से एक दासी ने दो सुरापूर्ण चषक ज़ोला और पृथुसेन के लिये आधार पर प्रस्तुत किये। मल्लिका के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन कर दोनों ने चषक स्वीकार कर लिये और नृत्य की ओर दृष्टि लगाये परस्पर स्पर्ष से सुख अनुभव करते बैठे रहे। ज़ोला समीप ही महेन्द्र के साथ बैठी सीरो की ओर देख रही थी। सीरो उपधान पर सिर रखे सुप्तप्राय थी और महेन्द्र अपनी दूसरी भुजा में एक नर्तकी को लिये उससे रहस्यालाप में मग्न था। पृथुसेन मद्य के प्रभाव से शिथिलपद हो बेताल नृत्य करते लोगों की ओर देख कर मुस्करा रहा था।

पुनः नृत्य समाप्त हुआ। दासियाँ सेवा के लिये आगे बढ़ीं। कुंजों में विश्राम के लिये चले गये अनेक अतिथि पुनः पान और नृत्य में भाग लेने के लिये समाजस्थल की ओर लौट आये। नये नृत्य के लिये अभ्यागत अपने-अपने संगी चुनने लगे। ज़ोला और पृथुसेन के सम्मुख पुनः सुरापूर्ण चषक आये। देवी मल्लिका से आदर और कृपा पा वह पुलकित अनुभव कर रहा था। वसुमित्रा को पृथुसेन की ओर दृष्टि किये देख ज़ोला ने उसकी भुजा को दोनों हाथों से थाम लिया। पृथुसेन के नेत्र उसके उठे हुये नेत्रों की ओर झुक गये। उन नेत्रों की उत्तेजना मदिरा से भी प्रबल थी।

अभ्यागतों के श्रान्त हो जाने के कारण नृत्य का क्रम अव्यवस्थित होता जा रहा था। इच्छा होने से ही बीच में कोई विश्रर पर जा बैठता और दूसरा उसके संगी का साथ देने के लिये बढ़ आता। कुलनारियाँ प्रायः श्रान्त होकर अपने परिजनों के समीप जा बैठी थीं।

युवक और नर्तकियाँ उच्छृङ्खलता और अत्यन्त वेग से कोलाहल और चीत्कार कर नृत्य कर रहे थे पृथुसेन नृत्य में असमर्थ ज़ोला को बाहों में लिये एक कुंज की ओर बढ़ गया।

पृथुसेन को कुंज की ओट में किसी मद पान से मत्त निद्रागत के खर्राटे भरने का स्वर सुनाई दिया। अत्यन्त शिथिल ज़ोला को यत्न से सम्भाले, वह दूसरे कुंज की ओर बढ़ा। एकान्त देख, अपने पाँव पर अपना शरीर सम्भालने में असमर्थ ज़ोला ने अपने बाहु पृथुसेन की ग्रीवा में डाल दिये। उन्माद और उन्मेश से वह अर्धचेतन हो रही थी। एक अवरुद्ध उच्छ्वास से उसने पुकारा—'आह प्रिय!'

वाद्यों से नृत्य की धुनें सुनाई दे रही थीं और उन्मत्त जन द्वारा किये गये अनेक प्रकार के कोलाहल भी परन्तु सब कुछ अस्पष्ट था। पृथुसेन के कान ज़ोला के उस अत्यन्त आवेशमय उच्छ्वास से पूर्ण हो गये। कुंज के अंधकार में उसे केवल ज़ोला के पाटल के दल की भाँति गुलाबी नेत्र दिखाई दे रहे थे। उसके अंक में शिथिल ज़ोला के नारित्व ने उसके पुरुषत्व को कण्टकित कर दिया।

कुंज के अंधकार में दीर्घ श्वास लेती ज़ोला ने अपना शिथिल शरीर सम्भालने में असमर्थ हो, पृथुसेन के अंक में अर्पण कर दिया। पृथुसेन भी मद के शैथिल्य में ज़ोला से प्राप्त उत्तेजना में आत्मविस्मृत हो गया। पुनः समाज स्थल की ओर लौटने का विचार मस्तिष्क में था परन्तु शरीर साथ न दे रहा था। संगीत, वाद्य और आनन्दोल्लास के स्वर उसके कानों में अस्पष्ट हो रहे थे। परन्तु समीप ही कुंज की ओट से कान में पड़े, एक कण्ठस्वर से उसका मस्तिष्क सतर्क हो गया।

स्वर पुनः सुनाई दिया—"कुमार, इस ओर भी देखा?"

"नहीं आर्य, इस ओर नहीं है, उस ओर भी नहीं।"

दोनों कण्ठ स्वर पृथुसेन के परिचित थे। बलाधिकृत इन्द्रदीप और रुद्रधीर के कनिष्ठ, कुमार वसुधीर! इन दोनों चिर शत्रुओं की

सतर्कता ने पृथुसेन को आशंकित कर दिया। श्वास रोके वह और सुन पाने की प्रतीक्षा करने लगा था। दो और व्यक्तियों के कुंज की ओर बढ़ने की आहट सुनाई दी और फिर कण्ठ स्वर।

विनय शर्मा व्यग्रता से कह रहा था—"क्या सब आयोजन व्यर्थ होगा ? देवस नक्षत्र सप्तऋषियों की समरेखा में पहुँचा ही चाहता है। देखते नहीं ?"

बलजीत चिंता से बोला—"श्वेतकेतु अपने सैनिकों को ले इस समय प्रेस्थप्रासाद को हस्तगत कर चुका होगा। प्रासाद के अग्निअर्पण होने का संकेत तूर्य सुनाई दिया ही चाहता है। और तुम लोगों ने उसे प्रासाद से निकल जाने दिया। क्या दास पुत्र को सन्देह हो गया ?"

पृथुसेन के शरीर पर शीतल स्वेद छा गया। सम्मुख अव्यवस्थित अवस्था में, शिलापीठ पर पड़ी ज़ोला का उसे ध्यान न रहा। उसकी सम्पूर्ण चेतना कानों में केन्द्रित हो गई। स्वयम् अपने हृदय की धड़कन उसे भयंकर शब्द करती जान पड़ रही थी। उसका अंग प्रत्यंग काँप रहा था।

बलजीत फिर बोला—"यदि दास पुत्र मल्लिकाप्रासाद से जीवित निकल गया तो संकट का कारण होगा। सम्भव है, दासपुत्र भी मद के प्रभाव से विश्राम के लिये किसी लताकुंज में जा बैठा हो ! आर्य अग्निकेश, क्या हमारे यथेष्ट सशस्त्र सैनिक प्रासाद की प्राचीर के भीतर उपस्थित हैं ?"

"हाँ आर्य, दो सौ विश्वस्त सैनिक पृष्ठद्वार से प्रासाद की प्राचीर के भीतर आ चुके हैं। एक सौ पृष्ठद्वार के समीप और दो सौ सिंहद्वार के समीप छद्म वेश में अंधकार पूर्ण वीथियों में छिपे हैं। वे केवल तूर्य के संकेत की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

सहसा रात्रि की नीरवता में नगर के उत्तर भाग से तूर्य का शब्द

सुनाई दिया। उसी समय इन्द्रदीप का निर्देश ऊँचे स्वर में सुनाई दिया—"सावधान ! तुरंत समाजस्थल को घेर कर सिंहद्वार की ओर !"

पृथुसेन मल्लिका-प्रासाद के उद्यान और कुंजों से भली भाँति परिचित था। अचेत प्रायः ज़ोला को छोड़, उत्तरीय से शिर ढाँक, वह दीर्घ पदों से प्राचीर की ओर भागा। वृक्षों की ओट से निकल कुछ सशस्त्र सैनिक नृत्य-स्थान की ओर बढ़ रहे थे। उन्हें देख पृथुसेन पल भर मन में स्तम्भित हुआ परन्तु समीप पहुँच उसने सैनिक-निर्देश के स्वर में आज्ञा दी—"सैनिको, सिंहद्वार की ओर !"

सैनिकों के सिंहद्वार की ओर घूमजाने पर पृथुसेन वृक्ष की शाखा की सहायता से प्राचीर लांघ बाहर पथ पर उतर गया।

निश्शस्त्र, निस्सहाय पृथुसेन ने क्षण मात्र के लिये पथपर खड़े हो विचार किया—वह कहाँ जाय ? सिंहद्वार पर खड़े अपने रथ और और शरीर रक्षकों की ओर···?···पिता ? शत्रु के दो सौ सैनिक उन्हें समाप्त कर चुके होंगे।····अपने प्रासाद की ओर ? प्रासाद शत्रु के हस्तगत हो, अग्नि अर्पण हो चुका है।

सिंहद्वार की ओर से पथ पर अश्वों की टाप सुनाई दी। वह तुरंत समीप की अंधियारी वीथी में चला गया। अनेक अश्वारोही द्रुत वेग से प्रासाद की परिक्रमा करते जान पड़े। पृथुसेन अंधकार पूर्ण वीथी में आगे बढ़ता गया। अपने कण्ठ से मुक्ता मालाओं और दूसरे मूल्यवान आभूषणों को उतार वह अंधकार में इधर-उधर फेंकता जा रहा था। शरीर को उत्तरीय से ढंक वह शीत से त्रस्त अत्यन्त साधारण नागरिक जान पड़ने का यत्न कर रहा था।

अंधियारी वीथी के अन्त में प्रशस्त पथ पर चन्द्रमा का प्रकाश घाम के समान उज्ज्वल था। प्रशस्त पथ और प्रकाश को विपद् जनक जान वह वीथी में ही ठिठक रहा। इस वीथी से कुछ दूर, प्रशस्त पथ पर गणपति और सामन्त ओक्सि के प्रासाद थे। पृथुसेन सोच रहा

था—पथ पार कर वह उस ओर जाये। वहीं शरण सम्भव होगी। कुछ क्षण पश्चात् उस पथ से भी अनेक द्रुत-वेग अश्वारोहियों के आने की टाप सुनाई दी। अंधकार में छिप, वह देखने लगा। अश्वारोहियों के दल के आगे अग्निकेश और सकृद खड्ग खींचे सरपट चले जा रहे थे। पृथुसेन ने समझा-गणपति और सामन्त ओक्रिस के प्रासाद भी शत्रु द्वारा घेर लिये गये। अपने मित्रों के यहाँ भी शरण पाना सम्भव नहीं।

पृथुसेन श्वास रोके वीथी के अंधकार में सिमटा खड़ा था। उसका रोम-रोम काँप रहा था और शिरका स्वेद पिंडलियों से हो ऐड़ी तक बह रहा था। बन में आखेटकों से घिर गये मृग की भाँति सिमटता-सकुचाता, ओट लेता वह वीथियों के मार्ग से नगर के उपान्त की ओर चला जा रहा था। प्रशस्त पथ और चन्द्रमा का उज्ज्वल प्रकाश सम्मुख देख वह भय से काँप उठता। अनेक ओर से अपना नाम ले सुनाई पड़ती ललकारें उसके शरीर में सिहरन उत्पन्न कर रही थीं। निश्शस्त्र और निस्सहाय वह प्राणों के भय से कांप रहा था।

पृथुसेन बहुत समय तक वीथियों में छिपा रहा। सूर्य का प्रकाश होते ही आत्मरक्षा असम्भव हो जाने के भय से वह और भी हताश हो रहा था। इस प्रकार छिप-छिप कर प्राण बचाने का भी कुछ अर्थ वह समझ न पा रहा था। यदि उसके सशस्त्र सैनिक साथ होते, वह आततायियों को अवश्य परास्त करता। यदि वह अकेला होकर भी सशस्त्र होता, सम्मुख युद्ध कर सम्मान पूर्वक प्राण दे देता। अब उसके भाग्य में बध्य-पशु की भाँति मारे जाने अथवा मूशिक की भाँति छिद्र में स्थान ढूंढ कुछ समय प्राण बचा पाने के अतिरिक्त उपाय न था। मद्य का प्रभाव समाप्त हो उसका शरीर शिथिल हो रहा था। शरीर और मन दोनों में श्रान्ति और विकलता अनुभव हो रही थी।

पूर्णिमा का चन्द्रमा क्षितिज पर जा पहुँचा। पथके पश्चिम ओर

बने भवनों की छाया से नगर के दक्षिण भाग के पथ पर अन्धकार छा गया। आशंकित पदों से पथपर आ पृथुसेन, जिस ओर पग उठे, चला जा रहा था। सम्मुख अंधकार में एक छन्द गुनगुनाते हुए किसी मनुष्य की आकृति अपनी ओर आती दिखाई दी। समीप आनेपर पृथुसेन ने पहचाना, वैद्यवर स्थविर चीवुक स्तोत्र पाठ करते आ रहे थे।

स्थविर चीवुक की दृष्टि पृथुसेन की ओर गई। पृथुसेन का शरीर वैद्यवर के हाथों में दो मास तक रह चुका था। भिन्न वेश में भी उसे पहचान लेने में वैद्यवर को दुविधा न हुई। निश्शंक स्वर में उन्होंने सम्बोधन किया—"आर्य! किस ओर जा रहे हैं?·····वह दिशा संकटमय होगी। अश्वारोही दल आर्य को खोजता उसी ओर गया है।"

"तात् स्थविर'—पृथुसेन ने निराशा से उत्तर दिया—"छला जा कर इस समय मैं निराश्रय और निस्सहाय हूँ। सभी दिशायें और सभी स्थान अब मेरे लिये संकटमय हैं। प्रश्न है, केवल समय का। बधिक ने छल द्वारा मुझे अपने जाल में फँसा लिया है। विलम्ब है केवल मुझे हाथ में पाने का। बधिक का काष्ठ मेरे मुण्ड की प्रतीक्षा कर रहा है। तात् स्थविर, निश्शस्त्र होने के कारण मैं निस्सहाय हूँ, अशरण हूँ, अपमानजनक मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

स्थविर पृथुसेन की ओर देखते रहे। अन्धकार में फैले उनके नेत्रों में भी करुणा का आभास था। मंद आर्द्र स्वर में वे बोले—"पुत्र, यदि शरण चाहते हो तो समीप ही बुद्धरक्षित संघाराम है। विहार प्रत्येक शरणागत का आश्रय है। वह युद्ध के द्वंद और शासन की सीमा से परे हैं।"

"कृपामूर्ति, शरण पाने से यह असहाय कृतार्थ होगा।"—पृथुसेन ने कर जोड़, आशापूर्ण स्वर में उत्तर दिया।

* * *

सागल के जनसमाज की निद्रा ब्राह्म-मुहूर्त में भेरीघोष और दुन्दुभी

नाद से भंग हुई। आशंकित और विस्मित जन ने अलिन्दों और गवाक्षों से झाँक अथवा शैय्या पर लेटे सुना—"क्षत्रिय कुलभूषण, महासामन्त, परम भट्टारकश्री देव सर्वार्थ भूमि को पापमुक्त कर, मद्र के कुलवर्ग की अनुमति से मद्रगण की गणपरिषद के गणपति का राजदण्ड ग्रहण करते हैं। मद्रगण की गणपरिषद के संवाहक और सचिव का आसन मद्रगण के कुलवर्ग की अनुमति से आचार्य श्रेष्ठ, शास्त्रज्ञ, अग्रहार, महापण्डित रुद्रधीर ग्रहण करते हैं। मद्रगण के कुलवर्ग की अनुमति से मद्रगण की सेना का शासन महासेनापति के पद से सामन्तवर्य, अग्रहार, श्री सामतं कार्त्तवीर ग्रहण करते हैं। मद्रगण का राज्य कुलवर्ग के वर्णाश्रमधर्म का पालन कर, प्रजा का न्यायानुमोदित शासन करेगा। सम्पूर्ण द्विज कुल शूद्र और दास निजधर्म में स्थित हो, राजाज्ञा का पालन करें!"

कार्तिक की पूर्णिमा का चन्द्रमा सागल से म्लेच्छ शासन की चरम प्रतिभा को ले अस्त हो गया। सूर्योदय के समय सागल में वर्णाश्रमधर्म की पुनः स्थापना से द्विजकुल की महिमा स्थापित हो गई। मुख्य पथों और वीथियो के चतुर्मार्गों पर द्विज सामन्तों के सैनिकों के शस्त्र और शिरस्त्राण सूर्य की किरणों में चमक रहे थे। सागल की यह नवीन शोभा जन के एक अंग के लिये उत्साह और संतोष का कारण थी दूसरे अंश के लिये मर्मांतक विभीषिका और निरूत्साह का। और सर्वसाधारण जन के लिये केवल कौतुहल मिश्रित आतंक का।

सागल के वही राज पथ थे। वही वीथियाँ, वही प्रासाद और वही अट्टालिकायें, तड़ाग और उद्यान। जन भी वही था परन्तु व्यवस्था दूसरी थी। बौद्धधर्म के अनुसार सब जीवों में समान जीव की कल्पना से द्विजकुल का निरुत्साह और हीनवर्ग की उच्छृङ्खलता, वर्णाश्रम की राज्य व्यवस्था से दूर होगई। प्रेस्थ की नीति और अनुग्रह से धन के बल पर उठा परिषद में आसन और सैन्यसंग्रह का अधिकार पाये,

व्यवसायी जन और श्रेणी और अन्तरायणों के जेठ्ठक अधिकार च्युत हो गये। द्विजकुलों के अतिरिक्त अन्य वर्ग ग्राम अग्रहार अधिकार से हीन हो गये। बौद्ध विहार अपनी अग्रहार सम्पति से हीन हो गये। पथों और वीथियों में कषाय चीवरधारी, सूर्य की किरणों में चमकते मुण्डित शिर भिक्षुओं के दल प्रायः लोप हो गये। उच्च स्वर में बुद्ध की शरण का निमंत्रण दे हीनवर्ग का उत्साह बढ़ानेवाला उनका स्वर मन्द हो गया।

प्रेस्थ और उसका कुल मल को भस्म करने वाली अग्नि के समर्पण हो भस्म हो गया। सशस्त्र सैनिकों से रक्षित उत्तुंग अट्टालिकाओं के स्थान पर अग्निदेव की जिह्वा से चाटे जाकर कृष्ण खण्डहरों के रूप में प्रेस्थ-प्रासाद के कंकाल चारों ओर फैले भस्म में खड़े थे। प्रेस्थ तथा अभिधर्म से सहानुभूति रखने वाले यवन सामन्त ओक्रिस और मार्थक अग्रहार सम्पत्ति और सैन्यअधिकार से हीन हो गये। पक्षाघात से मृतप्राय गणपति, अपनी शैय्या पर पड़े अबोध भाषा में तथागत के वचन सुनते निर्वाण की प्रतीक्षा करते रहे।

आचार्य रुद्रधीर के सैनिकों ने सागल के पथ, वीथियाँ और प्रासाद छान डाले परन्तु पृथुसेन का कहीं पता न चला। पृथुसेन के यों बच रहने से आचार्य को शान्ति न थी। सर्प को मार कर यदि उपेक्षा से सपोले को छोड़ दिया जाया तो वही कालान्तर में सर्प बन जाता है।

* * *

बुद्धरक्षित संघाराम में शरण पा, पृथुसेन दिन भर स्थविर चीवुक की साधना-गुफा के अन्धकार में निराहार लेटा चिन्ता मग्न रहा। दो पहर रात्रि व्यतीत होजाने पर पृथुसेन ने स्थविर चीवुक से संघाराम से बाहर जाने की अनुमति के लिये प्रार्थना की।

पृथुसेन के अभिप्राय का अनुमान कर, अपनी स्वाभाविक मुस्कान से स्थविर ने प्रश्न किया—"किस प्रयोजन से आर्य?"

"भन्ते, प्राणों के भय से मैं यहाँ आर्त मूशिक के समान कब तक

छिपा रह सकता हूँ।" पृथुसेन ने उत्तर दिया—"भन्ते आज्ञा दें। युद्ध में विजयी होकर लौटने पर भन्ते ने कृपापूर्वक मेरे क्षत-शरीर का उपचार कर, प्राणदान दिया था। शत्रु से संत्रस्त होने पर भन्ते ने शरण दे, प्राणदान दिया। मैं देव के सम्मुख दो जीवनों के लिये आभारी हूँ। भन्ते अनुमति दें, अंधकार में बाहर जा शत्रु का सामना करने का अवसर देखूँ। शत्रु का पराभव करूँगा अथवा प्रयत्न में प्राण विसर्जन करूँगा। दैन्य में आत्महनन मुझे स्वीकार नहीं।"

पृथुसेन को समीप आसन ग्रहण करने का संकेत कर स्थविर चीवुक बोले—"आर्य, दैन्य में आत्महनन श्रेय नहीं। शत्रु के पराभव का विचार उचित है। परन्तु अन्धकार में शत्रु का पराभव कैसे होगा? शत्रु का पराभव करने के लिये उसे पहचानना आवश्यक है।"

"शत्रु को पहचान सकूँगा भन्ते।"—स्थविर के आशय के प्रति शंका से पृथुसेन ने उनके नेत्रों में देखा।

"तो आर्य शत्रु को यहाँ पहचानें।"—स्थविर अपनी संतत मुस्कान से बोले।

जिज्ञासा से विस्फारित नेत्रों से पृथुसेन ने स्थविर की ओर देखा—"भन्ते का अभिप्राय?"

—"शत्रु तो आर्य मन में है।"

"भन्ते, इस समय मेरे मन की अवस्था तत्वज्ञान का तर्क ग्रहण करने योग्य नहीं। मैं जीवन की रक्षा के लिये संघर्ष की बात कह रहा हूँ।"—कुछ समय चिन्ता में माथे पर हाथ रख पृथुसेन ने निवेदन किया—"भन्ते, मुझे संघाराम से बाहर जाने की अनुमति दें।"

स्थविर की शान्त मुद्रा में अन्तर न आया—"आर्य, जीवन की रक्षा के विषय में ही मैं भी कह रहा हूँ। आर्य को विपत्ति में जान, रक्तपात निवारण के लिये संघाराम में स्थान दिया था। इसलिये नहीं

कि आर्य रक्तपात करने और विपदजनक स्थिति उत्पन्न करने के अवसर की प्रतीक्षा करें।"

अवाक पृथुसेन स्थविर की अविचलित मुस्कान की ओर देखता रह गया। कल्पना में उसे अतीत की घटना दिखाई देने लगी-जब घायल हो मृत्यु और जीवन के बीच झूलते उसके शरीर को स्थविर चीवुक ने अपने कृपालु करों से प्राणदान दिया था। उस समय भी स्थविर के मुख पर यही मुस्कान थी। उनका स्वर भी यही था। स्थविर ने आश्वासन दिया था—"आर्य, शक्ति रहते तुम्हारे जीवन की रक्षा करूँगा।"

पृथुसेन मस्तक झुकाये बैठा रहा। स्थविर ने प्रश्न किया—"आर्य, प्रातः से निराहार है?"

पृथुसेन के निरुत्तर रहने पर भी स्थविर ने एक श्रमण को पुकार कुछ फल उपस्थित करने का आदेश दिया। अत्यन्त अनिच्छा होने पर भी स्थविर का आदेश अग्राह्य न कर सकने के कारण उसने कुछ फलाहार किया।

स्थविर अनेक रोगियों के सेवा-उपचार के लिये दिन के समय नगर के अनेक भागों में गये थे। पृथुसेन को नगर की अवस्था उन्होंने सुनाई। नगर में रक्तपात न हुआ था। परन्तु सम्पूर्ण शासन व्यवस्था पलटगई थी। पृथुसेन के सहयोगी और मित्रवर्ग उसकी सहायता कर सकने योग्य अवस्था में न थे। पृथुसेन का उनके यहाँ जाना पृथुसेन और स्वयम् उनके लिये भी विपत्ति का कारण होता। रुद्रधीर के चर प्रत्येक पथ, वीथि और उपान्त में पृथुसेन को खोज कर विफल होगये थे। उनका अनुमान था—पृथुसेन षडयंत्र की गंध पा, पहले ही मल्लिका-प्रासाद और नगर की प्राचीर लांघ गया। उन्हें शंका थी, पृथुसेन छद्मवेश में दार्वराज से छीने हुये अपने अग्रहार के ग्रामों की ओर गया है। रुद्रधीर और सामन्त सर्वार्थ के चर उसी ओर उसकी खोज कर रहे थे।

स्थविर की बात से विशेष सान्त्वना न पा, पृथुसेन ने असंतोष से प्रश्न किया—"भन्ते, क्या मैं अपना शेष जीवन आखेटक के हाथ से भागे हुये पंगु जीवकी भाँति यहाँ छद्मस्थान में रह कर, दैन्य और कातरता में व्यतीत करूँगा ?"

"कातरता और निरुत्साह वीर पुरुष को शोभा नहीं देते, आर्य !"—स्थविर ने उत्तर दिया।

"भन्ते, ऐसी अवस्था में रक्तपात और हिंसा की आशंका से मैं किस प्रकार निश्चिंत बैठा रहूँ ? शत्रु से संग्राम किये बिना मेरे लिये उपाय क्या है ?"—पृथुसेन ने अधीर स्वर में पुनः अनुनय किया।

"आर्य, रक्तपात शत्रु को विजय करने का सफल उपाय नहीं। शस्त्र द्वारा शत्रु का बधकिया जा सकता है, उसे कुछ काल के लिये वश किया जा सकता है परन्तु विजय नहीं। जिसका वध होगया, जो रहा नहीं, उसे विजय नहीं किया जा सकता। मनुष्य मृत्यु की अपेक्षा पराभव को केवल कायरता और प्रतिहिंसा की भावना से ही स्वीकार करता है। दमनकारी शत्रु की शक्ति क्षय होते, ही पराजित शत्रु पुनः प्रतिकार का यत्न करता है। आर्य, ऐसा दमन भी विजय नहीं। आर्य, संसार में रक्तपात यथेष्ट हुआ है परन्तु उसका परिणाम शत्रु की विजय नहीं हुआ। इस प्रकार की विजय केवल द्वेष और प्रतिकार की नई पौध का बीज मात्र है। आर्य, शत्रु के मृतक शरीर से कोई भय नहीं करता। आर्य शत्रुता शरीर करता है या मन की भावना शत्रुता करती है ?"—स्थविर ने प्रश्न किया।

"मन की भावना भन्ते।"—क्षीण स्वर में पृथुसेन ने उत्तर दिया।

"तो फिर आर्य, विजय शत्रु का शरीर वश करने में नहीं, मनकी भावना वश करने में है। जैसे तथागत ने देवदत्त के मनको, धर्मघोष ने सम्राट अशोक के मन को और अर्हत नागसेन ने सम्राट मिलिन्द के मन

को विजय किया था उसी प्रकार आर्य आचार्य रुद्रधीर का पराभव करें।"—स्थविर मौन हो सस्मित दृष्टि से पृथुसेन की ओर देखते रहे।

पृथुसेन कभी स्थविर के शान्त सस्मित मुख की ओर देखता और कभी ग्रीवा झुकाये उनके शब्दों को सुनता रहा। स्थविर कहते गये—"आर्य, मनुष्य के शत्रु कितने हैं? कौन है? कहाँ है? मनुष्य उन सबको नहीं जानता। जान भी नहीं सकता। मनुष्य शस्त्र से कितने शत्रुओं का हनन करेगा? सागल की प्रजा आर्य को पथ पर अश्वारूढ़ देख जयघोष करती थी। आर्य को इस अवस्था में देख प्रजाजन उत्साहित न होंगे। क्या इसलिये कि वे आर्य के शत्रु हो गये? आर्य ने उनकी क्या हानि की है?·····आर्य ने दार्व विजय के समय केन्द्रस के अनेक सैनिकों का हनन किया। क्या वे आर्य के शत्रु थे? आर्य ने उन्हें कभी देखा न था। आर्य को उन्होंने कभी देखा न था। शत्रुता का कारण केवल मन की भावना और शत्रुता का विश्वास था। आर्य, शत्रुता मनका विषय है।

"आर्य, जो शत्रु से पराजय स्वीकार करता है और जो शत्रु को मारने के लिये जाता है, वे दोनों ही शत्रु के भय के कारण ऐसा करते हैं। आचार्य रुद्रधीर आर्य के प्राणों के ग्राहक इसलिये हैं कि उन्हें अपनी स्थिति और प्राणों के लिये आर्य से भय है। आर्य, जो भय करता है, त्रास मानता है, वह वीर नहीं। वीर और साहसी वह है जिसे किसी का भय नहीं, किसी का त्रास नहीं।

"आर्य, जो तुम से भय करता है उससे तुम भी भय करते हो। शक्तिमान का भय सुप्तसा है; शक्ति हीन का जागरित। भय का कारण होने से भय अवश्य होगा। निर्भय वही है जो भय के कारणों से मुक्त है। तुम्हारी शक्ति से यदि दूसरा भयभीत है तो उसका भयभीत रहना तुम्हारे भय का गुप्त बीज है। अनुकूल भूमि और ऋतु पाने से यह बीज किसी समय भी अंकुरित हो सकता है। आर्य, ऐसी अवस्था में

शक्ति अभय का नहीं, भय का ही कारण है; अन्य के भय का और अपने भय का भी। ऐसी शक्ति सुख का हेतु नहीं हो सकती। आर्य, दुख के साधन और कारण एकत्र कर जो मनुष्य सुख की आशा करता है, वह भ्रम के मार्ग का पथिक है। सुख की ऐसी इच्छा दरिद्र के मनोरथ की भाँति केवल क्लेश का हेतु होती है।"

स्थविर चीवुक प्रातः, मध्याह्न अथवा संध्या समय भिक्षाटन और रोगियों की उपचार-सेवा से अवकाश पाने पर पृथुसेन के समीप आ वार्तालाप करने लगते। पूरा एक पक्ष व्यतीत होने से पूर्व ही विग्रह के लिये संघाराम से बाहर जाने की इच्छा पृथुसेन ने त्याग दी। वह अनासक्ति और चिरंतन सुख के विषय में स्थविर से प्रश्न कर उनके उत्तरों को मौन रह विचारता रहता। उसके मुख और व्यवहार से व्यथा और चिन्ता की मुद्रा जाती रही। व्यवस्थित चित्त की प्रसन्नता उसके मुख पर झलकने लगी। स्थविर का उपदेश उसके लिये क्लेश और बाधा का कारण न रहा। वह नेत्रों में उत्सुकता लिये, बद्ध कर हो आदर से उपदेश सुनता।

एक संध्या स्थविर के उपदेश के पश्चात् पृथुसेन ने अनुनय की—"भन्ते, सेवक सार्वभौम मैत्री की भावना ग्रहण कर चिरन्तन सुख के मार्ग का पथिक बनना चाहता हैं। भन्ते, सेवक को तथागत के धर्म का वेश दें, त्रिशरण में ग्रहण करें।"

स्मित वदन स्थविर ने उत्तर दिया—"आर्य, उसका भी समय आयगा। जो सुख अपरिग्रह के मार्ग पर, किसी से कुछ छीने बिना प्राप्त होता है, उससे मनुष्य को कोई वंचित नहीं कर सकता। आयुष्मान, उसका भी समय आयगा।"

पृथुसेन स्वेच्छा से ही विनय और शील का पालन करने लगा।

* * *

सागल के विहारों और भिक्षुसङ्घ के नायक, संघस्थविर अर्हत धर्मरक्षित का सन्देश पा वैद्यवर स्थविर चीवुक मध्यान्होत्तर में उनके सम्मुख उपस्थित हुये।

अर्हत संघस्थविर धर्मरक्षित अभिधर्म पर आये सङ्कट के कारण अत्यन्त चिन्तित थे। नगर में दुन्दुभीनाद द्वारा गणपति, सामन्त श्रेष्ठ श्री देव सर्वार्थ की आज्ञा का समाचार पा वे उद्विग्न हो गये। गणपति की विज्ञप्ति थी—"·····जो नागरिक वर्णाश्रम धर्म घातक दासपुत्र पृथुसेन को मृत अथवा जीवित अवस्था में सागल के राजपुरुषों को सौंपेगा वह गण-राज्य-कोष से पाँच सौ स्वर्ण मुद्रा और एक ग्राम के अग्रहार का अधिकारी होगा। जो नागरिक गणराज्य के अनुशासन की अवज्ञा कर दासपुत्र धर्मघातक पृथुसेन को शरण देगा, वह धर्मास्थान से मृत्यु दण्ड का अधिकारी होगा।"

विनय के नियमानुसार पाँचो अँगों से प्रणाम् कर स्थविर चीवुक ने संघस्थविर धर्मरक्षित की वन्दना की। कृपाहस्त उठा संघस्थविर के स्वस्ति और आरोग्य कामना करने पर स्थविर चीवुक ने जानु पृथ्वीपर टिका आज्ञा के लिये प्रार्थना की। संघस्थविर के आदेश से कुशासन ग्रहण कर चीवुक उनकी चिन्ता के कारण का अनुमान कर के भी उनके बोलने की प्रतीक्षा में मौन रहे।

मन की उद्विग्नता के कारण संघस्थविर ने संक्षेप में ही कहा—"आयुष्मान अभिधर्म पर उपस्थित संकट से अवगत हैं।"

"भन्ते"—चीवुक ने उत्तर दिया—धर्मपर संकट नहीं आता। केवल धर्म के प्रति विश्वास प्रकट करनेवाले जन भयभीत हो संकट अनुभव करते हैं। धर्म कभी अधिक मनुष्यों के हृदय और विश्वास में स्थान पाता है और कभी कम मनुष्यों के। ऐसी भिक्षु की धारणा है।"

स्थविर चीवुक के उत्तर पर मनमें विचार कर संघस्थविर बोले—"आयुष्मान मेरे मुख से न कहने पर भी मेरे मन में उपस्थित चिन्ता

के प्रसंग से अवगत हैं। आयुष्मान ने राज्य की विशृति का समाचार सुना है ?"

"भन्ते, मैंने अनुमान किया है। विशृति मैंने सुनी है।" चीवुक ने स्वीकार किया।

"राज-क्रोध के पात्र पृथुसेन का बुद्धरक्षित संघाराम में शरण पाना इस संकटमय परिस्थिति में अभिधर्म के लिये आपत्ति का कारण है। रुद्रधीर धर्मका द्वेषी है, आयुष्मान जानते हैं।"

"भन्ते, धर्म की रक्षा के लिये शरणागत को शरण देना आवश्यक हुआ। 'शरणागत को संघ शरण दे,' ऐसा अभिधर्म का आदेश है।"—

"परन्तु आयुष्मान"—संघस्थविर के मस्तिष्क पर चिन्ता की रेखायें गहरी होगईं—"संघ और धर्म की रक्षा के लिये इस समय दूसरा कर्तव्य है। जैसे उपोसथ श्रेय होने पर भी रुग्ण शरीर उपासक के लिये उपोसथ उचित नहीं !"

"यदि संघस्थविर की आज्ञा हो तो भिक्षु निवेदन करे ?"—चीवुक ने कर जोड़ अर्हत धर्मरक्षित की ओर देखा। उनके सिर झुका अनुमति देने पर चीवुक बोले—"भन्ते, जैसे जलका विशेष उपयोग तृषा अनुभव होने पर होता है उसी प्रकार धर्म का पालन भी संकट के समय ही महत्व रखता है।"

"परन्तु संघ की रक्षा एक साधारण जनकी रक्षा से अधिक महत्व-पूर्ण हैं।"—धर्मरक्षित ने चीवुक के नेत्रों में देख उत्तर दिया।

"भन्ते, बोधिसत्त्व ने शरणागत, अकिंचिन पक्षी की रक्षा के लिये अपने शरीर का मांस अर्पण किया था। उनके शरीर का महत्व, उनका बुद्धत्व और धर्म अकिंचिन, शरणागत पक्षी के लिये शरीर देने में ही हुआ। भन्ते, भिक्षु का बोध आदेश देता है, ऐसे ही धर्म की रक्षा और संघ के धर्म की रक्षा शरणागत को शरण देने में है। इससे संघ

शरीर का संकट अनुभव करके भी धर्म की वृद्धि करेगा और शरणागत को त्याग, शरीर रक्षा के मोह में धर्म का त्याग करेगा !"

बहुत समय तक विचार में मौन रहे संघस्थविर ने स्थविर चीवुक को सम्बोधन किया—"आयुष्मान, विनय का उपदेश है जब भिक्षुओं में परस्पर विचार और मति का भेद हो, मार्ग का निर्णय संघसभा करे। परन्तु आयुष्मान, उग्र संकट के कारण यह रहस्य संघसभा के प्रति प्रकट करना भी सङ्घ के लिये आपत्ति का हेतु होगा। आयुष्मान की धर्म भावना का आदर कर सङ्घस्थविर ने अपना विचार और आदेश कह दिया।"

स्थविर चीवुक मस्तक झुकाये बैठे रहे और फिर सङ्घनायक को विनयपूर्वक प्रणाम कर, आज्ञा ले, बुद्धरक्षित संघाराम में लौट आये।

स्थविर चीवुक का करुणा और मैत्री की भावना से सदा प्रसन्न मुख गम्भीर था। द्वन्द से मुक्त उनके मन में घोर द्वन्द उत्पन्न था। सङ्घस्थविर की आज्ञा की अवज्ञा कर वे विनय के नियम का उल्लङ्घन किस प्रकार करें ? और वे बोधिसत्व के उपदेश के विरुद्ध आचरण किस प्रकार करें ? चित्त स्थिर कर कर्तव्यमार्ग का निश्चय करने के लिये वे रात्रि के तीन पहर बीते तक तथागत के बिम्ब के सम्मुख बैठ विचार करते रहे।

तथागत की धर्मभावना मन में ग्रहण कर उन्होंने मार्ग का निर्देश पाया। घृतदीप की ज्योति से प्रतिभासित तथागत के उज्ज्वल मुखमण्डल की ओर दृष्टि लगाये उनका मुख पुनः चिंता मुक्त हो, प्रसन्नता से खिल उठा। तथागत के बिम्ब के सम्मुख पृथ्वी पर मस्तक रख उन्होंने प्रणाम किया।

चीवुक सूर्योदय से पूर्व ही पृथुसेन की गुफा के सम्मुख उपस्थित हुये। पृथुसेन विचार मग्न था। सस्मित वदन स्थविर को सम्मुख खड़े देख, आदर से आसन छोड़ उसने श्रद्धा से प्रणाम किया।

"मन में कोई दुविधा है, आयुष्मान ?"—कृपाहस्त उठा स्थविर ने सम्बोधन किया।

"नहीं भन्ते। भन्ते के उपदेश से उपासक दुविधा से मुक्त हुआ।" नतमस्तक पृथुसेन ने निवेदन किया।

—"आयुष्मान को कोई भय शेष है ?"

—"नहीं भन्ते।"

—"आयुष्मान कोई तुम्हारा शत्रु है ?"

—"नहीं भन्ते।"

—"आयुष्मान, आचार्य रुद्रधीर के द्वार पर भिक्षा के लिये चलोगे ?"

—"भन्ते, आचार्य रुद्रधीर के द्वार पर भी अथवा जहाँ आदेश हो !"

—"आयुष्मान, तथागत की शरण, धर्म की शरण, संघ की शरण ग्रहण करने के प्रयोजन से प्रव्रज्या दान के लिये सङ्घ से प्रार्थना करते हो ?"

"भन्ते, मैं प्रव्रज्या की भिक्षा के लिये सङ्घ से प्रार्थना करता हूँ।" "आयुष्मान की इच्छा पूर्ण होगी। आयुष्मान प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत हों।"

स्थविर चीवुक ने बुद्धरक्षित सङ्घाराम के भिक्षुओं को एक नवीन श्रमण को तुरंत प्रव्रज्यादान देने की आयोजना के लिये आदेश दिया। मध्याह्न से पूर्व ही पृथुसेन मुण्डितशिर कषाय चीवर धारण किये और हाथ में भिक्षापात्र लिये स्थविर वैद्य चीवुक के साथ भिक्षा के लिये बुद्ध रक्षित सङ्घाराम के द्वार से निकला।

* * *

वैद्यवर स्थविर चीवुक अन्य एक भिक्षु सहित वर्णाश्रमधर्म के व्यवस्थापक, गणपरिषद् के संवाहक आचार्य रुद्रधीर के प्रासाद के सशस्त्र सैनिकों से रक्षित सिंहद्वार पर उपस्थित हुए। प्रतिहारी द्वारपाल

ने निवेदन किया—"भिक्षुवर भण्डारगृह से भिक्षा आने तक प्रतीक्षा करें।"

सस्मित वदन स्थविर ने द्वारपाल को उत्तर दिया—"भद्र, आज आचार्य से ही भिक्षा ग्रहण करने की इच्छा है।"

"भन्ते, आचार्य की आज्ञा से, अनुमति पाये बिना प्रवेश निषेध है।"

"भद्र, आचार्य से भिक्षु चीवुक और उसके साथी भिक्षुका आशीर्वाद निवेदन करें। स्थविर चीवुक ने मुस्करा कर आग्रह किया।

आस्थान से आदेश आनेपर स्थविर चीवुक अपने साथी भिक्षु को लिये सशस्त्र प्रतिहारी सहित आचार्य रुद्रधीर के आस्थान में प्रविष्ट हुये।"

आचार्य अनेक ताड़पत्र और भोजपत्र सम्मुख रखे लेखकों से अनेक निर्देश लिपिबद्ध करवा रहे थे। भिक्षुओं को सम्मुख देख आचार्य ने आसन से उठ, करबद्ध हो, स्थविर चीवुक को सम्बोधन किया—"आचार्य प्रवर्धनापत्य आचार्य रुद्रधीर भद्र के सर्वश्रेष्ठ वैद्य, ज्ञानी, स्थविर चीवुक की वन्दना करता है।"—स्थविर के साथी भिक्षु की ओर भी नमस्कार कर आचार्य ने कहा—"अपरिचित श्रमण भी वन्दना स्वीकार करें।"

दोनो भिक्षुओं के आसन ग्रहण कर लेने पर आचार्य स्वयम भी बैठे और निवेदन किया—"स्थविर सेवा के लिये आज्ञा करें।"

"आर्य, भिक्षुकी सेवा भिक्षा ही है—स्थविर बोले—"आचार्य अपने मन की इच्छा कहें।"

"भन्ते की करुणा है। शरीर रोगग्रस्त होने पर वैद्यवर की कृपा की आवश्यकता होगी!"—मुस्करा कर आचार्य ने पुनः हाथ जोड़े।

स्थविर भी मुस्कराये—"शरीर का क्लेश न होने पर भी मन का क्लेश हो सकता है आर्य?"

"जिसने स्वयम् संसार त्याग दिया है स्थविर!"—परिहास से आचार्य ने उत्तर में प्रश्न किया—"वह दूसरे को क्या देगा ?"

स्थविर की मुस्कान म्लान न हुई। उन्होंने उत्तर दिया—"आचार्य, ज्ञानी हैं। पाये बिना किसी वस्तु का त्याग नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण संसार को कोई पा नहीं सकता। इसलिये उसे कोई त्याग भी नहीं सकता। परिग्रह और त्याग केवल मन की दशा है। परिग्रह और त्याग दोनो का ही प्रयोजन संतोष है। जब तक मन में चिन्ता है, सन्तोष नहीं।"

"स्थविर का वचन सत्य है"—आचार्य ने स्वीकार किया—"कर्मकाण्डी और संसारी के लिये असंतोष के अनेक कारण हैं, अनेक चिन्तायें हैं।"

स्थविर के समीप आसन पर बैठा भिक्षु बोला—"अनेक चिन्ताओं में एक चिन्ता से आचार्य को मुक्ति देने के लिये यह भिक्षु उपस्थित हुआ है।"

भिक्षु का स्वर सुन ग्रीवा उठा, विस्मय से नेत्र फैला, आचार्य ने बोलने वाले की ओर देखा। उनके नेत्र और ओष्ठ खुले ही रह गये।

भिक्षु बोला—"मैं, भिक्षु पृथुसेन; सार्वभौम मैत्री का सुख पा, आचार्य के प्रति शत्रुता के भाव से रहित हो, भय और चिन्ता से मुक्त हुआ हूँ। आचार्य को भी अपने कारण भय और चिन्ता से मुक्त करने के लिये मैं आचार्य के सम्मुख, उनके आस्थान में, उनके हाथों में उपस्थित हूँ। आचार्य, पृथुसेन को पा चिन्ता मुक्त हों। दाता को सुखी जान भिक्षु सुखी होगा। आचार्य भिक्षु को सार्वभौम मैत्री के सुख की भिक्षा दें।"—भिक्षु ने आत्मसमर्पण के भाव से दोनो हाथ फैला दिये।

कुछ कहने के लिये खुले आचार्य के ओष्ठ गहरा निश्वास छोड़ मुन्द गये। वे ग्रीवा झुका मौन बैठे रहे। अनेक क्षण पश्चात अलिन्द

में प्रहरी द्वारा मध्याह्न का घड़ियाल बजाये जाने के शब्द ने उन्हें सजग किया।

अभ्यागत भिक्षुओं को सम्बोधन कर उन्होंने निवेदन किया—"भिक्षु वर अन्न ग्रहण करें!"

"नीतिविद आचार्य जानते हैं, विनय के अनुशासन से मध्याह्नोत्तर में भिक्षु का अन्न ग्रहण करना उचित नहीं।"—चोवुक ने निर्द्वन्द मुस्कान से उत्तर दिया।

घर आये भिक्षुओं को निराहार रखने के परिताप से लज्जा अनुभव कर आचार्य ने क्षमा याचना की—"भन्ते, अपनी उपेक्षा के लिये भिक्षुओं से क्षमा चाहता हूँ।"

"आर्य, इसमें चिन्ता का कारण नहीं।"—स्थविर ने आश्वासन दिया।

आस्थानागार में बहुत समय तक स्तब्धता छाई रही। उसके पश्चात् स्थविर उठ खड़े हुये। आज्ञा ले और आशीर्वाद दे, वे पृथुसेन सहित सिंहद्वार की ओर चले जा रहे थे। आचार्य रुद्रधीर ग्रीवा झुकाये चिन्तामग्न बैठे रहे।

आचार्य को चिन्तित देख उनके अनुज वसुधीर ने निवेदन किया—"आर्य, शत्रु के दैन्य स्वीकार कर लेने से युद्ध का अन्त हो जाता है। यह वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा है।"

रुद्रधीर ने अनुज की ओर देखा परन्तु उनकी दृष्टि में संतोष न था।

१२

मल्लिका

मद्र के गणराज्य और सागल नगरी से हीनवर्ग की उच्छृङ्खलता दूर हो, द्विज-कुलवर्ग की मर्यादा पुनः स्थापित होने से देवी मल्लिका को भी संतोष हुआ। देवी ने अपने चतुश्शाल में पुनः परिपाटि से कला के अनुष्ठान का आयोजन किया। कला का अनुष्ठान और परिपाटि स्थापित होने पर भी कला की वह सजीवता न आ सकी जो स्वयम् उनके यौवन काल में और दिव्या, मादुलिका आदि शिष्याओं के सहयोग से थी।

देवी मल्लिका स्वयम् यह अभाव अनुभव करतीं। आदर अवश्य था परन्तु आकर्षण नहीं। कला के नियम थे परन्तु उनकी ग्राह्यता नहीं। सुन्दर पिंजरा था परन्तु सारिका निश्प्रभ थी। अनुभवी संगीताचार्य माद्रुल, आपित और लोमक अपने वृद्ध कण्ठों से षड्ज की शुद्ध लयें उठाते। वृद्ध नट उद्म्बर अपने अस्थिपिंजर मात्र शरीर से अनेक कठिन, दुस्साध्य मुद्राओं का प्रदर्शन कर भाव बोधन करते। उन्हीं की भाँति मर्मज्ञा वृद्धा नर्तकी पृथा थीं।

इस कला का रस पाने के लिये ज्ञान, प्रयत्न और संस्कार की आवश्यकता थी। जैसे समाधि और ध्यान का आनन्द केवल अभ्यास से पाया जा सकता है। वह कला रूप और स्वर की सम्मोहक शक्ति से विलग, शुद्ध कला थी; परन्तु साधारण जन की दृष्टि में कला का निर्जीव

उपचार मात्र। जन के लिये उस कला की अनुभूति उतनी ही दुस्साध्य थी जैसे शरीर के बंधन से मुक्त आत्मा का ज्ञान। रसिक समाज आदर मल्लिका का करता परन्तु संतोष ढूँढता था वसुमित्रा और कुसुम सेना के यौवन से किलकते चतुश्शालों में। दूर देश से ज्ञानी अब भी विमर्ष के लिये देवी मल्लिका की ही कलापीठ में पधारते।

पृथुसेन के पराभव के पश्चात मादुलिका ने आशा से मल्लिका की ओर देखा। मल्लिका ने उसे पुनः स्वीकार न किया—जिसे कला की अपेक्षा विलास-सुख ने आकर्षित किया, उसके हाथ में कला शुद्ध और सम्मानित नहीं रह सकती। मादुलिका से विरक्त हो देवी का मन और भी व्यग्र हो उठा। धर्म की पुनः स्थापित व्यवस्था में कला की पीठ क्या योंही उपेक्षित रह जायगी? सम्पूर्ण जीवन के प्रयत्न और साधना से कला के लिये जिस सम्मान और शक्ति के अधिकार की स्थापना वे कर पाई थीं, वह क्या उनके शरीर के साथ ही लोप हो जायगी। जनपदकल्याणी का आसन क्या अनाधिकारी और अपात्र से अपमानित होगा? यह पीड़ा अपने नेत्रों के सम्मुख निर्वश होने के समान थी।

देवी मल्लिका को अपने वैभव से मोह न था। वह वैभव उनके विश्वास में कला की अधिष्ठातृ का सम्मान मात्र था। वह स्वयम् कला थीं। इसीलिये सम्मान की अधिकारी थी। धन और द्रव्य का अर्जन मल्लिका ने न किया था। अर्जन किया था, कला की सफलता के यश और कीर्ति का। द्रव्य उस यश और कीर्ति की छाया रूप था।

यौवन में केवल एक सन्तान देवी ने अपनी कला की उत्तराधिकारिणी की आशा से उत्पन्न की थी। रूपवती कन्या का वरदान पा, उन्होंने अपना शरीर देवी सरस्वती के अर्पण कर, कला में शैथिल्य की आशंका से गर्भ न धारण करने की प्रतिज्ञा करली। निष्ठुर दैव ने उनकी सन्तान छीन ली। परन्तु देवी ने अपनी प्रतिज्ञा भंग न की। दैव ने भक्त की उपेक्षा की परन्तु भक्त की निष्ठा दृढ़ रही।

देवी मल्लिका को दैव के इस विधान में कुछ भी विपरीत न जान पड़ा। उन्होंने विचारा-सरस्वती का उत्तराधिकार गर्भ से नहीं, मुख से होता है। वैसे ही दैव को उनका उत्तराधिकार गर्भ की सन्तान में नहीं, आत्मा की सन्तान में देना स्वीकृत है। उनकी आत्मा की अनेक सन्तानें, गोपा तक्षशिला में, सुलेखा मगध में और रत्नप्रभा मथुरापुरी में उनकी कीर्ति ध्वजा फहरा रही थीं। दूरदेश व्यापी कीर्ति से आकर्षित हो, कला के उद्गम तीर्थ, सागल की यात्रा करने वाले अब वहाँ क्या पायेंगे? देवी मल्लिका का शरीर वेदना से सिहिर उठता। मादुलिका से उन्होंने आशा की थी परन्तु वह अपात्र निकली।

वीणापाणि देवी सरस्वती के वरदान में निष्ठा दृढ़ कर उन्होंने पुनः अपनी उत्तराधिकारिणी पाने का निश्चय किया। उन्हों ने निश्चय किया, अधिकारी की खोज में वे जम्बूद्वीप के सुदूर प्रदेशों और जनपदों की यात्रा करेंगी। दूर देश से आये सार्थवाहकों, पर्यटकों और यात्रियों से वे अनेक प्रदेशों की कलासाधिकाओं के विषय में जिज्ञासा करतीं। तक्षशिला, मालव, मगध, मथुरापुरी और दक्षिणापथ के सम्बन्ध में संवाद से जितना भी ज्ञातव्य था, उन्होने जाना। सब से अधिक कीर्ति उन्होंने रत्नप्रभा की शिष्या अंशुमाला की ही सुनी।

देवी मल्लिका स्मरण करतीं—रत्नप्रभा में प्रतिभा और निष्ठा दोनों ही थीं। परन्तु चार वर्ष से उसकी कीर्ति विशेष उज्ज्वल हो उठी। कारण—अंशुमाला जैसी शिष्या प्राप्त करने का सौभाग्य। ऐसी शिष्या पाने वाले गुरु से अधिक भाग्यशाली कौन होगा? ऐसी शिष्या जो गुरु से पाये ज्ञान के स्फुल्लिङ्ग को ज्योतिर्मय ज्वाला का रूप देदे। मगध से लौटते समय आचार्य रुद्रवीर के मथुरापुरी में निवास करने के अनुमान से मल्लिका ने उनसे अंशुमाला के विषय में जानना चाहा। आचार्य उस विषय में कुछ अधिक कह नहीं सके।

इस विषय में आचार्य के मौन से मल्लिका ने अनुमान किया—

"नीरस शुष्क प्रकृति आचार्य का कला के विषय में प्रवेश ही कितना है ! जो भी हो, वृद्धावस्था में स्वयम् कष्ट सह कर वह अपने उत्तराधिकारी की खोज करेंगी।

वृद्धावस्था में पुण्यार्थ तीर्थाटन के व्याज से देवी मल्लिका अपने आसन के उत्तराधिकारी की खोज में, अनेक तीर्थों, प्रदेशों, जनपदों और नगरों की यात्रा करतीं, अनेक स्थानों के कलापीठों को देखतीं शूरसेन देश की ओर चलीं। ज्यों ज्यों वे मथुरापुरी के समीप पहुँच रहीं थीं, अंशुमाला की कीर्ति अधिक उज्ज्वल हो रही थी। देवी मल्लिका को विश्वास था, नटराज के धाम में उनकी मनोकामना अवश्य पूर्ण होगी।

* * *

मद्र की जनपदकल्याणी, कलाकी अधिष्ठातृ, सागल की राजनर्तकी देवी मल्लिका के आगमन के समाचार से मथुरापुरी आह्लाद और उत्साह से विलोडित हो उठी। पूर्वाभिमुख यमुना की प्रतिद्वन्दिता में जनप्रवाह पश्चिम की ओर बह चला। देवी रत्नप्रभा के प्रासाद से नगर के पश्चिमद्वार तक राजपथ कदली-तोरणों, कलश-स्तम्भों, पताकाओं, आम-जामुन के पत्तों के बन्दनवारों और पुष्पमालाओं से ढंक गया। भवनों अट्टालिकाओं और पण्यों की भित्तियाँ, द्वार और स्तम्भ रंगीन कौशेय पटों में छिप गये। राजपथ धान्य और यव की खीलों और लेखनों से बिछ गया। पथ का आतावरण अगरू, धूप-लोबान और चन्दन के धूआ से धूमिल और सुवासित हो गया। अट्टालिकाओं के गवाक्ष और अलिन्द दर्शक समूह के भार से चरमराने लगे। स्थान-स्थान से वीणाओं, पिप्पणियों, काँस्यतालों, मुरजों और मृदंगों के स्वर उठ आकाश मुखरित होगया।

देवी रत्नप्रभा, अंशुमाला और दूसरी शिष्याओं, राजपुरुषों, सामन्तों और श्रेष्ठियों सहित गुरूदेवी की अभ्यर्थना के लिये नगरद्वार

पर उपस्थित थीं। धूली के मेघों में मल्लिका के रथ की मकर चिह्नधारी पताका दिखाई देने पर स्वागत के वाद्य और शंख बज उठे। जन के जयघोष से नभ कम्पित होगया।

देवी मल्लिका के रथ से उतरने पर रत्नप्रभा ने स्वर्ण के आधार पर रखे एक सौ घृत-दीपों से गुरुदेवी की आरती उतारी और रत्नों से भरा थाल भेंट किया।

मुस्कान से रत्नों की भेंट अस्वीकार कर देवी ने उत्तर दिया—"पुत्री, कला का भक्त अन्य स्थान से प्रकाश पाकर द्युतिमान होनेवाले रत्नों की इच्छा नहीं करता। वह स्वयम् आभा उत्पन्न करने वाले रत्नों का आदर करता है। आज मैं गुरुदक्षिणा में अथवा भिक्षा में वही रत्न माँगने आई हूँ।"

रत्नप्रभा की ग्रीवा विचार में झुक गई। उपस्थित विशिष्ट समाज स्तम्भित रह गया। बद्धपाणि रत्नप्रभा ने मस्तक झुका विनय की—"माता, दासी जो कुछ है, दासी का जो कुछ है, वह सब भगवती का दान है। जो आज्ञा हो!"—जानुपृथ्वि पर टिका रत्नप्रभा ने सिर मल्लिका के चरणों पर रख दिया।

मुक्ता से गुथे रत्नप्रभा के केशों पर हाथ रख मल्लिका ने आशीर्वाद दिया—"सरस्वती की पुत्री, तुम्हारे ज्ञान, यश, और वैभव का सौभाग्य अचल रहे। तुम्हारी गुरू अपनी शिष्या की शिष्या, अंशुमाला को भिक्षा में माँगने आई है।"

रत्नप्रभा उठी। अपने पीछे खड़ी अंशुमाला को शिशु की भाँति बाहों में ले, मल्लिका के चरणों में बैठा, हर्षातिरेक से गद्‌गद् स्वरमें वह बोली—"माता, वह भी तुम्हारी ही है। ज्ञान का यह वरदान देने का सामर्थ्य साक्षात् सरस्वती के अतिरिक्त और किसमें है?"

चारों ओर मुक्त कंठ से जय-जय की पुकार, जय-वाद्य तथा शंख नाद का तुमुल स्वर उठने लगा। उस कोलाहल के मध्य में अपने

चरणों से अंशुमाला का मस्तक उठा, मल्लिका ने चिरकाल में पूर्ण हुई अपनी साध का मुख देखा। देवी मल्लिका के नेत्र विस्मय से विस्तृत रह गये, श्वास रुकने लगा और सहसा नेत्रों से जलधार बह उठी।

अंशुमाला को अत्यन्त गूढ़ आलिंगन में हृदय पर समेट मल्लिका क्रन्दन कर उठी—"दिव्या, दिव्या! मेरी पुत्री, मेरी आत्मा की सन्तान···!"

रत्नप्रभा के लिये अंशुमाला का वियोग सर्वस्व त्याग था। परन्तु जैसे कन्या की माता पुत्री को पति के घर के लिये विदा करते समय मर्मान्तक वियोग को उत्सव का रूप देती है, उसी प्रकार रत्नप्रभा ने अपनी सखी, भगिनी, पुत्री अंशुमाला को, उसके उज्ज्वल भविष्य के विश्वास से देवी मल्लिका के करों में समर्पण करने का आयोजन किया।

नेत्रों से जल बहाती वह उसे नगर द्वार तक विदा देने गई। विराट समाज पथ के दोनो ओर एकत्र था। अंशु के वियोग से सम्पूर्ण मथुरापुरी दुखित थी परन्तु जम्बूद्वीप मात्र में अग्रगण्य, कलाकी अधिष्ठातृ देवी मल्लिका को संतुष्ट कर पाने का गर्व भी उन्हें था। रसिक भक्तों और अनुरागियों द्वारा भेंट किये रत्नाभूषण से अंशु का रथ भर गया।

रत्नप्रभा मल्लिका के बेगवान रथों से उड़ती धूली के मेघों में अस्पष्ट होती मल्लिका के रथ की मकर-ध्वजा को नेत्रों पर हाथ रखे देखती रही। मानो-मार्ग पर दूर हो, प्रतिक्षण क्षीण होते जाते, उस बिन्दु में ही उसके प्राण समाये थे।

दृष्टि असमर्थ हो उस बिन्दु के अदृष्य होजाने पर वह मुक्तावली के कंधे के सहारा लिये निर्जीव और जड़ के समान रह गयी। समीप ही उपस्थित परम भट्टारक, उपरिक रविशर्मा ने अपने हाथ के करुण स्पर्ष से उसे सचेत कर स्वयम् रथ पर चढ़ाया। रत्नप्रभा उत्तरीय में मुख छिपाये अपने प्रासाद की ओर लौटी।

१३

दिव्या

तीर्थ-यात्रा के पुण्य से अपनी कला की पीठ की उत्तराधिकारिणी खोजने में सफल मनोरथ हो देवी मल्लिका के सागल नगरी में लौट आने से साधारण जन और अभिजात समाज दोनों ही अत्यन्त पुलकित और उत्साहित हुये।

देवी मल्लिका को संतुष्ट करने में समर्थ नारी-रत्न के दर्शनों के लिये सागल का समाज व्यग्र हो उठा। दूरवर्ती नगरों और ग्रामों से भी अनेक रसिक और कलाविद पधारने लगे। उस रमणी-श्रेष्ठ के दर्शन पाने के लिये देवी के प्रासाद में समाज के समय विराट जन समूह एकत्र हो जाता। कंधे से कंधे भिड़ते रहते और आसन के लिये स्थान पाना कठिन हो जाता। परन्तु नवागन्तुक उत्तराधिकारिणी के दर्शन कोई न पा सका। वह देवी के अन्तःपुर में रहती।

मल्लिका ने घोषणा की—अपनी उत्तराधिकारी कला की अधिष्ठातृ का अभिषेक वह फाल्गुन की पूर्णिमा के शुभ-पर्व पर करेगी। तभी जन उसका दर्शन पा सकेगा। एक मास की वह प्रतीक्षा सागल के जन समाज के लिये अत्यन्त अधीरता पूर्ण थी।

देवी मल्लिका ने एक विराट बलियज्ञ का अनुष्ठान देवताओं

की तुष्टि के लिये किया। उस यज्ञ में एक सौ विद्वान याज्ञिकों ने स्वस्तिवाचन किया और पुरोहित का आसन, मल्लिका के अनुरोध से, धर्म के व्यवस्थापक, गणपरिषद् के महाअमात्य, महापण्डित, महाआचार्य रुद्रधीर ने ग्रहण किया।

अभिषेक का आयोजन रजत-पुष्करणी के तट पर हुआ। वेदी के सम्मुख विस्तृत अर्धचन्द्राकार पंक्तियों में सामन्तगण, द्विजकुलपति, अभिजात समाज और गणपरिषद के सदस्यों और कुलनारियों के लिये आसन थे। केन्द्र में सिंहासन पर महासामन्त परम भट्टारक, श्री देव सर्वार्थ और उनके समीप महामात्य, महाआचार्य रुद्रधीर शोभायमान थे। उसके पश्चात सागल के वनिक वर्ग, अग्र श्रेष्ठियों, श्रेणी जेठ्ठकों और अन्तरायण के जेठ्ठकों और उनके परिजन के लिये स्थान था। तदनन्तर सैनिक वर्ग और सर्व साधारण जन का सागर दृष्टि की सीमा तक उत्सुकता से उमड़ रहा था। कौतूहल का दमन न कर सकने के कारण अनेक वीतराग भिक्षु भी अपने कषाय चीवरों में उपस्थित थे।

वेदज्ञ ब्राह्मणों ने स्वस्त्ययन किया। नगर की प्रधान नर्तकियों और मल्लिका की शिष्याओं ने मंगलाचरण और स्वागत उपचार किया। दैवज्ञ ब्राह्मण ने देवी मल्लिका की उत्तराधिकारिणी के लिये अमर कीर्ति की भविष्यवाणी की।

शुभ-लग्न में श्वेत पुष्पों से आच्छादित शिविका में कला की नवीन अधिष्ठातृ वेदिका पर उपस्थित हुई। मल्लिका ने अपने वत्सल करों से स्वयम् अपनी उत्तराधिकारिणी को शिविका से उतार, अपने आसन पर आसीन किया। शुभ अवसर के लिये मल्लिका ने अपने करों से अपनी उत्तराधिकारिणी का शृंगार किया था। उसका मुख मण्डल मुक्तावलियों के शेखरों में अदृश्य था। जन समूह चरम उत्सुकता से उत्सव का अनुष्ठान समाप्त होने की प्रतीक्षा कर रहा था।

वेदपाठी ब्राह्मण ने मंत्रपूत अक्षत, चन्दन, दूर्वा और रोली पात्र में

मल्लिका के सम्मुख उपस्थित किये। देवी मल्लिका ने अपने दक्षिण कर की मध्यमा अंगुली से रोली और अक्षत ले, मुक्तावलियों के शेखरों के अन्तराल में उत्तराधिकारिणी के मस्तक पर तिलक कर दिया।

शंख, भेरी, तुरही और नगाड़ों की ध्वनि से आकाश गूँज उठा। सम्भ्रान्त विशिष्ट जन अपने आसनों से उठ, नव जनपदकल्याणी के प्रथम दर्शन की भेंट अभिषेक के आसन के सम्मुख रखने लगा।

अभिषेक-तिलक कर देवी मल्लिका ने नतजानु हो कला की नवीन अधिष्ठातृ के चरणों की वन्दना की। आतुर और व्यग्र जन चारों ओर से अभिषिक्त जनपदकल्याणी के दर्शनों के लिये कोलाहल कर रहा था। मल्लिका के संकेत से चारण ने शंखनाद किया। जन सहसा स्तब्ध हो गया। देवी ने अपनी उत्तराधिकारिणी के मस्तक से मुक्तावली का शेखर दूर कर, जन को उसका दर्शन दिया और स्वयम् जन के सम्मुख वन्दना के लिये नतजानु हो, मस्तक झुका दिया।

जन समूह श्वास रोके, स्तब्ध नवीन जनपदकल्याणी की ओर दृष्टि लगाये था।

कुछ पल तक स्तब्धता रहने के पश्चात अभिजातवर्ग की पंक्तियों से अस्पष्ट, अस्फुट गुंजनसा उठने लगा—"तात् धर्मस्थ की प्रपौत्री··· विष्णु शर्मा की पौत्री·····दिव्या·····द्विजकन्या·····कुलकन्या ·····विप्र कन्या·····!"

जन की वन्दना से मस्तक उठा मल्लिका ने देखा—सामन्तवर्ग और अभिजात समाज की पंक्तियाँ विशृंखल हो रही थीं। क्षण भर में एक ललकार सुनाई दी—"मद्र में द्विजकन्या वेश्या के आसन पर बैठ, जन के लिये भोग्य बन, वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती!"—आचार्य भृगु शर्मा ऊर्ध्वबाहु खड़े हो आवेश से काँप रहे थे।

पर्वत श्रेणियों से आवेष्टित उपत्यका में मेघ की गर्जना के समान वही ललकार सब ओर से प्रतिध्वनित होने लगी। अभिजात वर्ग

की पंक्तियों में नरमुण्डों के ऊपर कुछ खड्ग दिखाई देने लगे और फिर अनेक।

देवी मल्लिका स्तब्ध, अवाक, निश्पलक खड़ी रहीं। चारों ओर बढ़ते जाते तुमुल कोलाहल से वे हतज्ञान हो गईं।

दिव्या अपने आसन से उठ, शान्त पदों से जन की ओर आ, वेदी की सीमा पर खड़ी हो गईं। उसका हाथ मौन के संकेत में उठा। कोलाहल सहसा शान्त हो गया। उसका स्वर सुनाई दिया—"जन समाज और कुलवर्ग सुनें, मैं इस विषय में धर्मव्यवस्थापक, नीतिविद, महापण्डित, महाआचार्य रुद्रधीर का निर्णय जानना चाहती हूँ।"

जन समाज और कुलवर्ग की दृष्टि महामात्य के आसन पर आसीन रुद्रधीर की ओर गई। आचार्य मौन थे। उनके उत्तर की प्रतीक्षा में जनसागर मौन था। उठे हुये खड्गों का समूह निश्चल था। आचार्य के मौन से जन समाज अधीर होने लगा। उस समय विचार में मस्तक झुकाये आचार्य का क्षीण स्वर सुनाई दिया—

"वर्णाश्रम की व्यवस्था त्रिकाल में सत्य है।"

दिव्या उस निर्णय को मनस्थ करने के प्रयत्न में क्षण भर आचार्य की ओर निश्पलक देखती रही। मौन स्वीकृति के संकेत में उसने सिर झुका दिया। वेदी से उतर वह एक ओर चल दी।

राजहंसिनी के सम्मुख फटती जाती सरोवर की काई के समान जन समूह उसके लिये मार्ग देता जा रहा था। दिव्या मस्तक ऊँचा किये, किसी ओर न देख, चली जा रही थी।

* * *

अभिषेक की वेदी से उतर, निराश्रय दिव्या अप्सरा के वेश में सागल के राजपथों पर पैदल चली जा रही थी। कौतूहल का दमन न कर सकने के कारण विराट जन समूह उससे कुछ अन्तर पर, पीछे-पीछे चला जा रहा था। दिव्या ने घूमकर उस ओर न देखा। हंसो के

समूह के सम्मुख वह नेता-राजहंस की भाँति, निश्चल ग्रीवा उठाये चली जा रही थी।

दिव्या नगर के बाहर आ गई। सूर्यास्त हो चुका था। संध्या-आरम्भ में चन्द्र की निस्तेज ज्योत्सना फैल रही थी। उस क्षीण आलोक में उसने पूर्व दिशा में दिगन्त तक फैले मार्ग की ओर देखा और फिर श्रान्ति का एक निश्वास ले, नगर द्वार के बाहर बनी पान्थ-शाला की ओर। रात्रि में दीर्घ पथ पर अकेले यात्रा करने की दुविधा में दिव्या क्षण भर मार्ग पर खड़ी रही और फिर रात्रि पान्थशाला में व्यतीत करने के विचार से उस ओर मुड़ गई।

रात्रि में नगरद्वार मुंद जाने के पश्चात् द्वार पर पहुँचने वाले यात्री इस स्थान पर रात्रि बिताते थे। प्रातः सूर्योदय से पूर्व यात्रा आरम्भ करने की इच्छा रखने वाले यात्री भी संध्या समय ही वहाँ आ टिकते थे।

पान्थशाला के द्वार से दिव्या आँगन में होती हुई अलिन्द पार कर, एक अंधियारे कक्ष में जा बैठी। कौतूहल से उसके पीछे-पीछे चला आनेवाला जन समूह शनैः शनैः आँगन में भरने लगा। आँगन मधुछत्र की भाँति गुंजायमान हो उठा। आँगन में स्थान न रह जाने पर जन पान्थशाला के प्राचीर को घेर कर एकत्र होने लगा। कौतूहल अधीरता, विरोध और समवेदना से प्रेरित हो जन अनेक प्रकार के प्रसंग अभिषेकच्युत, राजनर्तकी के सम्बन्ध में उठा, परस्पर ऊँचे स्वर में वाद-प्रतिवाद कर रहा था।

पान्थशाला का रक्षक राजपुरुष उस अव्यवस्था से खिन्न हो, जन को पान्थशाला का मार्ग और आँगन पथिकों के लिये छोड़ देने के लिये ऊँचे स्वर में आग्रह कर रहा था परन्तु उसकी बात जनरव में अनसुनी हो रह जाती। पान्थशाला का द्वार मूंद देना भी सम्भव न रहा।

जन समूह के समीप आ एक भिक्षु ने ऊँचे स्वर में पुकारा—"हे

नागरिको, समाज से प्रताड़ित दुखी नारी के समीप जाने का मार्ग मुझे दो ! उस अभिषेकच्युत राजनर्तकी के समीप जाने का मार्ग मुझे दो। हे नागरिको, मैं उस क्लेशिता को शान्ति देने आया हूँ।" उस भिक्षु की पुकार भी उस कोलाहल में अनसुनी ही रह गई।

सूर्यास्त और चन्द्रोदय के मिश्रित क्षीणालोक में पूर्वीमार्ग से एक पथिक चला आ रहा था। पान्थशाला को घेरे जनसमूह को देख और कोलाहल सुन, उसके द्रुत पग शिथिल हुये और रुक गये। पथिक के सिर, मुख, वस्त्रों और पाँव पर जानु तक चढ़ी धूल, उसके दिन भर राजमार्ग पर पैदल चलने का प्रमाण थी। पथिक ने क्षीण आलोक में अपने नेत्रों पर बल देकर जन समूह को देखा और कानों को सतर्क कर कोलाहल का अर्थ समझने का यत्न किया। केवल भिक्षु की पुकार उसे स्पष्ट सुनाई दे रही थी।

मार्ग छोड़, पान्थशाला को घेरे जन समूह की ओर आ, पथिक ने समूह को सम्बोधन किया–"हे सागल के सौम्यनागरिको, क्या मथुरा-पुरी से आनेवाली नर्तकी अंशुमाला का अभिषेक पूर्ण हो गया ? वह अभिषेक देखने की कामना से ही मैं द्रुत वेग से पैदल चला आ रहा हूँ। क्षमतर्थ भर वेग से चलकर भी मैं इससे पूर्व सागल न पहुँच सका। सौम्य नागरिको, पथिक को समाचार दो, क्या अंशुमाला के अभिषेक में विघ्न पड़ गया ? नागरिको, अंशुमाला का कुछ अनिष्ट तो नहीं हुआ ?"

व्यस्त जन समूह में से एक व्यक्ति ने उसकी ओर ध्यान दिया— "ओह ! मूर्तिकार, दार्शनिक मारिश ?···कौन अंशुमाला ?···द्विज कन्या ? यशस्वी धर्मस्थ देव शर्मा की प्रपौत्री ? दिव्या ने सागल की राज-नर्तकी के पदकी कामना की थी। वर्णाश्रम की व्यवस्था से अभिषेक-च्युत हो, दिव्या ने नगर छोड़, इसी पान्थशाला में शरण ली है। क्या तुम इसी क्षण·····"

पथिक शेष बात अनसुनी कर पान्थशाला के द्वार की ओर बढ़ गया।

भिक्षु और पथिक दोनों ही विराट समूह को भेद कर पान्थशाला के द्वार की ओर बढने का यत्न कर रहे थे। मार्ग पाने के लिये वे जन से अनुरोध कर रहे थे। पथिक पुकार रहा था—"हे सौम्य नागरिको, मुझे पान्थशाला का मार्ग दो। हे भद्र नागरिको, मुझे पान्थशाला का मार्ग दो, मैं उस पीड़ित नारी को सान्त्वना दूँगा। हे नागरिको, मुझे मार्ग दो, मैं उस नारी के लिये शूरसेन से पैदल चलकर इसी क्षण यहाँ पहुँचा हूँ!"

भिक्षु पुकार रहा था—"नागरिको, मैं प्रताड़ित नारी को धर्म की शरण में ले शान्ति देने आया हूँ, मुझे मार्ग दो!"

व्यग्र जन समूह न भिक्षु की, न पथिक की और न पान्थशाला के रक्षक की पुकार सुन पा रहा था। आँगन के सीमित स्थान में समूह इस प्रकार भर गया था कि किसी के लिये भी हिल सकना सम्भव न था।

सहसा नगरद्वार के तोरण से घड़ियाल बजने का शब्द सुनाई दिया। तोरण पर खड़े हो एक राजपुरुष ने चेतावनी दी—"नगर-द्वार मुंदने का समय हो गया। नगरप्राचीर के भीतर शरण चाहने वाले द्वार प्रवेश करें!"

पान्थशाला के आँगन से जनप्रवाह वेग से द्वार की ओर और पान्थशाला के द्वार से नगरद्वार की ओर बह चला। उस प्रवाह को भेद पाने में असमर्थ होने के कारण पथिक और भिक्षु के पद पीछे की ओर पड़ने लगे।

उसी समय एक तूर्य के शब्द से जनका कोलाहल स्तब्ध हो गया। नगरद्वार की ओर बढ़ता जन समूह स्थिर होगया। नगरद्वार से चार दीपदण्डधारी अश्वारोही प्रकट हुये और उनके पीछे तूर्य बजाते हुये एक अश्वारोही ने आ समूह को सम्बोधन किया—"श्री गणपरिषद के महामात्य, धर्मव्यवस्थापक, भट्टारक रुद्रधीर के लिये जन मार्ग दे।"

जन ने जयघोष से आचार्य का अभिवादन किया। तुरंत मार्ग होगया। आचार्य रथ से उतरे। पान्थशाला के रक्षक राजपुरुष ने नतजानु हो उन्हें प्रणाम किया। गम्भीर स्वर में आचार्य बोले—"पान्थशाल में आनेवाली नर्तकी कहाँ है ? रक्षक, मार्ग दिखाओ !"

पान्थशाला का रक्षक मार्ग दिखाता हुआ अलिन्द की ओर बढ़ा। स्तब्ध जनसमूह काष्ठ की मूर्तियों के समान निश्चल था। परन्तु भिक्षु और मथुरापुरी से आया पथिक मारिश, अवसर पा आचार्य के पीछे-पीछे चले।

चारों दीपदण्डधारी कक्षा के चारों कोनों में खड़े होगये। अंधियारा कक्षा प्रकाश से जगमगा उठा। दिव्या अप्सरा के वेश में भित्ति का सहारा लिये भूमि पर बैठी थी। मस्तक उठा उसने आगन्तुकों की ओर देखा। वह निश्चल बैठी रही। द्वार से झाँक रहा जन समूह विस्मय में मौन था। स्थिर नेत्र उठा दिव्या ने आचार्य से प्रश्न किया—"इस प्रताड़िता के लिये अब क्या आज्ञा है ?"

भूमि पर बैठी दिव्या के सम्मुख कंचुकी द्वारा बिछाया आसन ग्रहण कर आचार्य बोले—"देवी, तुम्हारा स्थान नर्तकी-वेश्या के आसन पर नहीं। तुम कुलकन्या हो। तुम्हारा स्थान कुलवधु के आसन पर, कुल माता के आसन पर है। आचार्य रुद्रधीर देवी को आचार्य-कुल की महादेवी के आसनपर स्थान देने के प्रयोजन से उपस्थित है। देवी, अपना आसन स्वीकार कर आचार्य को कृतार्थ करो !"

निश्चलक दृष्टि आचार्य के मुख पर स्थिर किये दिव्या ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—"आचार्य, कुलवधु का आसन, कुलमाता का आसन, कुलमहादेवी का आसन दुर्लभ सम्मान है। यह अकिंचिन नारी उस आसन के सम्मुख आदर से मस्तक झुकाती है। परन्तु आचार्य कुलमाता और कुलमहादेवी निरादरित वेश्या की भाँति स्वतंत्र और आत्मनिर्भर नहीं। ज्ञानीआचार्य, कुलवधु का सम्मान, कुलमाता

का आदर और कुलमहादेवी का अधिकार आर्य पुरुष का प्रश्रय मात्र है। वह नारी का सम्मान नहीं। उसे भोग करनेवाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान है। आर्य, अपने अस्तित्व का त्याग कर ही नारी वह सम्मान प्राप्त कर सकती है। ज्ञानी आर्य, जिसने अपना अस्तित्व त्याग दिया, वह क्या पायेगा ? आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी। स्वत्वहीन हो वह जीवित नहीं रहेगी !"

अपनी असीम क्षमता को असमर्थ अनुभव कर, आचार्य दिव्या की कठिन मूर्ति की ओर विवश दृष्टि किये मौन बैठे रहे।

उस समय आचार्य के आसन के समीप आ भिक्षु ने पुकारा—"आर्ये, मैं तथागत का सेवक भिक्षु पृथुसेन समाज से प्रताड़ित नारी को तथागत की शरण में ग्रहण करने के लिये उपस्थित हूँ।"

दीपदण्डों के प्रकाश में सम्मुख खड़े कषाय चीवरधारी भिक्षु का स्वर सुन और उसका परिचय पा दिव्या के नेत्र फैल गये। एक कम्पन सा उसके शरीर पर अनुभव हुआ। एक गहरे श्वास से उसका वक्ष ऊपर उठा और फिर वह भिक्षु की ओर दृष्टि लगाये निश्चल होगई।

आशीर्वाद की मुद्रा में हाथ उठा भिक्षु पृथुसेन बोला—"देवी, तथागत की कृपा से तुमने आसक्ति और मोह के भ्रम को जाना है। देवी, शान्ति वैभव में नहीं, शान्ति प्रभुता में नहीं, शान्ति तृप्ति में नहीं। देवी, शान्ति वैराग्य से प्राप्त इच्छा और कर्म से मुक्ति में है। देवी, चिरन्तन सुख केवल निर्वाण में है। देवी, संसार का कोई दुख निर्वाण के आनन्द को क्षुब्ध नहीं कर सकता। देवी, संसार के पीड़ित, समाज से प्रताड़ित बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में शान्ति पाते हैं। देवी, उस अपार करुणा की शरण ग्रहण करो।"

क्षण भर के लिये मौन दिव्या की दृष्टि धुंधली हो गई। दीपदण्ड से प्रकाशित कक्ष में अधिकार और शक्ति की प्रतिमा महामान्य रुद्रधीर और कषाय चीवरधारी भिक्षु उसकी दृष्टि से लोप हो, मथुरापुरी के

महाबोधि विहार के मुंदे पटों के सम्मुख, अश्वत्थ वृक्ष के नीचे, सन्तान गोद में लिये अशरण, आर्त नारी भगवान बुद्ध, धर्म और सङ्घ के शरण की भिक्षा माँगती दिखाई देने लगी।

दिव्या के नेत्र पुनः दीप्त हो गये। काम्पित स्वर में दिव्या ने प्रश्न किया—"भन्ते, भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है?"

धीर स्वर में भिक्षु ने उत्तर दिया—"देवी, भिक्षु का धर्म निर्वाण है। नारी प्रवृत्ति का मार्ग है। भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है।"

"भन्ते, अपने निर्वाण धर्म का पालन करें"—दिव्या ने मन्द परन्तु दृढ़ स्वर में उत्तर दिया—"नारी का धर्म निर्वाण नहीं, 'सृष्टि' है। भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दें।"

पूर्व देश से आये पथिक ने भिक्षुक के समीप आ पुकारा—"मैं मारिश, देवी के सामीप्य के लिये ही मथुरापुरी से सागल आया हूँ।"

दीपदण्ड के प्रकाश में दिव्या के नेत्र पुनः विस्मय और जिज्ञासा से फैल कर चमक उठे। धूलि धूसरित पथिक बोला—"मारिश देवी को राजप्रासाद में महादेवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता। मारिश देवी को निर्वाण के चिरंतन सुख का आश्वासन नहीं दे सकता। वह संसार के सुख-दुख अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है। वह संसार के धूलिधूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति दे सकता है।·····सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है।"

भूमि पर बैठी दिव्या ने भित्ती का आश्रय छोड़ दोनो बाहु फैला दिये। उसका स्वर आर्द्र हो गया—"आश्रय दो आर्य!"

शब्दार्थ

अ

अधिष्ठातृ—कला की अधिष्ठातृ कला की रक्षक, कला की प्रधान।

अभिजात—कुलीन, जन्म से श्रेष्ठ।

अग्रश्रेष्ठि—बड़ा सेठ, मुख्य सेठ।

आरोही—सवार।

अन्तरवासक—धोती, तहमत।

आजानु—घुटने तक।

अंगद—अनन्त, बाजूबन्द।

अधोभाग—नीचे का हिस्सा।

अश्वारोही—घुड़सवार।

आयुष्मान—चिरंजीव।

अश्वत्थ—पीपल वृक्ष।

अभिसंधि—षड्यंत्र, तिकड़म।

आस्थानागार—दरबार का स्थान।

अर्घ्य—अतिथि के आदर अथवा पूजा के लिये वस्तु।

अतिरंजित—बढ़ाकर कहना।

आस्यताम्—पधारिये!

आपानक—मिलकर शराब पीना।

अभिधर्म—बौद्धधर्म, श्रेष्ठधर्म।

अग्रज—पहले उत्पन्न, आयु में बड़ा।

अलम—बस, काफ़ी है, बोलो मत।

अंक—गोद।

अग्रहार—जागीर।

अर्गला—रुकावट, अरगड़ा, पटेला।

आयुधजीवी—नौकरी पेशा सैनिक।

आस्तरण—दरी, कालीन।

अन्तरायणपण्य—मण्डी का बाज़ार।

अर्हत—ज्ञानी, सिद्ध।

अपदस्थ—पद से गिरा हुआ।

अनुपार्जित—बिना कमाया हुआ।

अलिन्द—बरामदा, छज्जा।

अध्वर्यु—यज्ञ अथवा बलि के समय प्रधान पुरोहित।

अग्निमुख—जिस मुख से सदा सत्य ही निकले, जिसकी वाणी में शक्ति हो।

इ

इतरजन—साधारण जन, ऐसे वैसे।

ईषत्—बहुत थोड़ा।

उ

उष्णीष—पगड़ी।

उत्तरीय—दुपट्टा, कंधे पर रखने का वस्त्र।

ऊर्ध्वबाहु—बाँह उठाये।

उडगण—तारे।

उपालम्भ—ताना।

उपान्त—नगर का बाहिरी भाग।

उपरिक—वायसराय, प्रतिनिधि।

उपायन—भेंट।

उपजीविका—जीविका का साधन।

उद्रेक—मन का आवेग।

उपकरण—साधन।

ऋ

ऋतुकालीन—काम की इच्छा से सम्बन्ध रखनेवाला।

ऋतुकालीन आह्वान—इस प्रयोजन से पशु-पक्षियों की पुकार।

ए

'एकं सद् विप्रः बहुधा वदन्ति'—एक ही बात को ज्ञानी लोग अनेक रूप में कहते हैं।

क

कवलित—ग्रसित, खाया गया।

कुण्डल—कान का भूषण।

कचुंकी—अर्दली चोगा पहने या चोगा सम्भालने वाला।

कर्दम—कीचड़।

कांस्यताल—झाँझ।

कंदुक—गेंद।

कंचुक—चोगा, अंगिया।

किंकणी—घुंघरू।

कम्मकार—मेहनत करने वाला, मजदूर।

कापिशायिनी—कपिशा-काबुल देश की मदिरा।

कूश्माण्ड—सीताफल।

कम्मणाभवति बम्भणो—ब्राह्मण कर्म से होता है, जन्म से ही नहीं।

ग

गण—समूह जन।

गणराज्य—समूह द्वारा शासन।

गवाक्ष—झरोखा।

गणपरिषद्—गणराज्य की नियम बनानेवाली सभा।
गणपति—गण का प्रधान।
गण संवाहक—गण सभा का कार्य चलाने वाला, सभा का मंत्री।
गोपुर—चार दीवारी में पहरा देने की मीनार।

च

चारण—सूचना देने वाला, कीर्ति बखान करने वाला।
चंद्रिका—बैना, बुन्दा।
चषक—प्याला।
चतुश्शाल—चार कोने का कमरा, चारों ओर से खुला।
चतुर्मार्ग—चौक।
चतुरंग—शतरंज।

छ

छद्मवेश—छिपने के लिये वेश परिवर्तन करना।

ज

जन—साधारण, जन समुदाय, जनता।
जेठ्ठक—बड़ा, मुखिया।
जम्बूद्वीप—भारत वर्ष का प्राचीन नाम।
जातक—भगवान बुद्ध के अनेक जन्मों की कथायें।

ड

डमरू-मध्य—डमरू के बीच पकड़ने की जगह की गहराई, पतला।

तूलिकालेखन—कलम या सींख से शरीर, दीवार या फरश पर की गई चित्रकारी।
तात्—स्नेह सम्बोधन, छोटों-बड़ों दोनों के लिये।
तन्तुवाय—जुलाहा।
तूणीर—तर्कस।

थेरी—भिक्षुणी साधुनी ।

दीपदण्ड—मशाल ।
दीपदण्डधारी—मशालची
द्राक्षा—अंगूरी शराब ।

ध

धर्मास्थान—न्यायालय, कचहरी ।
धर्मस्थ—जज, न्याय करने वाला ।
धर्मचक्र—बौद्ध धर्म का संगठन ।

नागदन्त—हाथी दाँत ।
निश्क—मोहर, सिक्का ।
निर्वाक—मौन ।
निर्वाण—जन्म के बन्धन से मुक्ति समाप्ति ।
नीवि—धोती या आजारबन्द बाँधने की जगह ।
नीविबन्ध—पेटी, अंकड़ा ।

'नोसदासीत नासदासीत'—यह संसार सदा से है अथवा सदा से नही है ? (यजुर्वेद का नासदीय सूक्त)

प

पादत्राण—जूता ।
प्लावन—बाढ़ ।
पण्य—दूकान, बाजार ।
प्रतियोगिता—होड़ ।
प्रव्रज्या—संन्यास ।
प्लावन—बाढ़ ।
प्रक्षालन पात्र—धोने का पात्र ।
प्रौञ्छन वस्त्र—तौलिया ।
प्राचीर—चारदिवारी ।
पिंगल—पीले रंग की, पीले रंग के केशवाली ।
पीठिका—चौकी, पीढ़ी ।
प्रतिहारी—पहरेदार ।
परलोकाभिमुख—परलोक का ध्यान लगाये ।
पत्तन—घाट ।
पदलाघव—पाँव की चुस्ती, सफ़ाई ।

पान्थशाला–सराय।

प्रतिवादी—अपराध का उत्तर देने वाला, इनकार करने वाला।

पर्यंक–पलंग।

पाटल–गुलाब।

परिग्रह–संचय ग्रहण।

परिताप–पश्चाताप।

परित्राण-दिवासेना—संकट हटाने के लिये पूजा।

प्रमदोद्यान–घर के भीतर स्त्रियों के लिये बगीचा।

बाहुमूल–कंधे और कोहनी के बीच का भाग।

बिम्ब–मूर्ति।

बालिश–मूर्ख, पागल।

बलात–जबरन।

बलाधिकृत–सैनिक पद।

बलि–पूजा का उपहार कर।

भट्टारक–प्रतापी और आदरणीय

भृति—मजदूरी।

मधुपर्व—वसंतऋतु आरम्भ का उत्सव।

मातुल—मामा।

मंजरी—कली, आम का बौर।

मेरय—मामूली शराब ताड़ी की भाँति।

मेखला—करधनी।

महाशाल–बड़ा सेठ।

मेरुदण्ड–रीढ़ की हड्डी।

मद्यप–शराबी।

मघवा–इन्द्र देवता।

मुरज–ढोलक, डफ।

मार्जन–शुद्ध करना, ठीक करना।

य

यजन—याजन,यज्ञ करना-कराना।

यज्ञनिष्ठ–नियम से यज्ञ करनेवाला।

याज्ञिक–यज्ञ करानेवाला।

र

राजपुरुष—राज्य के नौकर, पुलिस।
राजस्व—राज्य कर।
राज्याधिकृत—राज्यद्वारा लेलिया गया, जब्त।
राजुल्ले—छोटे-छोटे राजा, रईस, जागीरदार।

ल

लोमपूर्ण—रोंये से भरा।
लोकायत—साधारण लोगों को प्रिय, इस लोक से सम्बन्ध रखनेवाले चारवाक सिद्धान्त।

व

वलय—चूड़ी-कड़ा।
वाचाल—बहुत बोलने वाला।
वर्तुल—गोल।
वीथी—गली।
विशिष्ट—विशेष।
विशप्ति—सूचना, प्रस्ताव।
वर्म—कवच।
व्यजन—पंखा।
वितान—शामियाना।
विग्रह—युद्ध।
विष्टर—गद्दा, मसनद।
विमर्ष—विचार।
वत्स—प्यारा, छोटों के लिये स्नेह सम्बोधन।

श

शिरस्त्राण—सिर की रक्षा के लिये धातु की टोपी।
शिविका—पालकी।
शिविका-वाहक—पालकी उठाने-वाला।
श्मश्रु—मूँछ या दाढ़ी,दाढ़ी-मूँछ।
शाटक—साड़ी केवल कमर के चारों ओर घिर कर रहने-वाली लूँगी।
शावक—बच्चे, छौने।
श्रमण—बौद्ध साधु।

शकट—गाड़ी।
शल्यक्रिया–शस्त्र से चिकित्सा।
शौल्किक–कर लेने वाला।
शेखर–सेहरा।
शालीहोत्री–घोड़ों का चिकित्सक, सलोत्री।

ष

षाटजी—प्राचीन समय का एक राग।

स

सम्भ्रम–रोब, सम्मान।
स्थूण—खम्भा, पाया।
साधुवाद–प्रशंसा।
स्तूप–खम्भा।
सस्मित–मुस्कान से।
स्थविर–बौद्ध साधु।
स्वर्णखचित—सोने के तार से कढा।
स्मित—मुस्कान।
संचारी–भाव उत्पन्न करनेवाला।
स्तर—तह।
समाह्वय–जुए की बैठक।
संपुट—लाग, मिलावट।
संक्रमण—एक स्थान से निकल दूसरे स्थान में जाना।
'संक्रमणाद संक्रमणाद्वा'–पुनर्जन्म आत्मा एक शरीर से निकल दूसरे शरीर में जाने से होता है अथवा आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में नहीं जाता।

ह

हस्तलाघव–हाथ की सफ़ाई, फुर्ती।
त्रिशरण—बुद्ध, धर्म और संघ की शरण।